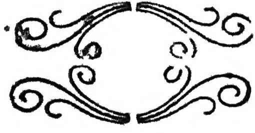
सिरस-साहित्य-माला, संख्या—६

भरत-भक्ति



साहित्यरत्न

पण्डित शिवरत्न शुक्ल, "सिरस"



सम्वत्—१९८९ वि०

प्रकाशक
राघवेन्द्रदत्त शुक्ल,
सिरस-साहित्य-माला,
काशी

प्रथम-संस्करण



मूल्य—३)

मुद्रक
विजयबहादुर सिंह बी० ए०
महाशक्ति-प्रेस,
बुलानाला, बनारस सिटी

समर्पण

प्रभो !

रवि जल मेघहिं देत,
मुदित होवै अंजलि लहि।
सिन्धु—अगाध—अपार,
रूप निज करत बिंदु गहि॥
करौं समरपन कसक,
कछू नहिं अपन लखाऔं।
"भरत-भक्ति" धरि हाथ,
नाथ-पग माथ नवाऔं॥

दास
शिवरत्न

प्राक्कथन

पंडित शिवरत्नजी ने आग्रह किया है कि मैं उनके 'भरत-भक्ति' नामक नूतन काव्य के प्रारंभ में पुस्तक का परिचय करानेवाले कुछ शब्द लिख दूँ। समय के अभाव से मैं अपने को ऐसे कार्य के योग्य नहीं पाता। जब तक मैं कोई पुस्तक पूरी पढ़ न लूँ, तब तक मैं उसके विषय में अपनी संमति नहीं प्रकट करना चाहता और पुस्तकों के पढ़ने का मुझे समय कम मिलता है। इस ग्रंथ को भी मैं केवल कहीं २ देख सका हूँ, तथापि शिवरत्नजी के अनुरोध से विवश होकर मैं इस संबंध में कुछ शब्द पाठकों की भेंट करता हूँ।

भरतजी में, उनकी-धर्म में दृढ़ता और त्याग के कारण मुझे बड़ी भक्ति है और केवल इसी कारण जो लेख या कविता भरतजी की भक्ति के विषय में लिखी जाय, उसको मैं विशेष प्रेम के साथ पढ़ता हूँ। मेरी समझ में पं० शिवरत्न जी अपने पाण्डित्य, भक्ति के भाव और कवित्व-शक्ति के

उपयोग के लिये कदाचित् भरतजी की भक्ति की कथा से उत्तम कोई अन्य विषय नहीं चुन सकते थे।

कवि ने इस प्रबंध काव्य को २२ सर्गों में लिखा है। इसमें भरतजी के ननिहाल से अयोध्या लौटने के समय से लेकर रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक तक की कथा विस्तार के साथ सरस कविता में वर्णन की गई है। बीच २ में जो संवाद दिये गये हैं, उनमें लोक-नीति, राजनीति, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्याख्या तथा हृदय के उदात्त भावों का प्रकाश अच्छे ढंग से किया गया है। उसी प्रकार कवि-परंपरागत शैली से वन, नदी, पर्वत, सरोवर, ग्राम, नगर, ऋतु इत्यादि के अनेक रोचक वर्णन हैं। कवि ने जिस प्रकार संवादों के भीतर राजनीति, लोकनीति आदि का वर्णन किया है, उसी प्रकार अन्त में तत्व-ज्ञान का भी कुछ परिचय कराया है।

काव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, इससे उसकी रोचकता बढ़ गई है। भाषा में व्रजभाषा के साथ अवधी का कुछ मेल है। ग्रंथ में कहीं २ कुछ शब्दों के लिखने में उनके वैसवाड़ी में बोलने के रूप का अनुकरण करने का यत्न किया गया है। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत थोड़ी है। मेरी राय में अच्छा होता यदि ये प्रचलित सर्वजन-संमत-रूप में लिखे गये होते।

यह असंभव के समान है कि इस ग्रंथ की विस्तृत भूमिका में या इतने बड़े काव्य में जो विचार प्रकट किये गये हैं या जो उदाहरण दिये गये हैं, उनके विषय में कुछ मतभेद न हो, तथापि जहाँ तक मैंने इस ग्रंथ को देखा है, उससे मुझे मालूम होता है कि इसमें अधिकतर विषय ऐसा है जो सब कविता के प्रेमी और भक्तजनों को प्रिय होगा।

मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी साहित्य के प्रेमी पं० शिवरत्नजी के इस नूतन काव्य का प्रेम से स्वागत करेंगे।

काशी
ज्येष्ठ शुक्ल दशहरा, १९८९ } **मदनमोहन मालवीय**

प्रेमोपहार

श्रीयुत् ______________________

____

____

प्रबन्ध-सूची

भूमिका

चतुर्थ सर्ग

पंचम सर्ग

द्वादश सर्ग

सप्तदश सर्ग

अष्टादश सर्ग

चित्र-सूची





साहित्यरत्न पण्डित शिवरत्नजी शुक्ल, "सिरस"

भूमिका

आत्म-निवेदन

जब, संवत् १९८५ में, करुणानिधान भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की अकारण कृपा से, गोस्वामी तुलसीदास-कृत रामायण के किष्किंधा-कांड का भाष्य समाप्त हुआ, तब इस दीन ने अयोध्याकांड का भाष्य करने की इच्छा की। किन्तु उस समय प्रभु-प्रेरणा कुछ और ही हुई। अकस्मात् मन में छंद-रचना की उमंग उमड़ उठी, और बात-की-बात में दस-बारह छंद, श्रीराम-रहित अयोध्या के सम्बन्ध में बन गये। तब मेरे अन्तःकरण में कुछ ऐसा ही भासित हुआ कि प्रभु की आज्ञा है कि भरतजी के सम्बन्ध में एक काव्य, अयोध्या-कांड का भाष्य लिखने के पूर्व ही, लिखा जाय। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि यदि वास्तव में श्रीसरकार इस दीन द्वारा श्रीभरतजी का यश-वर्णन कराना चाहते हों, तो नाथ! कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो।

फिर क्या, रचना होने लगी, कभी-कभी बीच में चार-छः महीने का अन्तर भी पड़ जाता था। ऐसा भी अनुभव हुआ है कि किसी विषय के वर्णन में कोई एक विशेष भाव लाने का प्रयत्न घंटों किया गया, तिसपर भी एक पद की भी रचना न हो सकी, और कभी ऐसा भी हुआ है कि हृदय में भावों की इतनी भरमार होती रही और उनके अनुकूल इतने यथेष्ट शब्द मिलते रहे कि लेखनी की लेखन-शक्ति ही में कमी देख पड़ती थी। चाहे यह सब प्राकृतिक ह्रास और विकास का कारण हो और चाहे मेरी मनःशक्ति की दुर्बलता हो; परन्तु मैं तो इसे दैवी कारण ही मानता हूँ, क्योंकि जिन भावों की उत्पत्ति रचना-काल में मुझ में हुई, उनका विचार लेशमात्र भी मेरे ध्यान में उसके पूर्व नहीं आया, और न मैं कभी ऐसे शब्दों में रचना ही कर सका।

कविगण यह भले ही कहें कि हृदयोदधि में चतुर बुद्धि डुबकी लगाने पर रत्न पा सकती है—संभव है कि ऐसी बुद्धि के साथ विलास करने में प्रवीण कवि उसके द्वारा रत्न प्राप्त कर सकें; किन्तु मेरे साथ सो बात नहीं है; क्योंकि मेरा साथ मंद बुद्धि का है, और ऐसा होना उचित भी है;

क्योंकि मेरा हृदय अगाध सागर तो है नहीं, फिर वहाँ रत्न मिल ही कैसे सकते हैं ?

अस्तु, यदि इस ग्रन्थ में प्रभु-भक्तों और साहित्य-मर्मज्ञ मणि-परीक्षकों को साहित्य-रत्न मिलें, तो मैं निश्चय दिलाता हूँ कि वे उन्हें इस तुच्छ हृदय-पल्वल की उपज न समझें। मैं तो अपनी सामर्थ्य को जानता हूँ, फिर क्यों मेरी ऐसी दृढ़ भावना न हो कि करुणासागर श्रीरामजी की प्रेरणा से ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है; क्योंकि—

"नोदन विशेषाभावान्नोर्ध्वंनतिर्यग्गमनत"

—वैशेषिक, अ० ५, आ० २, सू० ८।

"प्रेरणा-विशेष के अभाव से न ऊपर और न तिरछा ही गमन हो सकता है।"

अब प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा भी मान लिया जाय कि किसी वस्तु को संसार में प्रगट करने के लिये प्रभु प्रेरक होते हैं, तो होते होंगे यथेष्ट व्यक्ति में, न कि निषिद्ध अधम में; क्योंकि जल तड़ाग ही में एकत्र होता है, न कि किसी पर्वत की चोटी पर। ऐसा होना प्रकृति के अनुकूल है; किन्तु निवेदन है कि यह कार्य भूमि-गत जल के साथ है कि वह निम्न तल की ओर प्रवृत्त होता है; पर अन्तरिक्ष-

स्थित मेघ नीच-ऊँच का विचार नहीं करते, वरन् सबसे प्रथम पर्वत-शिखर ही पर वारि-वर्षण करते और उनके गह्वर स्थानों को जलपूर्ण करते हैं, जिससे पावसांत में भी उनसे अनेक नदियाँ प्रचुर जल लेकर जलनिधि को जल-दान देती हैं। अतएव, यह कथन कि—अधम व्यक्ति में प्रभु की कृपा की झलक नहीं दीख सकती—समुचित नहीं है। यदि विचार-दृष्टि से देखा जाय, तो हीरा पर्वत के अत्यन्त निम्न भाग ही में पाया जाता है, पर्वत का शिखर तो उपल-मय है। अतः जब पतितों का उत्थान करना होता है, तब प्रभु की कृपादृष्टि पतित जनों ही की ओर होती है। पवन गगनस्थित है सही, पर जब तक वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता, तब तक स्वल्प क्षुप-तृणादि कैसे हिलकर उसका अभिवादन कर सकते हैं ? यदि पवन का संयोग वृक्षों के साथ न हो, तो वे अचल जड़ पदार्थ अपने पत्तों को हिला-कर मर्मर शब्द करने में कैसे समर्थ हों ?

तृणे कर्मवायु संयोगात्।

—वैशेषिक दर्शन।

"वायु के संयोग से तृण में कर्म होता है।"

अतः असमर्थ भी सहायता पाकर, अपने सहायक

की शक्ति को प्राप्त कर, उसके अनुसार कार्य करते देखा जाता है ।

अस्तु, यदि इस ग्रन्थ में कुछ भी उत्तमता देखी जाय, तो उसका सम्बन्ध मुझसे नहीं । हाँ, इसकी भूलों और त्रुटियों का दोषी मैं अवश्य हूँ; क्योंकि काली हाँड़ी में श्वेत निर्मल जल भी कृष्ण रंग का दीख पड़ने लगता है । यदि मुझ मंद-बुद्धि के संयोग से शब्द और अर्थ आकांक्षित भावों को व्यक्त न कर सके हों, तो उसका कारण मेरी ही अल्पज्ञता है । जब सिकता-राशि पर मंदिर की नींव रक्खी जाती है, तब मंदिर हिलकर टेढ़ा हो जाता है । ऐसी दशा में उसमें लगे हुए पत्थर, चूना और ईंटों का दोष नहीं माना जाता, वरन् नीरस बालू का सरक जाना ही भव्य देवालय के टेढ़े होने का कारण होता है ।

अब, यह शंका की जा सकती है कि जब ऐसा हाल था, तब मुझ-जैसे अधम द्वारा इस ग्रन्थ का निर्माण क्यों कराया गया? इसका उत्तर देने की मुझमें क्षमता ही नहीं; दे कैसे सकता हूँ ? हाँ, यह बात तो कही जा सकती है कि वायु सर्वत्र व्याप्त है अवश्य ; पर उसका प्रवेश गवाक्षों में उनके विस्तार ही के अनुसार होता है । इस प्रकार, यदि

शब्दों द्वारा भावार्थ न व्यक्त किये जा सके हों, तो इसका कारण मेरी ही असमर्थता है।

ग्रन्थारम्भ

जो अयोध्या-नगरी राम के वन चले जाने से उजाड़-सी हो गई थी और सब पुरवासी उत्साह-रहित हो गये थे, उसके ऐश्वर्य एवं सुखसमृद्धि का वर्णन विशद रूप से श्री वाल्मीकि जी ने किया है, उसी का उद्धरण तुलनार्थ यहाँ किया जाता है—

"सरयू के तीर पर धन-धान्य से पूर्ण कोशल नामक एक बहुत बड़ा प्रान्त था। उसमें बारह योजन लम्बी लोक-प्रसिद्ध 'अयोध्या' नगरी थी, जिसे मानव-श्रेष्ठ मनु ने स्वयं बसाया था। उसमें लम्बी-चौड़ी सड़कें बनी थीं। उनपर प्रति दिन जल का छिड़काव होता था, और फूल बिखेरे जाते थे। महाराज दशरथ उस महानगरी के राजा थे, जिस प्रकार इन्द्र देवलोक के राजा हैं। महाराज दशरथ राज्य बढ़ाने वाले थे। उस नगरी के भवनों में किवाड़ लगे हुए थे। तोरण से वह सुशोभित थी। भीतर बाजार भी बने थे। सब प्रकार के यन्त्रों और शस्त्रों से वह सुसज्जित थी। शिल्पी भी वहाँ निवास करते थे। सूत और मागध (स्तुति करनेवाले) भी

वहाँ बहुत थे। वह बड़ी रमणीय थी। बड़ी-बड़ी अटारियों पर ध्वजाएँ लगी हुई थीं। सैकड़ों शतघ्नियाँ उसकी चहारदीवारी पर लगी हुई थीं। चारों ओर शाल-वृक्ष की चहारदीवारी थी। वेश्याओं और नाटक करनेवालों का दल भी उसमें जहाँ-तहाँ था। सुन्दर-सुन्दर बगीचे थे। आम का तो वन ही था। राजा का किला बड़ा सुदृढ़ था, जिसके चारों ओर खाई थी। वहाँ तक शत्रुओं का पहुँचना कठिन था। हाथी, घोड़े, गौ, ऊँट, खच्चर आदि कतारों में बँधे थे। महाराज दशरथ के अधीन सामन्त-राज भी वहाँ रहते थे। वहाँ पशु-पक्षियों के खाने की भी व्यवस्था थी। अनेक देशों के व्यापारी वहाँ व्यवसाय करते थे। राजा के महलों में रत्न जड़े थे। वे पर्वत के समान मालूम होते थे। उस नगरी में अनेक गुप्त-गृह भी थे। वह इन्द्र की अमरावती पुरी के समान थी। बड़े ही सुन्दर ढंग से बसी हुई थी। उसके आठ कोने थे। वहाँ सब प्रकार के रत्न और सतमहले मकान थे। बस्ती बड़ी घनी थी। कहीं से अवकाश न था। समतल भूमि में बसी हुई थी। वहाँ खूब धान होता था। ईख का रस भी अधिक होता था। दुन्दुभी, मृदंग, वीणा, पणव आदि बाजे वहाँ सदा बजा करते थे। वह पृथ्वी में

सर्वश्रेष्ठ नगरी थी । जिस प्रकार सिद्धों ने तपस्या द्वारा आकाश में विमान प्राप्त किया है, उसी प्रकार इस नगरी के भी गृह बड़े ही सुन्दर बने थे। उन गृहों में उत्तम पुरुष निवास करते थे, जो दूसरों के बाणों से नहीं बेधे जा सकते थे; क्योंकि वे शब्द-बेधी बाण चला सकते थे। महारथी तो उस नगरी में हज़ारों थे। उसी अयोध्यापुरी में राजा दशरथ राज्य करते थे। वे वेदों के ज्ञाता थे, और सब प्रकार की वस्तुओं के संग्रह करनेवाले थे। वे दूरदर्शी, तेजस्वी, दानशील तथा प्रजाप्रिय थे। वे जितेन्द्रिय और राजर्षि-महर्षियों के समान थे। तीनों लोकों में उनकी प्रसिद्धि थी। वे बली थे। उन्होंने शत्रुओं को परास्त किया था। उनके बड़े अच्छे मित्र थे। उस नगरी में ऐसा कोई न था, जिसका संचय आवश्यकता से कम हो। वहाँ कोई ऐसा गृहस्थ न था, जिसके मनोरथ पूरे न होते हों। सभी के घर गौओं, घोड़ों, धन-धान्य आदि से पूर्ण थे। वहाँ कामी, क्रूर तथा कृपण मनुष्यों का मिलना असम्भव था। वहाँ न तो कोई मूर्ख था, न कोई नास्तिक। ऐसा कोई भी स्त्री-पुरुष न था, जो सुन्दर न हो, जो राजा में भक्ति न रखता हो।"

—वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, पंचम सर्ग।

'भरत-भक्ति' का आरम्भ उस स्थान से हुआ है, जहाँ ननिहाल से आते हुए भरतजी ने अयोध्यापुरी के बाहरी अंचल को उजाड़ और जन-शून्य देखा था। फिर वह ज्यों-ज्यों पुरी में प्रवेश करते गये थे, त्यों-त्यों अधिक परिमाण में उसे श्रीहीन और शोकपूर्ण पाया था। उसकी उसी दयनीय दशा का वर्णन 'प्रथम सर्ग' में किया गया है।

राम-वन-गमन से जड़ पदार्थों का शोकित होना

शंका का स्थल है कि श्रीरामचन्द्र के वियोग से प्रजा बहुत व्याकुल हो गई थी, और, प्रजा तो रही सज्ञान मनुष्य-जाति; पशु-पक्षियों को भी बहुत दुःख हुआ था। यहाँ तक कि जड़ पदार्थों—वृक्षादिकों—की दशा में भी परिवर्त्तन दिखाया गया है। इन सबका सम्बन्ध राम-वन-गमन से क्या हो सकता है ?

समाधानार्थ निवेदन है कि नव-जात बालक का प्राणान्त हो, तो केवल उसकी जननी ही को उसके मरण का दुःख होता है; क्योंकि उससे अन्य कोई परिचित ही नहीं होता, जो उसके वियोग का दुःख अनुभव करे। साधारण मनुष्य की मृत्यु से उसके परिजन और परिचित मनुष्य शोक

करते हैं। यदि किसी राष्ट्र-नेता को दुःख होता है, तो सारा राष्ट्र उसके दुःख में भाग लेता है। यदि कोई विश्व-हितैषी है, तो उसके सुख-दुःख को जगत् का वह सारा भाग—जिससे उसका सम्बन्ध है—अपना सुख-दुःख समझता है। कारण यह कि वह सारे राष्ट्र अथवा विश्व के जीवों के हित के लिये दुःख-सहन करता है; क्योंकि वह समझता है कि उसके लिये सारा विश्व ही अपना परिवार है। किसी उच्च व्यक्ति में अन्य जीवों के लिये जितने परिमाण में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, उतने ही परिमाण में अन्योन्य भाव से उन जीवों की ओर से भी उस उच्च व्यक्ति के प्रति प्रेम-प्रकाशन होता है, और यह अनिवार्य है। जल वृक्षों को सींच कर उन्हें जीवन-दान देता है, और वृक्ष अपनी त्वचा, पत्र, फल, पुष्पादि में जल को तरल रस के रूप में व्याप्त रखते हैं। यदि उनमें रस न रहता, तो वे नीरस होकर सूख जाते हैं। पर्वत, नदियों द्वारा, समुद्र को जल पहुँचाते हैं और पलटे में समुद्र उनपर मेघों द्वारा जल-वर्षण करता है। सारांश यह कि जो जिस रूप में और जिस रीति से दूसरे को चाहता है, दूसरे के अन्दर भी ठीक उसी रूप-रीति में उसके लिये चाह होती है। श्रीरामचन्द्रजी ने

पुरवासियों को अपना आत्मीय मान रक्खा था। वह उनके दुःख से दुःखी होते थे। तब भला उन्हें राम-वियोग-व्यथा क्यों न सताती ? पशु-पक्षियों के लिये भी देखा गया है कि जो उनके साथ स्नेह करता है, जैसे उनके पास जाकर उन्हें पोंछता-पुचकारता और खिलाता-पिलाता है, वे उसकी अनुपस्थिति का अनुभव अश्रु-प्रवाह द्वारा और निराहार रहकर प्रगट करते हैं। रही जड़-पदार्थों की बात, सो उनके लिये कहना यह है कि वृक्ष, लता और पाषाणादि जितने पदार्थ जड़ सृष्टि के हैं, वे शीतोष्णता का अनुभव तत्वों द्वारा ही करते हैं। ग्रीष्म में पहाड़ की शिलाएँ इतनी तप जाती हैं कि उनके ताप से निकटस्थ प्रदेश को भी उष्णता का अनुभव करना पड़ता है। बरसात में वृक्षों के हरे-भरे रहने का प्रमाण प्रत्यक्ष है। वायु के स्पर्श से वे स्पंदित होते हैं। उनमें जल ग्रहण करने की शक्ति है। वे शीतोष्णता का अनुभव करते हैं। किसी-किसी वनस्पति में कोई गुण विशेष रूप से पाया जाता है। जैसे लाजवन्ती के पत्ते केवल स्पर्श ही से तत्काल मुरझा जाते हैं। अतः वे पदार्थ भी, जो 'जड़' नाम से पुकारे जाते हैं, सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, यह सहृदय-संवेद्य विषय है। वेदांत-मतानुसार तो उनमें भी प्रच्छन्न अन्तः-

करण होता है, जिसको 'डाक्टर सर जगदीशचन्द्र बोस' ने साबित भी कर दिया है कि वृक्ष अपनी शाखा इत्यादि के कट जाने का क्लेश प्रच्छन्न रूप से अनुभव करता है। चेतन और जड़ में इतना ही भेद है कि चेतन पदार्थ अपने सुख-दुःख को प्रगट करके दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं, परन्तु जड़ अपने सुख-दुःख का अनुभव अपने-आप ही करते हैं, उनके हृदय की ध्वनि इतनी ऊँची नहीं कि उसे कोई दूसरा सुन सके; पर वे अनुभव करते अवश्य हैं। यदि ऐसी बात न होती, तो निदाघ में सूर्य के ताप से उनके पत्ते क्यों मुरझा जाते और रात्रि की निर्मल चाँदनी में उनके पत्ते क्यों लहलहा उठते? ग्रीष्म के उत्ताप से पत्थर ही क्यों तपने लगते? जब जड़ हैं, तब दूसरे पदार्थों का प्रभाव उनपर चेतन जीवों के समान क्यों पड़ता है? वे चेतन जीवों की भाँति यद्यपि सज्ञान नहीं हैं, तथापि वे ऐसे जड़ भी नहीं हैं कि तत्त्वों की शीतोष्णता का अनुभव न कर सकें। उनके 'जड़' नाम के अनुसार तो उन्हें चाहिये था कि वे शीतोष्णता के प्रभाव को भी जीत लेते। तब तो पत्रादिकों के मुरझाने और लहलहाने से उनके सुख और दुःख की दशा न प्रगट होनी चाहिये थी।

धारा के बीच जल किस उमंग और नोकझोंक से उछलता हुआ बहता है और भँवरों का निर्माण कर नाचने लगता है। उसके सुख को तो वही जाने, पर देखने वालों को भी आनन्द आता है। यदि वही जल किसी ताल-तलैया में पहुँचा, तो उसमें प्रवाह-शक्ति नहीं देखी जाती। वह वहाँ स्थिर दशा को प्राप्त होकर मौन भाव से अपने दुःख को प्रगट करता है।

जब वायु का स्पन्दन अति सूक्ष्म रूप में हो जाता है, तब अन्य जीवों को दुःख होने लगता है। किन्तु शीतल, मंद, सुगंध समीर के चलने से चेतन की कौन कहे, जड़ों की भी दशा बदल जाती है। वृत्तों के डोलने से जो शब्द होता है, उससे मालूम पड़ता है कि पवन-देव वृत्तों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने सुख को प्रगट कर रहे हैं। प्रज्वलित अग्नि नाशकारी रूप में प्रकट होकर अपनी लपटों की ललकार से जड़-चेतन का विनाश कितने गर्व के साथ करती है; और वही अग्नि अल्पांश रूप में चिनगारी बनकर राख के नीचे दबी हुई राख होने की बाट जोहती है

पृथ्वी तो सहज-सुलभा है। जब जो आया, तब तिसने उसपर अपना प्रभाव डाला; और वह उसी प्रकार

प्रभावान्वित भी हो गई। ग्रीष्म ने सूर्य को लगा दिया कि पृथ्वी को तप्त करो। सूर्य कड़े हुए और उनके अनुसार इसने भी अपना उग्र रूप धारण किया। जिस मनुष्य-जाति के लिये इसने अन्नादि उत्पन्न किया—पशुओं के लिये तृण उपजाया—पक्षियों के लिये वृक्षों की डालों में विविध प्रकार के फल लटकाये, उन सब जीवों को भाड़ की तप्त बालू के समान धूलि से तपाने लगी। जब पावस-ऋतु आई पानी बरसाने, तब यह उसके अनुकूल होकर सलिल-पूर्णा बन गई। उसी भाँति शीत के संयोग से इतनी शीतल बनी कि दो-चार पग चलने ही से लोगों के पैर ठिठुरने लगे, जिससे वे अग्नि की शरण जाने को विवश हुए। अतः पृथ्वी भी विभिन्न दशा का अनुभव करने में समर्थ है। सूची-छिद्राकाश से उत्पन्न शब्द के सुनने में मनुष्य के कर्ण समर्थ नहीं हैं; क्योंकि उसकी ध्वनि महा सूक्ष्म है। किन्तु घटाकाश में इतने जोर का शब्द होता है कि उसकी ध्वनि कुछ दूर तक फैल जाती है। महदाकाश के साथ आकाश अपने रूप को प्रगट कर तोपों से निकले हुए शब्द को कई योजनों तक पहुँचाता है। इतना ही नहीं, यदि किंचित् यंत्र का आश्रय ले लिया जाता है, तो क्षण-

भर में बेतार-के-तार (Wireless) द्वारा सहस्रों कोस तक समाचार भेजे जाते हैं। यदि हृदयाकाश निर्मल हुआ और सिद्धि-रूपी मेघों से अच्छादित है, तो सारे जगत् को क्या, ब्रह्म तक को शब्द सुनाने में समर्थ हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस भाव में जड़ पदार्थ लिये जाते हैं, उस रूप में उनकी दशा न माननी चाहिये।

अच्छा, एक बाँसुरी को लीजिये। वह जड़ बाँस की बनी है। एक बजाने वाला आया। वह 'मालकोस राग' गाने में सिद्ध है। उसने उसीके अनुसार उसमें से स्वर-लहरी निकाली। जब उसे दूसरा मनुष्य बजाने लगा, तब उससे 'भैरव राग' के अनुसार स्वर निकला। किन्तु वही बाँसुरी यदि राग-रागिनी से अपिरिचित किसी बालक के हाथ में चली गई, तो किसी राग का स्वर न निकला। ऐसा क्यों ? क्योंकि उस बालक में राग-स्वर निकालने की शक्ति नहीं है। फिर यदि वही बाँसुरी एक बन्दर के हाथ में पड़ गई, तो उससे किसी प्रकार का भी शब्द न निकल पावेगा; क्योंकि बन्दर में उसे बजाने की भी बुद्धि या शक्ति नहीं है। अब यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि स्वयं बाँसुरी तो राग-स्वर निकालने का कारण नहीं; कारण है

वह बजाने वाला, जिसने मनचाहा स्वर निकाला। ठीक है; किन्तु विचार किया जाय, तो बजाने वाले में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह बाँसुरी से निकले हुए स्वर को—बिना बाँसुरी की सहायता के—स्वयं निकाल सके। बाँसुरी न होती, तो उस भाँति का शब्द वह मुँह से कदापि न निकाल सकता। अतः जड़ पदार्थ भी चेतन के लिये उतने ही आवश्यक हैं, जितने चेतन पदार्थ जड़ के लिये, और दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

यदि किसी चेतन पदार्थ में जड़ों को जगाने की कोई सूक्ष्म शक्ति प्रादुर्भूत हुई हो, तो वह उनके साथ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, और वे जड़ भी उसके कार्य का अनुभव कर सकते हैं। इतना ही नहीं, वरन उस अनुभव के अनुसार अपने गुणों को भी परिवर्तित कर सकते हैं। वायु में सदेह उड़ना, जल पर पृथ्वी की भाँति चलना और दो दूरस्थ देशों में एक ही समय एक ही व्यक्ति की उपस्थिति—योगी की ऐसी अनोखी करतूत, योग-सम्बन्धी ग्रन्थों में पाई जाती है। यहाँ शंका यह है कि ऐसी सिद्धि क्या किसी के देखने में आई? थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि ये सब व्यावहारिक कार्य नहीं हैं;

परन्तु एक योगी ने प्रयाग में गत कुम्भ मेले के समय इलाहाबाद-हाईकोर्ट के जजों के सम्मुख इतने अधिक परिमाण में विष खा लिया था कि उतने विष से दो सौ मनुष्यों की मृत्यु हो सकती थी, और फिर उसी योगी ने आज से कुछ दिन पूर्व कलकत्ता में सुप्रतिष्ठित विज्ञान-वेत्ताओं के सम्मुख इतना विष खाया कि उतने विष से सैकड़ों मनुष्यों की मृत्यु सहज ही हो जाती; किन्तु वह योगी विष खाकर शांतिपूर्वक सबके साथ घंटों बातें करता रहा, मानों उसने ठंढा और मीठा शरबत पिया हो। अन्त में उसने प्रगट किया कि ऐसी सामर्थ्य उसे 'हठ-योग' द्वारा प्राप्त हुई है । अर्थात् हठ-योग द्वारा, पंच तत्वों के संयोजन से उत्पन्न पदार्थ रक्त-मांस-मज्जादि की सहज प्रकृति के ऊपर, उसने अपना इतना प्रभाव जमा लिया कि वे अपने प्राकृतिक गति को चला नहीं पाते ।

जिस समय उस योगी ने इतने अधिक परिमाण में विष खाया, चाहिये था कि उसके शरीर से, मांस को गला कर और त्वचा को सर्वत्र फोड़ कर, तत्काल रक्त की पिचकारियाँ निकलतीं और वह बात-की-बात में वहीं मृत्यु-मुख-पतित होता । पर हुआ क्या ? वह भीतर-बाहर ज्यों-

का-त्यों स्वस्थ बना रहा। यदि आप यह कहें कि संभव है, उसने किसी छल से विष को वास्तव में न खाया हो, तो इसके उत्तर में निवेदन है कि आपको हाईकोर्ट के महामति जजों और विज्ञान-निपुण प्रसिद्ध पुरुषों की बुद्धि में उतना ही विश्वास करना चाहिये, जितना आप अपनी बुद्धि और इन्द्रियों पर करते हैं।

तो फिर इसमें रहस्य क्या है ? बस यही कि जो विष के पदार्थ थे, उनको शान्त करने के लिये उस योगी ने अपने रक्त-मांसादि को हठ-योग द्वारा इतना अनुकूल बना लिया था कि खाया हुआ विष उसके पेट में अनायास पच गया। प्रिय पाठकगण! आप ही विचार करें, जब ऐसी अमोघ शक्ति एक साधारण योगी ने प्राप्त कर ली थी, तो फिर प्रभुवर श्री रामचन्द्रजी का क्या कहना! वे तो अखिल-भुवनेश्वर थे; जड़ पदार्थों में अपने लिये प्रेम उत्पन्न करा लेना क्या उनके लिये सम्भव न था ?

यदि ईश्वर की सत्ता न मानी जाय, और श्रीराम-चन्द्रजी को भी ईश्वर का अवतार न माना जाय, तब ?

समाधानार्थ निवेदन है कि यदि ईश्वर और अवतार-वाद को थोड़ी देर के लिये पृथक् ही रक्खा जाय, तो भी

उपर्युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि साधारण योगी को भी कुछ अंशों तक तत्वों के ऊपर विजय मिल सकती है। फिर श्रीरामचन्द्रजी, जिनके गुणों का वर्णन आदिकवि महर्षि वाल्मीकि जी ने बहुत-कुछ किया है, तत्वों के ऊपर विजय पाने में समर्थ क्यों नहीं कहे जा सकते ? देखिये आदिकवि की उक्ति—

"स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः"

"वे प्राणियों में ब्रह्मा के समान गुणवान थे ।"

"कदाचिदुपकारेण कृते नैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥
स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्वरः इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥"

"यदि किसी ने उन (रामचन्द्रजी) का उपकार कर दिया, चाहे वह दिखावटी ही क्यों न हो, तो वे उसी से संतुष्ट हो जाते, और यदि कोई उनका सैकड़ों अपकार करे, तो भी वे उधर ध्यान नहीं देते । अपकारी के प्रति क्रोध करके वे बदला लेने के लिये तैयार नहीं हो जाते; क्योंकि वे आत्मवान् हैं । उनका अपने मन पर पूरा अधिकार है ।"

"ऊपर कहे गये तथा आगे कहे जाने वाले श्रेष्ठ गुणों से वे युक्त हैं, अतएव वे (राजकुमार) प्रजा के बाहरी प्राण हैं। पर भेद यह था कि प्राणों के निकलते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है; किन्तु ये प्राण होकर भी प्राणी से बाहर रहते हैं, यही इनकी विशेषता है। अतएव साधारण प्राणों से उत्कृष्ट हैं।"

उनमें ऐसी योग्यता तो माननी ही पड़ेगी कि जिसके प्रभाव से जड़ और चेतन सब उनके प्रेम में बद्ध थे।

ईश्वर है या नहीं है

"ईश्वर नहीं है"—इसके खंडन के लिये अनेक उपनिषद और षट्शास्त्रों का निर्माण किया गया है और उन सबसे चार्वाकादि नास्तिकों की शंकाओं का समाधान करके ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। यदि कोई कहे कि ईश्वर नहीं है, तो निवेदन है कि यदि 'ईश्वर' नामक पदार्थ उसके हृदय में होता ही नहीं, तो भला वह "नहीं" किस बात की करता; क्योंकि जो पदार्थ विद्यमान होता है, उसीके अभाव में या उसके स्थानान्तरित होने पर "नहीं" की जाती है, कहा जाता है कि अमुक पदार्थ यहाँ नहीं है।

ऐसे कथन से यही सिद्ध होता है कि वह पदार्थ विद्यमान है अवश्य; पर उसके अस्तित्व की स्वीकृति कहीं अन्यत्र मानी जाती है; क्योंकि जिस पदार्थ की स्थिति ही नहीं है, उसके विषय में "नहीं" नहीं की जा सकती। जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसका अभाव कैसा ? जिसकी स्थिति ही नहीं, उसका निषेध कैसा ? अस्तु, यह निश्चित है कि 'नहीं' करने में उस पदार्थ का स्थानान्तर में अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। अतः जो अपने को नास्तिक कहते हैं, वे प्रकारान्तर से ईश्वरवादमें विश्वास करने वाले होते हैं। यदि न होते, तो उनके हृदय में ईश्वर के अभाव का ज्ञान ही कैसे उत्पन्न होता ? उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने कहा कि देवदत्त नहीं है। ऐसे कथन से ज्ञात होता है कि कहने वाले के ज्ञान में देवदत्त का अस्तित्व तो अवश्य है; पर वह देवदत्त की उपस्थिति को किसी विशेष स्थान में नहीं पाता, इसलिये उसने 'नहीं' कहकर देवदत्त के अभाव को सूचित किया है। और, ऐसे कथन से स्वतः सिद्ध होता है कि उसके हृदय में इस बात का विश्वास तो है कि देवदत्त नाम का एक मनुष्य कहीं स्थानान्तर में वर्तमान है; पर प्रस्तुत स्थान में नहीं। उसी भाँति नास्तिक के आस्तिकता-शून्य हृदय में ईश्वर नहीं

है, और उसकी अस्वीकृति केवल उसके हृदय की शून्यता का द्योतक है, अन्यथा अपने हृदय के बाहर तो वह ईश्वर की सत्ता को मान ही रहा है। यदि न मानता, तो "ईश्वर" शब्द ही उसके मुख से कैसे निकलता ? क्योंकि जिस पदार्थ का कोई अस्तित्व ही नहीं, उसका बोध करने वाला शब्द कहाँ से आया ? प्रत्येक शब्द तो सार्थक है। जिस शब्द का अर्थ ही नहीं, उससे सूचित होनेवाले पदार्थ की स्थिति भी नहीं। यहाँ तक कि "शून्य" शब्द भी अपनी शून्यता का बोध कराता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि "ईश्वर नहीं है" कहने वाले ईश्वर की स्थिति को माननेवाले होते हैं।

कैकेयी

प्रबल शंका का स्थल है कि त्रेता-युग का वायुमंडल अधिकांश रूप में सात्विकी और न्यूनांश रूप में राजसी था। फिर ऐसे समय में कैकेयी के हृदय में तामस भाव प्रचंडता-पूर्वक कैसे उदित हुआ ?

ऐसा देखा गया है कि निदाघ-काल में ओलों के बरसने का कारण पाकर शीत का भी अनुभव होता है। अस्तु, यह स्वार्थपरता का कारण था, जिसने कैकेयी में तामसी वृत्ति उत्पन्न की।

अब फिर प्रश्न होता है कि क्या स्वार्थ-परता कैकेयी में विद्यमान थी ? यदि विद्यमान थी, तो उसके पूर्व उसका विकास क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि कैकेयी तो उदार विचार की थी। वह कहती है—

"रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥"

"राम और भरत में मैं भेद नहीं देखती। इसीसे मैं प्रसन्न हूँ कि राजा कल रामचन्द्र का अभिषेक करेंगे।"

तब, उसमें स्वार्थपरता का तामसी भाव कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर में निवेदन है कि यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सत्, रज और तम तीनों गुण अभिन्न हैं। जहाँ एक की स्थिति है, वहाँ शेष दोनों को भी मानना पड़ेगा। जहाँ रात्रि होगी, वहाँ दिन अवश्य होगा। जब एक का विकास होता है, तब दो प्रच्छन्न रूप से उसी के साथ विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो सात्विकी वृत्तिवाले ऋषि-मुनि क्रोध के वश होकर क्यों शाप देते पाये गये हैं ? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सात्विक काल में भी किसी विशेष व्यक्ति में तामसिकता का प्रादुर्भाव देखा जाता है। उसी

प्रकार तामस-काल में भी सात्विक भाव का उदय व्यक्ति-विशेष में पाया जाता है; और इसका प्रादुर्भाव कारण पाकर ही होता है। कारण दो प्रकार के होते हैं। एक स्वगत, दूसरा परगत। 'स्वगत' वह है, जिसमें स्वतः अपने हृदय में ऐसी वासना उदय हो; और 'परगत' वह है, जिसका कारण कोई अन्य व्यक्ति हो। जिसके हृदय में अविद्या का स्वगत कारण नहीं है और उसमें अविद्या का कोई गुण देख पड़े, तो सिद्ध है कि उसका संग किसी दुष्ट के साथ हुआ।

"दुष्ट हिंसायाम्"

—वैशेषिक।

"जो हिंसा में प्रवृत्त है, वही दुष्ट है।"

"तस्य समभिव्याहारतो दोषः।"

—वैशेषिक अ० ६, आ० १, सू० ८।

"उसकी संगति से दोष होता है।"

इससे यह प्रत्यक्ष है कि कैकेयी स्वयं बुरे विचार की थी नहीं थी—वह तो बड़ी उदार और बुद्धिमती तथा उत्तम विचार की कुलाङ्गना थी। उसने तो कहा था कि—

धर्मज्ञो गुण वादान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥१४॥

भ्रातृन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति ।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥१५॥
भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्ष शतात्परम् ।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥१६॥
सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दुह्यमानेव मन्थरे ।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥१७॥
यथा वे भरते मान्यस्तथा भूयोपि राघवः ।
कौसल्या तोऽतिरिक्तं च मम् शुश्रूषते बहु ॥१८॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा ।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः ॥१९॥

—वा० रा०, अष्टमः सर्गः ।

१४—"रामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान, संयत, सत्यप्रिय, और शुद्धचरित्र हैं। वे राजा के बड़े पुत्र हैं, अतएव युवराज होने का उन्हें अधिकार है।"

१५—"दीर्घायु रामचन्द्र अपने भाइयों और भृत्यों का पालन पिता के समान करेंगे। कुब्जे ! रामचन्द्र का अभि-षेक सुनकर तू क्यों दुःख पा रही है।"

१६—"भरत भी रामचन्द्र के सौ वर्षों बाद अवश्य ही पिता-पितामह द्वारा आया हुआ राज्य पावेगा।"

१७—"मन्थरे! यह तो अभ्युदय का समय है। तू जलती क्यों है? भावी कल्याण में तू दुःख क्यों करती है?"

१८—"मुझे जैसा भरत मान्य है, राम उससे भी अधिक मान्य हैं; क्योंकि रामचन्द्र कौसल्या से अधिक मेरी सेवा करते हैं।"

१९—"रामचन्द्र को यदि राज्य मिलता है तो वह भरत को भी मिला ही समझना चाहिये; क्योंकि रामचन्द्र भाइयों को अपने ही समान समझते हैं।"

इससे तो सिद्ध है कि कैकेयी श्रीरामचन्द्रजी के युवराज होने में सहमत और प्रसन्न थी। तब यह मान लेना पड़ेगा कि राम-निर्वासन-सम्बन्धी विचार स्वयं उसका न था, वरन् वह दूसरों द्वारा इस कार्य में प्रवृत्त कराई गई थी।

अब, यहाँ यह बात फिर कही जा सकती है कि यदि उसमें ऐसा कोई दोष न होता, तो मन्थरा की दुःख-प्रद बात को वह क्यों मान लेती?

उत्तर है कि यदि वास्तव में कैकेयी में कोई दोष होता तो मन्थरा के कहते ही वह उसके अनुकूल कार्य करने को उद्यत हो जाती। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। उसने मन्थरा

का विरोध किया, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। किन्तु मनुष्य की बुद्धि अदृष्ट-कारण से तो क्षुब्ध हो ही जाती है। वही दशा कैकेयी की भी हुई।

"मणि गमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम्।"

—वैशेषिक अ० ५, आ० २, सू० १५।

"मणि के चलने तथा सूचियों के सरकने अथवा सम्मुख चलने में अदृष्ट कारण होता है।"

इसमें कैकेयी का क्या दोष है? जिस किसी को शराब पिला दी जाय और वह अर्रबर्र बकने लगे, तो क्या उसकी बातें सोच-समझ कर कही हुई मानी जायँगी? जो मनुष्य पागल हो जाता है वह अपनी बेहोशी की दशा में अनेक अनुचित कर्म कर डालता है। ऐसे कर्मों के करने में क्या वह वास्तव में दोषी माना जा सकता है? न्यायशील उसे कभी दोषी नहीं कह सकते; क्योंकि विशेष रोग-दोष से वह सचेत और सावधान नहीं है। तब भला कैकेयी पर दोषारोपण कैसे किया जा सकता है जब कि उसकी बुद्धि भ्रष्ट करने के लिये कोई अदृष्ट कारण था। यदि ऐसा न होता तो उसके मुख से मन्थरा के प्रति रामचन्द्र के अनुकूल स्वाभाविक सरल शब्द न निकलते। तब,

यह मानना ही पड़ेगा कि अवश्य ही कोई अदृष्ट कारण था, जिसके प्रभाव से उसने रामचन्द्र को वनवास दिया।

विचारवान् फिर यहाँ शंका कर सकते हैं कि यदि कैकेयी स्थिर-प्रज्ञ थी, तो उसमें संग-दोष अथवा अदृष्ट का प्रभाव क्यों पड़ा ?

समाधानार्थ निवेदन है कि कैकेयी की बुद्धि की अपेक्षा अदृष्ट की शक्ति प्रचंड थी। वह शक्ति उसके ऊपर प्रभाव प्रगट करने में अधिक समर्थ हुई। फिर कैकेयी और मन्थरा दो भिन्न व्यक्ति दो भिन्न प्रवृत्तियों के साथ संयुक्त हैं। जब उन दोनों का संघर्ष हुआ, तो प्रबलतर शक्ति दूसरी को दबाने में समर्थ हुई।

जहाँ तक देखा गया है, यही प्रगट होता है कि सात्विकी वृत्ति वाले पुरुष जहाँ मायामय संसार की ओर किंचित् भी झुके अथवा झुकाये गये, तो फिर आगे चलकर दुष्ट जन उनको सहज ही गिरा देने में समर्थ होते हैं; क्योंकि सात्विकी बुद्धि तो स्फटिक-मणि के समान श्वेत और निर्मल है। वह प्रपंच-रूपी विविध रंगों को पार करके श्वेतता को प्राप्त हुई है। और दूसरी ओर है कृष्ण पदार्थ। जो उसमें गिरा, वह भी काला हो जाता है। अतः कैकेयी सीधी-

सादी, सरल-हृदया और सात्विकी बुद्धि की महिला थी। वह कुटिल मन्थरा के छल-कपट को न जान सकी कि इसका क्या परिणाम होगा।

अब पुनः शंका होती है कि यदि कैकेयी की बुद्धि प्रपंच के परे थी, तो मन्थरा की बुद्धि की पहुँच वहाँ कैसे हो सकी ?

उत्तर में निवेदन है कि मन्थरा को भी अदृष्ट ही की सहायता मिली, जिससे वह कैकेयी की बुद्धि भ्रष्ट करने में समर्थ हुई।

"तृणे कर्म वायु संयोगात्"

—वैशेषिक अ० ५, आ० २, सू० १४।

"वायु के संयोग से ही तृण में कर्म होता है।"

देखिये, तृण गति-रहित एक जड़ और अचल वस्तु है; किन्तु वायु के साथ वह हिलता और एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करता हुआ देखा जाता है, मानो उसमें स्वतः गमन-शक्ति आ गई हो।

महर्षि कणाद ने अदृष्ट कारण का अपने वैशेषिक दर्शन में विशद रूपसे वर्णन किया है।

"वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितुम्।"

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां
मनश्चाद्यः कर्मादृष्ट कारितम् ॥ १३ ॥
अपसर्पणमुपसर्पणमशित पीत संयोगः ।
कार्यान्तर संयोगश्चेत्यदृष्ट कारितानि ॥ १७ ॥

—वैशेषिक अ० ५, आ० २।

"वृक्ष में जल का अभिसर्पण अर्थात् जल का सब वृक्षों में जाना ही अदृष्ट कारण होता है।"

"अग्नि की ज्वाला का ऊपर उठना; वायु का तिरछा बहना और अणुओं तथा मन का आद्यकर्म (सृष्टि की आदि में हुआ कर्म) अदृष्ट कारण से ही होता है।"

"देह से मन का निकलना तथा देह में प्रवेश करना, खाये हुए और पिये हुए के साथ संयोग करना और अन्य कार्यों के साथ भी संयोग; ये सब अदृष्ट कारण ही से होते हैं ।"

अतः अदृष्ट के सम्बन्ध में मान लेना पड़ेगा कि वह एक ऐसा दुर्ज्ञेय पदार्थ है कि उसके कार्य को देखकर उसके प्रभाव को केवल स्वीकार ही किया जा सकता है। पर द्रव्य-विशेष के साथ उसके संयोग का कारण अवर्णनीय है, जिसका प्रयोग विद्वानों ने स्थूल रूप से "दैव" शब्द

के साथ किया है; और उसका सम्बन्ध द्रव्य तथा जीव-विशेष के साथ विशेष हेतु के लिये होता है। ऐसा कथन पूर्णतया सत्य है।

यहाँ पर एक उदाहरण दिया जाता है—गंगा अपने दोनों कूलों के बीच होकर बहती है। यदि उसके दोनों ओर कगार न हों, तो उसका जल एकाकी धारा रूप में न बह सके। अस्तु, वह भूमि-भाग उसकी रक्षा करता है और कगार के ऊपर का वह भूमि-भाग, जिससे बरसा हुआ जल बह कर गंगा में आता है, शुष्क ही रहता है। इतना ही नहीं; उसके नदी-गर्भ के निम्न-तल की भूमि से उत्पन्न सोतों द्वारा गंगा को जल की सहायता मिलती है। इतना सब तो ऊपरी भूमि-भाग गंगा के लिये करता है; पर उसके ऊपर धूल उड़ती है। यह कैसी विचित्रता है कि जहाँ से अमित परिमाण में जल बहकर अन्यत्र चला जाय, वहाँ की भूमि के ऊपरी भाग को एक बूँद भी उपभोग करने को न मिले। यदि विशेष उपाय (नहर) द्वारा उस भूमि-भाग को गंगा-जल की प्राप्ति सुलभ हो गई, तो ऐसा होने पर अन्योन्य रूप से ऊपरी भूमि और गंगा एक दूसरे की सहायक बनीं। प्रत्यक्ष में ऐसा होना गंगा के जल की कमी करना है। पर

दूसरी दृष्टि से गंगा से सम्बन्ध रखने वाली भूमि को सुश्यामला औ सजला बनाना गङ्गा ही की शोभा बढ़ाना है, जैसे सुन्दर वस्त्र और आभूषण से सुन्दरी की, और उसके अङ्गों से उन आभूषणों तथा वस्त्रों की शोभा बढ़ती है। अतः गंगा से नहर निकालना, गंगा के अर्थ एक प्रकार का अदृष्ट कारण है।

अस्तु, अदृष्ट कारण से कैकेयी ने कार्य रूप में प्रादुर्भूत हो राम को वनवास और दशरथको स्वर्ग भेजा। अब शंका की जा सकती है कि ऐसे अदृष्ट कारण से कैकेयी का क्या सम्बन्ध था ?

जो भूमि उपलमय है, उसमें जल अपने प्रवाह द्वारा गड्ढा नहीं कर पाता, और जहाँ की पृथ्वी नरम मिट्टी से पूर्ण होती है, वहाँ जल की धारा गड्ढा करने में समर्थ होती है। सुतरां, महाराज दशरथ के तीन रानियाँ थीं और तीनों तीन भिन्न प्रकृति की थीं। कौसल्या का स्वभाव सतोगुण के उत्तर-भाग से निर्मित हुआ था, जिससे उनकी प्रकृति में जगत् से उपरामता, त्याग, सम-दृष्टि, वैराग्य और विवेकशीलता अधिक थी। सुमित्रा की प्रकृति सतोगुण के मध्य-भागसे सम्बन्ध रखती थी, इससे उनमें गंभी-

रता, प्रबल विचार-शक्ति, परोपकार-दृष्टि, अन्य जनों को आश्रय देनेवाली और मान-दात्री बुद्धि थी। कैकेयी की बुद्धि सतोगुण के निम्न-भाग और रजोगुण के उत्तरांश से परिपूर्ण थी। सृष्टि के जितने कार्य हैं, बिना संयोजन-शक्ति के नहीं होते। अस्तु, कौसल्या और सुमित्रा संयोजक बुद्धि के परे थीं। उनसे जगत्कर्त्ता का क्या कार्य निकल सकता था? जिस नदी की जल-राशि समुद्र के निकट पहुँची है, वह अपने उद्गम-स्थान के शिलादि को कैसे धो सकती है? अतः वह कार्य, जिसकी आवश्यकता जगत्-हित के लिये थी, कौसल्या और सुमित्रा द्वारा नहीं कराया जा सकता था। उस कार्य का विकास केवल कैकेयी द्वारा हो सकता था, क्योंकि उनकी प्रकृति संयोजित अवयव-मय थी।

अब, यहाँ यह जानने की उत्कंठा होती है कि जगत्-कर्त्ता ने कैकेयी ही को क्यों व्यक्तिगत रूप से चुना? क्या संसार में अन्य जीव ऐसी संयोजित प्रकृति के नहीं थे?

उत्तर में निवेदन है कि किसी वृत्त (Circle) के बनाने में व्यासार्ध-रेखा (Radius) की आवश्यकता पड़ती है और उसका अवलम्ब केन्द्र (Centre) होता है। उसी भाँति उस समय जगत्-वृत्त का केन्द्र रघुवंश था

और व्यासार्ध-रेखा, जिसके द्वारा जगत-वृत्त और रघुवंश-केन्द्र का सम्बन्ध स्थापित हो सकता था, कैकेयी थी। इस हेतु जगत्-हित के लिये ही कैकेयी की आवश्यकता पड़ी थी। जगत् में अन्य कोई ऐसा व्यासार्ध-रेखा-रूपी व्यक्ति न था, जो जगत्-रूपी वृत्त के उस भाग से सीधे सम्बन्ध रखता हो, जिसमें रावणादि स्थित थे। अतः जगत्कर्त्ता के लिये कैकेयी ही एकमात्र साधन थी। इसीलिये दैव ने कैकेयी ही से ऐसे कार्य कराये।

यहाँ फिर पूछा जा सकता है कि क्या कैकेयी की प्रकृति में ऐसे दुर्गुण विद्यमान थे, जिनसे उसने पति को स्वर्ग और राम ऐसे पुत्र को वन भेजा ?

उत्तर है कि यदि ऐसे दुर्गुण उसमें होते, तो घटना के पूर्व भी वह पति का विरोध करती और रामचन्द्र से द्वेष रखती। किन्तु ऐसा नहीं पाया जाता; क्योंकि उपर्युक्त कथनानुसार राम के साथ तो उसका सहज स्नेह था, और पति के साथ भी सहज प्रेम था। यदि ऐसा न होता, तो दशरथजी कैसे ऐसा कहते ?

"अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते कंचिदाभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥"

—वा० रा०, सर्ग १०, श्लोक ३४।

"मैं और मेरा जो कुछ है, वह सब तुम्हारे अधीन है। मैं तुम्हारी इच्छा को अपूर्ण नहीं करना चाहता।"

"नहिं किंचिद्युक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्धामि ते॥"

—बा० रा०, सर्ग १२, श्लोक २०।

"हे विशालाक्षि! आज तक तुमने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है, मेरी कोई भी बुराई नहीं की है। अतएव, तुम्हारी इन बातों पर विश्वास नहीं होता। राम के लिये वनवास! मैं तुम्हारी इस बात को सत्य नहीं समझता।"

"बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्ष्ये विपरीतवत्।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवं विधं वरम्॥

—बा० रा०, सर्ग १२, श्लोक ५८।

"बाल्यावस्था में तो तुम बड़ी शीलवती थी, पर इस समय वह सब उलटा देख रहा हूँ। तुम्हें किस बात से आशङ्का हुई है कि ऐसा वर माँग रही हो।"

अतः कैकेयी में प्राकृतिक रूप से दुर्गुण थे—ऐसा किसी प्रकार साबित नहीं होता। वह महा-शीलवती, कुलांगना और सरल-हृदया थी। यदि ऐसी न होती, तो भला

कैसे कहती कि मैं राम और भरत में भेद नहीं देखती। यदि स्फटिक-मणि के निकट गुड़हर का लाल पुष्प रक्खा जाय और वह श्वेत-मणि अरुण दीख पड़ने लगे, तो ऐसी दशा उत्पन्न होने में उस मणि का क्या दोष है? फल और फूल रखने वाले के साथ उसका कोई समवाय सम्बन्ध नहीं है; पर उसमें फूल की अरुणिमा देख पड़ती है। यदि कैकेयी सरल-हृदया न होती, तो भला मन्थरा के वचन उसके हृदय में कोई प्रभाव डाल सकते? सत्य है, गति-रहित निर्मल, शुद्ध और स्वच्छ जल उत्तम होता है; किन्तु उसकी निर्मलता के कारण उसके गर्भ में निवास करने वाली मछलियों को ढूँढ़ निकालने में मछुओं को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। तुषार का प्रकोप अधिकतर खेत में खड़ी 'अरहर' पर ही पड़ता है, तो इसमें उसका क्या दोष है? उसकी पत्तियों को कोमल देखकर ही हिम उस-पर प्रहार करता है। अतः यदि कैकेयी के सरल स्वभाव का लाभ दैव ने उठाया, तो इसमें कैकेयी कैसे अपराधिनी मानी जा सकती है? महाराज दशरथ ने उसके स्वभाव की प्रशंसा की और उसने स्वतः अपने शुद्ध भावों को राम-चन्द्र के विषय में प्रगट किया। इससे साबित होता है कि

वह वास्तव में उत्तम विचार की स्त्री थी; क्योंकि वह परम धार्मिक केकय-राज की कन्या थी। यथा—

"केकयराजानं वृद्धं परम धार्मिकम्।"

मुनि भरद्वाजजी श्रीरामचन्द्रजी में बहुत अनुरक्त थे। उनपर बड़ा स्नेह करते थे। जब भरत उनके पास गये, तब वह सशंक होकर व्यंग-रूप में बोले—"भरतजी! अब तो तुम राजा हो, राज्य-शासन करते हो। जंगल में सेना-समूह लेकर आने का क्या कारण है? मेरे मन में सन्देह हो रहा है।"

कहने का मतलब यह कि भरद्वाजजी रामचन्द्रजी के पक्ष के थे; किन्तु जब भरतजी ने अपनी माता कैकेयी के ऊपर राम-वनवास का दोषारोपण किया, तब तत्काल भरद्वाजजी ने उन्हें रोक दिया और कहा कि इसके लिये कैकेयी अपराधिनी नहीं है। वह त्रिकालदर्शी थे। वह सब जानते थे कि जगत्-हित का सब कार्य दैव ने कैकेयी द्वारा कराया है। यथा—

"न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति॥"

—वा० रा०, सर्ग ९२, श्लोक ३०।

"भरत! तुम कैकेयी को दोष मत दो। यह रामचन्द्र के वन जाने का अन्त बड़ा ही सुखकारी होगा।"

यदि कैकेयी का संस्कार शुद्ध न होता, तो वह रामचन्द्रजी से विरोध करके पुनः उनसे मिल ही न सकती; क्योंकि यदि राम में उसकी स्वाभाविक प्रीति न होती, तो वह राम को मनाने के लिये सबके साथ अयोध्या से चित्रकूट क्यों जाती? भरत अन्य सबको लेकर श्रीरामजी के पास जाते; पर उसे कोई बलात् नहीं ले जा सकता था। वह गई तो अपनी इच्छा से। इस प्रकार यदि स्वेच्छा से उसका जाना मान लिया जाय, तो फिर उसमें राम के प्रति विरोध न मानना पड़ेगा। यदि उसमें राम के लिये प्रेम न होता, तो वह जाती क्यों?

"संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्।"

—वैशेषिक अ० ५, आ० २, सू० १८।

"संस्कार के अभाव में गुरुत्व से पतन होता है।"

यदि कैकेयी में राम-प्रेम का संस्कार न होता, तो वह फिर राम को पुत्र-दृष्टि से क्यों देखती? अतः यह सिद्ध है कि उसमें राम-प्रेम भरपूर था। यदि किसी मनुष्य की जिह्वा रोग-वश शब्दोच्चारण न कर सके, तो क्या वह जन्म का मूक कहा जा सकता है? जैसे रोग दूर होने पर उसमें वाग्व्यापार होने लगता है, उसी भाँति जब दैव ने अपनी

माया को कैकेयी के ऊपर से हटा लिया, तब वह फिर ज्यों-की-त्यों हो गई और अपने होश-हवास में आने पर महा-शोक को प्राप्त हुई; क्योंकि जब कौसल्याजी उसे अपने साथ चित्रकूट ले जाने के लिये उसके पास कहने गईं, तब उसने उनसे कहा था कि—

जारि डार्‌यो सुमन-बन कौं, भीलनी धरि आगि।
फलित सस्यहु नष्ट कीन्हो, उपल-हिम बहु दागि॥
बाढ़ जल पशु अन्न जन जनु, दुखित सब विधि कीन्ह।
मृत्यु-कर मैं पतिहिं सौंप्यों, पुत्र कौं बन दीन्ह॥

❀ ❀ ❀ ❀

कौनि ऐसी नारि जग जो, रहै जियत सलज्ज।
हृदय पवि सों कठिन भारी, अहौं मैं निर्लज्ज॥
आउ नहिं सखि भूलि मम ढिग, मरन देवै मोहिं।
हौं पापिनी पति पुत्र लगि कस, मुख दिखाओं तोहिं॥

❀ ❀ ❀ ❀

प्राणपति के प्राण लीन्हों, कीन्ह विधवा तोहिं।
पुत्रहू को बन पठायों, स्वार्थ घेर्‌यो मोहिं॥
दीन दुख निज पुत्र पति कौं, दौरि लेहौं ताहि।
योनि बहु जरिहौं युगन युग, फिरि न पाप सिराहि॥

—भरत-भक्ति, सर्ग ४।

यदि कैकेयी क्रूर-हृदया होती, तो ऐसा पश्चात्ताप न करके अपने सिद्धान्त पर ही अटल रहती। परन्तु कहा जा सकता है कि भरतजी को अपने-आपसे सहमत न देख-कर उसने अपने भावों को बदल दिया। यदि वास्तव में ऐसी ही बात होती, तो यह जानते हुए कि भरत राम को राज्य देने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं, वह चित्रकूट कदापि न जाती; क्योंकि यह कार्य उसके निश्चित मत के विरुद्ध था। पर यथार्थता यह थी कि जब अदृष्ट का आवरण उसकी बुद्धि के ऊपर से दूर हुआ, तब वह महा-शोकाकुल हो प्राण-त्याग करने तक को तत्पर हो गई। उस समय कौसल्याजी ने उसे ऐसा (आत्महनन) करने से रोका। तब, वशिष्ठजी से उसने निवेदन किया कि मैं तभी जीवित रह सकती हूँ जब रामचन्द्र राज्य-शासन का भार अपने हाथ में ले लें। यह सुनकर वशिष्ठजी ने कहा कि अच्छा, तो अब इसी कार्य के निमित्त चित्रकूट चलना चाहिये। ऐसा निश्चय हो चुकने पर वह राम को राज्य देने के लिये ही चित्रकूट गई थी। उसने वशिष्ठजी से कहा था कि—

"लोक सुयश परलोक पुन्य बहु, तव पुनीत पद सेवा।
तरनी भरि जल अंतर आवत, पार करहु प्रभु खेवा॥

राज्य-भोग नहिं करहिं भरत बरु, देहिं राम कह जाइ।
लेइँ लौटि रघुनाथ हाथ निज, शासन-डोरि सुहाई॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग ४।

इसके उत्तर में वशिष्ठजी ने कैकेयीको समझाया था कि—

"सुनि वर बचन कहत कुलगुरु हँसि, चलहु विपिन यहि काजा।
अवध-शशिहिं दुख-राहु ग्रस्यो तब, अब उग्रह सुख साजा॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग ४।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वह बात कैकेयी के हृदय की उपज न थी, जिसके कारण श्रीरामचन्द्र को वन जाना पड़ा।

जब चित्रकूट में श्रीरामजी कैकेयी के साथ एकांत में उसके संतोषार्थ बातें करने लगे, तब उसने रामचन्द्रजी से दुःख के साथ कहा कि—"हे राम! तुम मेरी निरपराधता दिखाने के लिये दैव के ऊपर सब उत्तरदायित्व फेंकते हो; किन्तु दैव कर ही क्या सकता है? वह तो कर्म-लकुटी के सहारे चलता है। जिसका जैसा कर्म है, उसको वह वैसा ही फल देने में बाध्य है। ऐसी दशा में तो दैव भी कर्मा-नुसार फल देने के लिये बद्ध है। फिर जो बद्ध है, वह दूसरे को मुक्त कैसे कर सकता है?" कैकेयी कहती है कि "यह

जगत् की चाल है कि जिसे वह प्रत्यक्ष रूप में देखता है उसी को यश अथवा अपयश का पात्र बनाता है; किन्तु यह नहीं देखता कि इन सब का वास्तव में कारण क्या है? देखो, पताका अन्तरिक्ष में फहराती है। उसी का नाम सबकी जिह्वा से निकलता है; किन्तु लोग यह विचार नहीं करते कि इतनी ऊँचाई पर इस दो हाथ के कपड़े को किसने पहुँचाया है। उस दंड-रूप बाँस का, जिसके आधार पर पताका फहरा रही है, नाम तक नहीं लिया जाता। वास्तव में इतनी ऊँचाई पर कपड़े को ले जाने वाला बाँस ही है। पर बाँस का नाम कौन लेता है? वृक्ष की मूल ही वृक्ष के फूलने-फलने का कारण है; किन्तु उसकी कौन बड़ाई करता है? फूल, फल, पत्ते की प्रशंसा कवि लोग भी करते हैं; पर मूल का नाम भूल से भी नहीं लेते। इसका कारण यह है कि संसार उसी की सराहना और बुराई करता है जिसको वह अपने सम्मुख देखता है। भला मैं कब तुम्हारे प्रतिकूल थी? मेरी ओट में दैव के दैव तुमने अपने उद्देश्य की पूर्ति की, और कलंक मढ़ा मेरे सिर। ऐसा न होना चाहिए था।"

इतना ही नहीं, उसने और भी कहा—

"बुरो ठौर यह बुरो, भलो परिछाहीं नहिं पर।
नहिं तो जाय नसाय, मद्य-घट जस गँग-जल धर॥
हीरा धरि सँग काँच, साँच दामहु होवै कम।
जहाँ राम तुम सूर्य, तहाँ मैं बनति अधम तम॥

भरत भले, तुम भले, सबै जन भल बनि बैठे।
मैंहिं अभागिनि अहौं, करम त्यहिं के भल ऐंठे॥
चह्यो त्याग मरजाद, भ्रात द्वउ यक दूसर लगि।
जस की तस रखि मोहिं, काह लीन्हों तुम ना ठगि?"

—भरत-भक्ति, सर्ग १२।

अन्त में श्रीरामचन्द्रजी को मान ही लेना पड़ा कि "हे माता! आपने दूसरों के हित के लिये ही ऐसा दुःख और कलंक सहा।"

"निज स्वारथ बलि कीन्ह मातु तैं, अन्य हेतु दुख पायो।"

"तैं माता सुत-प्रेम करति अति, मम हित सहि दुख नाना।
थापि अचल यश जगत सुमेरो, लीन्ह कलंक महाना॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग १२

जब यह बात यथार्थ है कि निर्वासन की घटना कैकेयी के मस्तिष्क की उपज न थी, तब उसे कलंक लग कैसे

सकता है—और लगा कौन सकता है ? सभी ने कैकेयी को निरपराध माना है । यहाँ तक कि श्रीरामचन्द्रजी को कहना पड़ा है कि "हे माता ! जो तुम्हारी कथा पढ़कर दुःखित होगा, उसकी सब चिंताएँ नष्ट हो जायँगी ।"

"चरित तोर गइहैं जो जन जग, करि विचार मन लाई ।
छोंड़त अश्रु छूटिहैं अघ सब, करुना कथा सुनाई ॥
पितु को मरन, गमन बन मेरो, तोरि विकलता भारी ।
सुनि गुनि समुझि द्रवै हिय जाको, नासै चिंता सारी ॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग १२ ।

दूसरी बात यह कि रामचन्द्रजी के लिये कैकेयी के हृदय की सहज प्रीति कैसी अटल थी कि उसने इस कलंक को भी मंगल-मूल माना है । फिर इससे बढ़कर कौन प्रामाणिक बात मिल सकती है कि श्रीरामचन्द्र के लिये उसके हृदय में पूर्ण प्रेम न था ।

"बड़ अभिमान लाल यह मोरे, तू सुत हौ मैं माता ।
यद्यपि दोष मढ़्यो मम शिर सब, छुटिहि न तबहूँ नाता ॥
ऐंठनि परी उबटि रजु बिच बहु, जरे न वह त्यहि छोड़ैं ।
मंगल मूल कलंक राम सग, भव दुख दुरि मुख मोड़ैं ॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग १२ ।

विचार करने का स्थल है कि जो उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, उत्तम स्वभाव वाले श्रीदशरथजी से ब्याही गई और अपने शुद्ध स्वभाव के लिये सबसे प्रशंसित हुई, उसके हृदय में भला सर्वथा विपरीत भाव कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? वृक्ष के पत्तों में धूलि लगी दीख पड़ती है, तो क्या वह उनका प्राकृतिक दोष कहा जा सकता है ?

जब हिमालय के तट-भाग में सर्दी का प्रभाव रहता है, तब उसके अन्तर्भाग में कैसे शीतलता न होगी ? जब बँधे स्थान के जल में (तड़ागादि में) वायु का कारण पाकर लहरें पैदा होती हैं, तब प्रबल धारा के बीच में जल के बहाव का वेग क्यों न देख पड़ेगा ? अतः यह सिद्ध है कि नीच प्रकृति के मनुष्य सत्संग पाकर साधु-स्वभाव हो जाते हैं। तब वह कैकेयी, जिसके संस्कार जन्म ही से उत्तम थे और जो ब्रह्मर्षि वशिष्ठ द्वारा उपदेश प्राप्त किया करती थी, कैसे ऐसी नीच बन सकती थी कि उसमें ऐसी स्वार्थ-बुद्धि उदय होती ? जहाँ सूर्य वर्तमान हो, वहाँ अंधकार कैसे रह सकता है ? श्रीरामचन्द्र की माता कहाने वाली कैकेयी कैसे ऐसी अधम बन सकती है ?

रथ को देशांतरित करने का कारण पहिया होता है।

उसके अन्य भागों की अपेक्षा पहियों को अधिकतर काम करना पड़ता है और ऐसा करने में वे घिस भी जाते हैं; किन्तु रथ को अभीष्ट स्थान में पहुँचाने के कारण वे ही हैं। उसी भाँति उस समय जगत् की बुराई को दूर करने के लिये दैव द्वारा कैकेयी ही साधन चुनी गई थी; फिर इसमें उसका क्या दोष ? बलवान निर्बल पर चाहे जो अत्याचार करे, उस बेचारे का क्या वश ?

विचार करने का स्थल है कि जिसके उदर से भरत जी ऐसे विचारशील भक्त उत्पन्न हों और जिनकी प्रीति रामचन्द्रजी के लिये अनन्य हो, वह कैकेयी कैसे 'अधमा' और 'अनार्या' के नाम से पुकारने योग्य है ?

भरत

रामचन्द्रजी के साथ भरतजी का सहज स्नेह था। यदि व्यतिरेक रूप से केवल भरत के लिये ऐसा कहा जाय, तो लक्ष्मण और शत्रुघ्न की प्रीति में दोष आ जायगा। किन्तु नहीं, भरतजी लक्ष्मण और शत्रुघ्न से बड़े थे। भरत और रामचन्द्र के बीच सूक्ष्म रूप से कनिष्ठ एवं ज्येष्ठ का भाव था। वे दोनों भाई परस्पर सखा-समान थे। किन्तु लक्ष्मण और शत्रुघ्न को रामचन्द्रजी वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से

देखते थे। उसी भाँति दोनों छोटे भाई दास्य भाव के साथ श्रीरामचन्द्रजी की सेवा करते थे। तब फिर ऐसा विभेद क्यों था, जब इन लोगों की आयु में भेद केवल एकाध दिन अथवा कुछ घंटों ही का था? जब वय की श्रेष्ठता का भाव हृदय में उत्पन्न हो जाता है तब बुद्धि उसको ग्रहण करके उसी के अनुसार विचार करने में प्रवृत्त होती है। उसमें दिन, मास अथवा वर्ष की छोटाई-बड़ाई के विभेद से अंतर नहीं आता, अर्थात् भरत और रामचन्द्रजी के उत्पत्ति-काल में कुछ घंटों का ही अन्तर था। रामचंद्र पहले और भरत पीछे उत्पन्न हुए थे। ऐसी दशा में भरत के हृदय में ज्येष्ठता का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। उनमें छोटेपन का ही भाव भरा रहेगा। समय का न्यूनाधिक्य यथार्थता को क्षीण नहीं कर सकता।

अब शंका होती है कि यदि भेद न होता, तो भरत में सखा और लक्ष्मण और शत्रुघ्न में दास्य भाव क्योंकर उत्पन्न होता?

निवेदन है कि इसमें पूर्व-पक्ष के साथ विरोध नहीं है; क्योंकि भाव में भिन्नता नहीं आती, अर्थात् तीनों भाइयों के कनिष्ठ भाव के स्थान में ज्येष्ठत्व तो अधिकार नहीं कर

पाता; फिर भेद कैसे माना जा सकता है ? यदि कहा जाय कि दास्य और सख्य भावों के विभेद में उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, तो निवेदन है कि वे दोनों तो कनिष्ठता की अवस्थाएँ हैं। उनसे कुछ भी भेद नहीं पड़ता। यदि भेद पड़ता, तो भिन्न अवस्थाओं की उपज कैसे होती ? एक नीम वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। एक छोटी और दूसरी बड़ी है, किन्तु उन दोनों में निम्ब-गुण ही रहता है। दोनों में नीम ही के बीज उत्पन्न होते हैं। किसी में भी निम्ब-फल के अतिरिक्त अन्य फल नहीं लग सकते। शाखाओं की छोटाई-बड़ाई का कारण उनके अन्तर्गत रस-प्रवाह का न्यूनाधिक्य है। अस्तु, भरत में सख्य और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न में दास्य-भाव की उत्पत्ति कनिष्ठता की द्योतक है। यदि सख्य भाव का सम्बन्ध कनिष्ठता से है तो उसका सम्बन्ध ज्येष्ठता से न होना चाहिये, अर्थात् रामचन्द्र में भरत के प्रति सख्य-भाव कैसे हो सकता है ? यदि होता, तो वह उनमें भी अपने साथ कनिष्ठता लावेगा। निवेदन है कि यदि किसी नदी के एक तट के कगार चट्टान मय हैं और उसके दूसरी ओर मृदुल बालुका मय क़छार है, तो जिस ओर चट्टान है उधर तो नदी अपनी जल धारा से

प्रतिक्षण चट्टानों के पग धोती हुई पाई जाती है और दूसरी ओर कुछ बालू-कणों को छोड़ती और कुछ वहाँ से लेती जाती है। इतना ही नहीं, वरन् वर्षा में उस स्थान को जल-मग्न कर उसमें उत्पन्न हुए तृणादिकों को बहा ले जाती है। अस्तु, वे केवल नदी ही के उभय तट हैं; पर उनकी स्थिति में अन्तर है। इसी भाँति राम और भरत के बीच सख्य-भाव ही की स्थिति है। जैसे नदी उन उभय भिन्न स्थानों के अनुसार उनके साथ व्यवहार करती है, उसी भाँति सख्य-भाव भी दो व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठत्व और लघुत्व का भाव रखता है।

सख्य और दास्य भाव के बीच क्या भेद है? जैसे, उद्गम-स्थान पर्वत झरना द्वारा अपना जल ऊपर से नीचे गिराता है और ऐसा वहाँ कभी नहीं होता कि नीचे से ऊपर जल जाता हो; उसी भाँति दास्य भाव में स्वामी के आज्ञा-पालन की प्रवृत्ति होती है, और सख्य भाव दो नदियों के संगम के समान है, जहाँ पर दोनों एक दूसरे के साथ मिलती हैं। जो प्रबलतर है वह कुछ दूर तक दूसरी नदी में जाकर उसे भी अपने साथ लौटा लाती है और फिर उसे अपने साथ लेकर दोनों एक ही रूप हो, आगे को बढ़ती हैं।

यह तो सभी को स्वीकार होगा कि भरत और राम के बीच सर्वदा अत्यन्त प्रेम था और किसी-किसी भक्त कवि ने उसे बुद्धि के परे भी वर्णन कर डाला है; किन्तु उसकी तुलना लक्ष्मण और शत्रुघ्न के प्रेम के साथ, जो राम के प्रति उनमें था, करना उचित नहीं। शरीर में नेत्र, कर्ण, मुख और नाक हैं; और प्रत्येक अपने गुणों से पूर्ण तथा शरीर के लिये उपादेय हैं। परस्पर तुलना करके एक दूसरे की छोटाई-बड़ाई नहीं कही जा सकती। सब अपने-अपने कार्य में कुशल हैं। एक का काम दूसरा नहीं कर सकता।

भरतजी के हृदय में रामचन्द्रजी के लिये प्रेम था। उनके हितार्थ वह सर्वस्व की वलि करने को उद्यत थे; क्योंकि उनका सर्वस्व राम के प्रेम के लिये समर्पित था। जहाँ प्रेम किसी अन्य वस्तु का लक्ष्य लेकर होता है वहाँ उसकी प्राप्ति के पश्चात् प्रेम का स्रोत बंद हो जाता है। जब पथिक को नदी पार करना है, तब उसे नाव की आवश्यकता है। जहाँ वह नदी पार हुआ कि फिर वह नाव की ओर देखता तक नहीं। ठीक यही हाल अन्य पदार्थों के साथ प्रेम करने से है। नदी समुद्र के साथ प्रेम करती है। वह अपनी प्रेम-भेंट रूपी जल को ले जाने में आतुर है। वह अपने रक्षित

तटों की रक्षा करने की चिन्ता नहीं करती, वरन् उन्हें भी बहा ले जाती है। वह अपनी निर्मलता की भी चिन्ता नहीं करती। उसमें मिट्टी, तृणादि बह कर आते हैं और उनसे उसका जल मटियाला हो जाता है; पर उसे तो चिन्ता है; समुद्र के पास पहुँचने की, न कि निर्मलता और कूल-रक्षा की।

इसी भाँति भरत में रामचन्द्र के लिए इतना प्रेम था कि उन्होंने राज्य की ओर दृष्टिपात न करके गुरु और माता की आज्ञा भी नहीं मानी। यदि माता और गुरू की आज्ञा नहीं मानी, तो क्या उन्होंने अपराध नहीं किया? और, पिता ने जो उन्हें राज्य दिया था उसे स्वीकार क्यों नहीं कर लिया? क्या पिता के बचनों को भंग करने से वह अपराधी नहीं कहे जा सकते? नहीं, कभी नहीं। यदि नहर के अधिकारी ने एक ऐसे अधपके खेत में पानी जाना रोक दिया, जिसके न जाने से उस खेत के स्वामी को हानि हो सकती थी; और उसके स्थान में एक ऐसे खेत में, जिसमें अभी पानी की आवश्यकता बिल्कुल नहीं थी, पानी जाने देता है, तो ऐसी दशा में वह किसान, जिसको जल की आवश्यकता नहीं है, अपने खेत को न सींचे, तो वह अपने को हानि से बचाता है।

इसी प्रकार वशिष्ठ जी के आग्रह करने पर भी भरत-जी ने राज्य-भार नहीं लिया, तो इसमें उन्होंने कोई दोष का काम तो नहीं किया, वरन् अपने को दोष से बचाया ही। शंका हो सकती है कि वह दोष से कहाँ बच सके, क्योंकि अन्त में तो उन्हें राज करना ही पड़ा ? किन्तु यथार्थता तो ऐसी नहीं है; क्योंकि भरतजी के हृदय में कभी स्वप्न में भी यह भाव नहीं आया कि मैं राजा हूँ। इसी भाव की रक्षा करने के लिये, महाराज रामचन्द्रजी से उनकी खड़ाऊँ माँग कर उन्हीं को सिंहासनासीन किया और अपने को मंत्री के स्थान में रख कर राज्यकार्य को सँभाला।

जब किसी वस्तु के साथ प्रेम होता है तो उसके लिये मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वार्थ की बलि करता है। स्त्री पति-प्रेम के लिये प्राण तक भी दे देती है। पतंग प्रकाश के लिये जल कर जीवन-दान कर देता है। कामी-पुरुष लोक-लज्जा की बलि कर देते हैं। अधिक धन के लिये लोभी मनुष्य अपने रक्षित धन को भी जोखिम में डालने को तत्पर हो जाते हैं। अतः भरतजी को राज्य तो मिला था, जो सब सुखों का साधन माना जाता है; किन्तु उससे उन्होंने लेश मात्र भी सुख न किया; क्योंकि भरत

के लिये श्री रामचन्द्रजी उस सुख के भी सुख थे और वह हो चुके थे वनवासी। फिर उन्हें सुख कैसे मिलता ? क्योंकि उनके चित्त में राम-वियोग की असह्य ज्वालयें प्रज्व-लित हो रही थीं। उन्हें सुख के स्थान में दुख ही होता; क्योंकि वह राज्य-कार्य को भली भाँति देख न पाते, और ऐसा होने से उसमें बुराई पैदा हो जाती। परिणाम यह होता कि प्रजा को कष्ट मिलने लगता, जिससे उनका दुःख अवश्यही द्विगुणित हो जाता।

जिस मनुष्य में पूर्ण शांति है, उसमें धैर्य और सहन-शक्ति की मात्रा अधिक पाई जाती है। उसकी विचार-शक्ति क्रोध द्वारा क्षुब्ध नहीं की जा सकती, और यदि उसके ऊपर क्रोध का प्रभाव जम सके तो मान लेना पड़ेगा कि उसमें पूर्ण शांति नहीं है। कुछ राम-भक्त कवियों ने भरत के मुख से कैकेयी के प्रति परुष वचनों को कहलाया है। एक दो बार नहीं, अनेक बार; और भरी सभा में। विचार करने का स्थल है कि उन्होंने राम-प्रेम-पीड़ा के वश हो यदि ऐसा कहा भी तो क्या दूसरी ओर उनमें मातृ-भर्त्सन दोष नहीं लग जाता, जिससे उनकी शान्ति भंग हुई जाती है। जब उनके हृदय की शांति ही भंग हो गई, तब उस

समय उनके हृदय में राम-प्रेम कैसे रह सकेगा ? प्रभाव रहेगा क्रोध का, जिसके वश हो उन्होंने माता को दुर्वचन कहे, न कि शान्ति का। यदि ऐसा है, तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि भरत में क्रोध का आवेश था। फिर जिसकी स्थिति जहाँ होती है उसका वहाँ विकास भी मानना ही पड़ेगा। तब यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि भरत-जी में क्रोध का विकास होता था। यदि होता था तो उस समय राम-प्रेम कदापि नहीं रह सकता। जब राम-प्रेम न रहा, तब उनके राम-प्रेम में नैमित्तिक दोष आ जाता है, अर्थात् उनमें राम के लिये प्रेम कभी कारण पाकर होता था। यदि ऐसा मान लिया जाय तो भरत में स्वार्थ-परता का दोष भी आ जाता है, और ऐसा होने से भरत-जी प्रेम के उच्च आदर्श से गिर जाते हैं। और जब वह गिर गये तब उनके चरित्र में रह ही क्या जाता है कि जिससे वह अग्र-गण्य राम-भक्त कहे जा सकें ?

अस्तु, यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि वह प्रशांत-महासागर के समान शान्त थे। जब ऐसा मान लिया जायगा, तब तनके मुख से माता के प्रति "दुर्वचन नहीं निकले" ऐसा मानना ही पड़ेगा। जब ऐसी यथार्थता मानी जायगी

तब दूसरों द्वारा वर्णित भर्त्सना का कारण उनका राम-प्रेम ही माना जायगा; जिसके प्रभाव से उन पूज्य भक्तों ने भरत में राम-प्रेम की मात्रा अधिक रूप में दिखाने का प्रयास किया। किन्तु ऐसा करने में भरत के चरित्र को इतना दुर्बल कर डाला कि जिससे राम-प्रेम के होने में आशंका होती है।

यदि कोई राम-भक्त समाधान करने की चेष्टा करे कि वह कारण, जिसके वश होकर भरत ने कैकेयी को दुर्वचन कहे, राम-प्रेम था; तो उदाहरण के साथ अपने कथन को सिद्ध करें। जो मेघ आकाश में स्थित हैं और पवन उनको उस विशेष स्थान से हटाने की इच्छा से यदि अपने प्रबल झोंकों ही का प्रयोग करता है, जिससे मेघों को धक्के द्वारा कष्ट पहुँचे; तो वह ऐसा करने के लिये विवश है; क्योंकि बिना ऐसा किये मेघ वहाँ से हटाये नहीं जा सकते। इसी भाँति यदि भरतजी कैकेयी की इस प्रकार भर्त्सना करते, तो क्या वह ठीक मार्ग पर न आ जाती?

उत्तर में निवेदन है कि यह उदाहरण यहाँ उपयुक्त नहीं है। पवन का गुण प्रवाह-सम्बन्धी है, वह मेघों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाता रहता है। इसके अतिरिक्त उसका मेघों के साथ कुछ भी अन्य सम्बन्ध

नहीं है। यदि यह कहा जाय कि पवन मेघों को देशान्तर में ले जाकर वहाँ जल-वृष्टि कराता है, तो निवेदन है कि पवन में यह गुण ही नहीं है कि वह मेघों द्वारा जल बरसा सके। वर्षा करने का तो गुण मेघों का है। वे ही शीतोष्णता के अनुसार वारि-वर्षण करने में समर्थ हैं। शीतोष्णता पवन के ही प्रभाव से तो होती है? कदापि नहीं; क्योंकि शीतोष्णता की उत्पत्ति का कारण सूर्य है, न कि पवन।

कहने का तात्पर्य यह कि यदि भरत पूजनीया माता कैकेयी को दुर्वचन कह सकते थे, तो अवसर पाकर रामचन्द्रजी की भी भर्त्सना कर बैठते। यदि उनमें यह अवगुण नहीं था तो वह माता को भी दुर्वचन नहीं कह सकते थे। क्या कोयल काक की भाँति 'काँव-काँव' कर सकती है? क्या मोर मेढ़क की बोली में मेघों का स्वागत कर सकता है? क्या सिंह घास खा सकता है? क्या बाज लवा की भाँति भयातुर हो झाड़ियों में छिप सकता है? क्या तालों की भाँति समुद्र भी ग्रीष्म-ऋतु में शुष्क हो सकता है? यदि नहीं, तो महान शान्तात्मा भरत कैसे क्षुब्ध हो सकते थे? अतः भरतजी ने केवल इतना ही कहा कि—

"जनक जानकी लखन राम कौं, ममहित जननी त्यागे।
कीन्हीं भूल सूल सालत जिय, दावा दुख तन लागे॥
राम प्राण बनि वसि शरीर मम, जीवत राखत मोहीं।
दूरि कीन्ह तैं उन कहँ मों सों, अचरच यखियत तोहीं॥"

—भरत-भक्ति, सर्ग १।

"मेरे शरीर में प्राण-रूपी राम बसते थे। वही मेरे जीवन के कारण थे। वह मुझसे आज दूर हो गये। अतः आश्चर्य है कि प्राण न रहते हुए भी मैं जीवित दशा ही में आप को देख रहा हूँ।"

ऐसे कथन से भरत का शोक कितने गंभीर भाव में प्रगट होता है। इसी से ज्ञात होता है कि भरतजी कैकेयी के कर्म से दुःखी थे और उनका हृदय-सागर भी चिन्ता और शोक की लहरों से व्याकुल था, किन्तु तिसपर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता था। ऐसा करने में हृदय की असमर्थता प्रगट होती है। यदि भरत का हृदय राम-वियोग से क्षुब्ध न हुआ, तो मान लेना पड़ेगा कि उनमें राम के लिये प्रेम नहीं था। और यदि था तो उनका हृदय पत्थर के समान ज्यों-का-त्यों कैसे रह सका?

उत्तर है कि भरतजी का हृदय महा क्षुब्ध दशा को

प्राप्त था, इसका प्रमाण उनका मूर्च्छित होना और उल्लिखित बचन बोलना है। हाँ, यह नहीं हुआ कि उसका उद्गार मुख-द्वारा निकले। यदि निकलता, तो प्रगट हो जाता कि भरतजी में रामचन्द्रजी का प्रेम किसी नैमित्तिक कारण से था, जिसके अंतर आने से वह क्षुब्ध हो गये थे। जिस पहाड़ी, नदी या नाले का जल स्रोत से नहीं निकलता और उनमें लगातार मेघों का जल एकत्र हुआ जाता है, तो कभी-न-कभी वे सम्पूर्ण जल को अपने में रखने में असमर्थ अवश्य हो जायगें और तब तत्काल अधिक जल बहा कर फिर सूखे-के-सूखे रह जायँगे।

दूसरी ओर, पवन के प्रचण्ड झोंके समुद्र के जल को आकाश में कितनी ऊँचाई तक उछालते हैं; किन्तु मजाल क्या कि वह अपनी सीमा के बाहर चला जाय। इसका कारण यही है कि जो वस्तु कारण विशेष पाकर किसी गुण को ग्रहण करती है वह उसे शीघ्र ही त्याग भी देती है। जल अग्नि के संयोग से गरम हो जाता है, किन्तु थोड़ी ही देर में उससे उष्णता जाती रहती है। जैसे अगाध समुद्र प्रचंड लहरों के उठने पर भी पृथ्वी को जल-मग्न नहीं करता, उसी भाँति भरतजी महादुःख सहते हुए भी

माता को दुर्वचन न कह सके। यदि ऐसा न माना जाय तो भरतजी में दोष आया जाता है कि जिस समय उन्होंने दुर्वचन कहा, उस समय उनके हृदय में राम के लिये प्रेम नहीं था; क्योंकि यदि होता तो वह कठोर वचनों का प्रयोग कैसे कर सकते ? क्योंकि प्रेम में तो कठोरता है ही नहीं। फिर वचन में कठोरता कहाँ से आ गई ?

अतः मान लेना पड़ेगा कि उस समय भरत के हृदय में राम-प्रेम नहीं था। यदि राम-प्रेम की अनुपस्थिति मान ली जाय तो उसी के साथ यह भी मानना पड़ेगा कि उनके हृदय में निमित्त कारण पाकर ही प्रेम उदय होता था। यदि ऐसा माना जाय तो भरत के प्रेम की महत्ता ही जाती रहती है। इस प्रकार निर्विवाद रूप से यह बात माननी ही पड़ेगी कि भरतजी ने कैकेयी को दुर्वचन नहीं कहा था।

भक्ति

"भक्ति दर्शन" में श्री शांडिल्यजी ने वर्णन किया है— "सापरानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनुराग का नाम भक्ति है।

किंतु जो अप्रत्यक्ष है, जिसको मनुष्य-जाति का एक वर्ग—जो नास्तिक के नाम में पुकारा जाता है—नहीं

स्वीकार करता। उसका कथन है कि ईश्वर नहीं है, और अपनी इस बात के साबित करने के लिये उसने तर्क-वितर्क के साथ अनेक ग्रंथ निर्माण किये हैं।

दूसरी ओर, दूसरे मतवालों ने ईश्वर की स्थिति की "नाहीं" तो न की, पर उसे सिद्ध करने के लिये ऐसे मार्ग का अवलम्बन किया कि ईश्वर का ऐश्वर्य ही न देख सके। किसी ने तो "हाँ" या "नहीं" भी स्पष्ट रूप से नहीं की।

इन विद्वान् अन्वेषकों ने ईश्वर को जगत् के पदार्थों के आधार पर ढूढ़ने का यत्न किया; पर उसे पाया नहीं, और हार कर उन्हें कहना ही पड़ा कि ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषण के होते हुए भी ईश्वर की सिद्धि नहीं पाई जाती। भला, पाई कैसे जा सकती है? क्या अंधे को भी चन्द्रमा का प्रकाश देख पड़ता है? देख कैसे पड़े! उसके चक्षुओं में दृष्टि-ज्योति तो है ही नहीं। मरुस्थल में कहीं श्वेत सलिला सुरसरी, स्नान करने को मिल सकती है? भला कमलनाल की सीढ़ी बना कर अत्युच्च शैल-शिखर पर कोई चढ़ सकता है? यदि नहीं, तो वाग्जाल-तर्कादि से, तत्वों के मूलतत्त्व का शोधन करने से, अथवा यही निश्चय कर लेने से कि ज्ञान से मुक्ति होती है, तो क्या ऐसे कथन से ईश्वर मिल सकता

है ? एक तो इतना परिश्रम करना ही दुस्तर है। फिर भी यदि किसी ने ऐसी उच्चातिउच्च दशा को प्राप्त भी कर लिया, तो क्या सबसे ऊँची अवस्था से जीव का अधःपात नहीं होता है ? तब इसे निश्चित रूप से स्वीकार ही करना पड़ेगा कि स्वतः बुद्धि और विद्या में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वे ईश्वर की प्राप्ति का कारण बन सकें।

अब प्रश्न होता है कि यदि बुद्धि और विद्या ईश्वर की प्राप्ति में कारण नहीं है, तो बिना इनके ईश्वर की भक्ति भी तो सहज में नहीं प्राप्त होती। भक्ति का अंकुर किसी के हृदय में जम सकता है, तो सद्ग्रन्थ के अध्ययन से अथवा सत्संग से। इन दोनों में विद्या-बुद्धि की आवश्यकता भी है। भला-बुरा, छोटा-बड़ा, कोई भी विचार करता है तो उसे मंद अथवा तीव्र बुद्धि द्वारा ही तो निश्चय करना पड़ता है। तब बुद्धि निष्प्रयोजन कैसे मानी जा सकती है?

उत्तर है कि हृदय-रूपी भूमि में भक्ति-रूपी बेलि उत्पन्न होती है और बुद्धि रूपी बाँस उसको फैलने का सहारा देता है। यदि उस बाँस के साथ टट्टी-रूपी विद्या भी हुई तो वह विस्तार पूर्वक फैलती है। इतना लाभ तो अवश्य होता है; किन्तु विद्या अथवा बुद्धि, भक्ति का कारण नहीं

है। दूसरे जिनके पास विद्या-बुद्धि के साधन नहीं हैं, उनमें भी भक्ति देखी जाती है। क्योंकि भक्ति किसी के आश्रित नहीं है। यदि टट्टी या बाँस का साधन नहीं है, तो बेलि भूमि ही पर फैलेगी, फूलेगी, फलेगी और उस भूमि को सुशोभित करेगी। अतः भक्त चाहे मूर्ख भी हो, पर भक्ति उसे भगवत के समीप पहुँचा देगी अवश्य।

पर्वत की चोटी पर खड़े होने से कोई हाथ मे आकाश का स्पर्श कर सकता है? यदि स्पर्श नहीं कर सकता, तो इतने घोर परिश्रम करने के पश्चात् भी लाभ इतना ही है कि संसार रूपी पर्वत के ऊपरी भाग में पहुँचने का यश प्राप्त होता है; पर संसार छूटता नहीं। जब आकाश का अंत ही न मिला तब ऐसे कार्य से लाभ ही क्या हुआ? वही कहावत ठीक हुई—"भूसी थुरे न निकरी चाउर।"

विद्या और बुद्धि, संसारिक पदार्थों के जानने और निश्चय करने के लिये हैं। वे उनके लिये सर्वश्रेष्ठ क्यों न प्रमाणित हुई हों, किन्तु ईश्वर के जानने में एक महाबुद्धि-मान तथा विद्वान एक साधारण मनुष्य के समान है। ऐसी यथार्थता न होती, तो दर्शन-शास्त्र-नेत्ताओं के दृष्टि-कोण भिन्न न होते और इसीसे वे अपने अभीष्ट स्थान को न

पा सके। अंत में हार मान कर उन्हें कुछ-न-कुछ कह कर चुप हो जाना ही पड़ा। यदि ऐसा न होता तो अंत में सभी का निश्चय एक हुआ होता। पर यथार्थता ऐसी नहीं है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि विद्या-बुद्धि के सहारे ईश्वर-प्राप्ति का दावा कोई कर सकता है ?

उसीके साथ यह यथार्थता भी अवश्य है कि विद्या और बुद्धि दोनों मशाल दिखानेवाली हैं। जहाँ पर भक्ति-देवी के साथ ये दोनों होती हैं, वहाँ भक्ति का दर्शन भक्त के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भी प्राप्त होता है और उससे वे सब लाभ उठाते हैं। जहाँ ये दोनों भक्ति के साथ नहीं होतीं वहाँ इनसे जीव को नित्य-लाभ कुछ नहीं है। सांसारिक कार्यों के संपादन में उसकी सहायक हैं और प्रत्येक जीव के संस्कारानुसार उसको माया के साथ अधिक जकड़ने का कारण होती हैं।

इसमें अन्तर है तो यह है कि जिसमें विद्या और बुद्धि नहीं होती उसमें उसका विकास उसके हृदय ही तक होता है। उसके पास यथेष्ट वाक्य और बुद्धि-शक्ति नहीं है कि वह उनके द्वारा अपने भावों को दूसरों पर प्रगट कर सके किन्तु स्वयं उसे शांति-सुख की प्राप्ति होती है। जहाँ

शांति का विकास हुआ, वहाँ बुद्धि प्रस्फुटित हो जाती है। फिर वह विचार करने में समर्थ होती है, इसके पश्चात् उतने ही थोड़े शब्दों में, जिन्हें वह प्रयोग कर सकता है, अपने भावों को किसी-न-किसी प्रकार प्रगट कर ही लेता है।

एक बाबा रामहज़ारी दास थे। उनके दर्शन इन पंक्तियों के लेखक को हुए हैं। वह किसी पल्टन में सिपाही थे, और पढ़े न थे। वैराग्य उत्पन्न होने से उन्होंने नौकरी छोड़ दी। तब उनमें कविता की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि वह स्वयं कहते थे कि एक स्थान में लोगों को संदेह हुआ कि जो उनके मुख से शब्द भजन रूप में निकलते थे वे उनकी कृति नहीं हैं। अतः कुछ लोग इस बात की जाँच करने के लिये लगातार सात रोज तक, प्रातःकाल से सन्ध्या तक, भजन लिखते रहे और वह धारा प्रवाह लिखाते रहे। अंत में उन लोगों ने सब हाल प्रगट कर उनसे क्षमा-प्रार्थना की। उत्तर में उन्होंने हँस कर कहा हम तो तुमसे प्रसन्न हैं कि भजन करने का अवसर तुम्हारे द्वारा मिला।

एक जल समूह जैसे घाट से होकर धारा में बह निकलता है, वैसे दूसरा भी उसके पीछे उसे स्पर्श करके

आगे बढ़ता है। इसी प्रकार अगणित जल-समूह दिन-रात्रि आते-जाते रहते हैं। उनका तार नहीं टूटता।

सन् १९२५ में जब अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन श्रीवृन्दावन में हुआ था, तब वहाँ मैंने एक ऐसे साधु को अहिल्याजी की बावड़ी में—जिसे वहाँ भूतों की बावड़ी भी कहते हैं क्योंकि वह बड़े निर्जन स्थान में है—देखा था, जो जाति का अहीर था। सीतापुर जिले का रहनेवाला था। किसी ठाकुर के यहाँ हल जोतता था। एक दिन ठाकुर ने उसे पीटा और तब वह भाग खड़ा हुआ। फिर वृन्दावन जा पहुँचा। जिस समय मैंने उसे देखा था, वह शांति की मूर्ति था, साधना-पथ की आगेवाली सीढ़ियों को पार कर रहा था। उसकी दीनता और उसका अनुराग उसके बदन और नेत्रों पर झलकते थे। जो कुछ बोलता था, केवल टकसाली बचन। उसी ने स्वयं अपनी आत्मकथा का वर्णन किया था।

कहने का तात्पर्य यह कि विद्या और बुद्धि से जिन कार्यों का साधन होता है, वे भी भक्ति के प्राप्त होने से, भक्त द्वारा किये गये देख पड़ते हैं। अतः बुद्धि और विद्या, भक्ति का कारण नहीं, वरन् भक्ति होने से उनका स्रोत स्वतः उसी ओर बहने लगता है।

भक्ति दो प्रकार की होती है—एक वैधी जिसे गौणी भी कहते हैं, दूसरी—रागात्मिका अथवा अहेतुकी।

प्रथम गौणी का उदय होता है। उस समय भगवान से अपने स्वार्थ-साधन की इच्छा रहती है, और उसीके साथ भक्त भगवत की ओर बढ़ता भी जाता है। गौणी भक्ति के तीन विभाग हैं—पवित्र (सात्विकी), अहंभाविक (राजसी) और मोहरूप (तामसी)। तामसी भक्तिवाले वे ही हैं, जो बात-बात पर भक्त कहलाते हुए भी लड़ते हैं, आपस में सँड़सों की मार करते हैं। राजसी वे हैं जो बाल-भोग के लिये बड़ी सामग्री एकत्र करते हैं, भगवान की मूर्ति को सजाते और अनेक प्रकार के उत्सवादि करते हैं। सात्विकी गौणी भक्ति के अनुयायी वे हैं, जो भगवान के चरणों में प्रीति प्राप्त करने के लिये सदा उदासीन हो उनके नाम का उच्चारण करते और मन में उनका ध्यान करते हैं, मन को सदा विरक्ति की ओर ले जाने का प्रयत्न नाम, ध्यान और गुणगान के बल द्वारा करते हैं।

अब प्रश्न होता है कि जिसमें तामस है उसमें भक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है, क्या ऊसर में भी बीज उगकर फूलता-फलता है ?

उत्तर में निवेदन है कि वह ऊसर जिसको खेत बनाने का यत्न किया जाता है उसकी जोताई अच्छी तरह से की जाती है और पाँस भी डाली जाती है। इतना करने पर भी ऊसर अपने रूप को नहीं छोड़ता। यदि बीज उगा भी, तो अंकुरित होकर ही सूख जाता है। इस प्रकार से कई वर्षों तक उस भूमि का सुधार होता रहता है। परिणाम यह होता है कि एक दिन उसका सारा ऊसरपन नष्ट हो जाता है और वह भूमि उर्वरा कहलाने लगती है। अस्तु, जिस जीव के ऐसे संस्कार भगवत्-कृपा-प्राप्ति के हैं, उसकी तामसी बुद्धि होते हुए भी ईश्वर में अनुराग उत्पन्न होता है। यद्यपि वह क्षणिक होता है तथापि उसका बीज नष्ट नहीं होता। जहाँ पर गेंदा का एक क्षुप लगा, तहाँ उसके फूल झड़कर पीछे अनेक हो जाते हैं। उसी भाँति भगवान की प्रीति का अंकुर जम जाने से वहाँ भक्ति क्रमशः प्रादुर्भूत होती है। चाहे दो-चार जन्मों के पश्चात् अथवा सौ-पचास जन्मों के पीछे उसे शांति मिले, पर मिलेगी अवश्य। भक्ति का बीज नष्ट नहीं होता।

अब प्रश्न फिर होता है कि ऐसा मनुष्य वंचकता के साथ भक्ति करता, कंचन तथा कुच की ओर हाथ बढ़ाता

है। फिर ऐसी दशा में तो उसे अधिकता से कष्ट मिलना चाहिये, न कि उसका प्रगमन भक्ति की ओर हो।

उत्तर है कि कष्ट तो उसके कुकर्म के लिये अवश्य मिलेगा; किंतु दूसरी ओर भक्ति भी दृढ़ होती जायगी। यदि जंगली घास के साथ एक आम भी उगा, तो घास उसके उद्भव को रोक नहीं सकती। संभव है कि उसकी उन्नति की गति मंद रहे, किंतु यह नहीं हो सकता कि वहाँ आम उत्पन्न ही न हो सके। कुछ समय पश्चात् जब वह बढ़ जाता है तब उसके निकट घास उगती ही नहीं। अस्तु, जो तामसी और राजसी भक्त हैं, वे कुछ जन्मों के पश्चात् सात्विकी वृत्तिवाले संत हो जाते हैं और तब वे भगवत्-समीपी होने की प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

अब यहाँ एक और शंका उत्पन्न होती है। यदि प्रभु सात्विकी वृत्ति वाले जीवों ही पर प्रसन्न होते हैं, तो फिर शबरी, सदन कसाई आदि पर कैसे दया की? क्योंकि यदि उनके प्रारब्ध में तामस भाग अधिक न होता तो वे ऐसी नीच जाति में उत्पन्न ही क्यों होते? फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनमें कुछ न कुछ तामस भाव रहा होगा।

समाधानार्थ निवेदन है कि साधारणतः आम्र-फल

पकने पर पीले पड़ जाते हैं, किन्तु उनमें एक जाति के आम ऐसे भी होते हैं जो पक जाने पर भी ऊपर हरे ही बने रहते हैं, उनको कोई नहीं पहचान सकता कि यह आम पका है; पर उसके भीतर मधुर पीला रस भरा रहता है, और ऐसे हरिताम्र-फल प्रायः सभी मीठे होते हैं। दूसरी ओर, जैसे शीत-प्रधान देश में, जहाँ तुषार का आधिक्य होता है, बर्फ से पृथ्वी विशेष रूप से ढँकी रहने पर भी, वहाँ के अन्नादि के पौधे बर्फ को फाड़कर ऊपर निकल आते हैं, अथवा उसके नीचे ही अपनी उन्नति करते रहते हैं। उनमें बर्फ से अधिकतर उद्भेद-शक्ति रहती है। वे अपने साथ पृथ्वी के भीतर की इतनी गर्मी लाते हैं कि बर्फ को उसके बढ़ने के लिये द्रवित होना ही पड़ता है, उसी प्रकार कुछ भक्त निज-संस्कारानुसार तामसी योनि अथवा जाति में उत्पन्न होते हैं। उनके अन्तःकरण विषय-वासनाओं से आवृत तो अवश्य रहते हैं; पर उनके हृदय में भक्ति का बीज पूर्व-जन्म से जमा हुआ होता है।

भक्ति की उत्पत्ति पहले समानान्तर रेखा के समान होती है, विषय-वासना भी रहती है और भक्ति भी; पर जैसे तीव्र प्रवाह वाली नदी क्षुद्र नदी के मिलने पर

उसे दबाकर उसके ऊपर अपना प्रभुत्व जमा लेती है और फिर वह उसकी सहचरी बन जाती है, उसी भाँति आगे चलकर भक्ति, विषय-वासनाओं पर अपना प्रभाव डालकर, वहाँ अपना प्रभुत्व प्रगट करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शबरी और सदन कसाई में भक्ति का प्रादुर्भाव विशेष रूप से हो चुका था, जिससे उनकी तामसी प्रकृति को दब जाना पड़ा होगा; क्योंकि चन्द्रमा के उदय होने पर घना अन्धकार कहाँ रह सकता है? यदि भक्ति का विकास केवल सात्विकी स्वभाव वालों ही में हो, तो फिर यह कठिन साध्य पदार्थ ज्ञान के समान हो जाय। यहाँ तो यह हाल है कि जैसे माता अपने बच्चे के मुख में रोटी का एक टुकड़ा डाल देती है और उसे खिलाकर आँगन में खेलने देती है, जब वह कौर उसके मुख में चुक जाता है, तब फिर माता बुलाकर उसे खिला देती है। सारांश यह कि लड़का तो अपना खेलना नहीं छोड़ता और माता पुत्र को भोजन करा देती है। इसी भाँति भक्ति के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि प्रभु अपने भक्त की सम्हाल उस समय तक रखते हैं, जब तक वह उनके समीप नहीं पहुँच जाता। लोहा को तभी तक साफ करना होता है जबतक उसमें

मुरचा लगा है। जहाँ मुरचा छूटा, तहाँ वह चमकने लगता है। दैवयोग से चुम्बक का साथ हो गया, तो वह उसे तुरंत अपने में चिपटा लेता है।

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यगव्यवसितो हि सः॥"

—भगवद्गीता, अ० ९, श्लो० ३०।

"यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त हुआ और मुझको निरन्तर भजता है, तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय-वाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार से निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है।"

अतः यह बात यथार्थ नहीं है कि जहाँ अंधकार है, वहाँ किसी उपाय से भी प्रकाश नहीं हो सकता। अंधकार के रहते हुए भी बिजली का लैम्प दिन के समान अपना प्रकाश कर अंधकार को दूर भगा देता है। अस्तु, भक्ति का यह नियम नहीं है कि केवल सात्विक पुरुषों ही मे पाई जाय। वह साधारण जीवों को अपने प्रभाव में लाकर श्रेष्ठ भक्त बना देती है। सुतरां, गौणी भक्ति—भगवत्सेवा, नाम-कीर्त्तन और भगवद्गुणगान करते-करते साधक के अन्तः-

करण की वृत्तियाँ पवित्र हो जाती हैं और अन्तःकरण की शुद्धि का कारण गौणी भक्ति ही है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब साधक निर्मल पराभक्ति का अधिकारी होता है।

कर्म-अर्पण—

"अबन्धोऽर्पणस्य मुखम्"

—'भक्तिदर्शन'।

"अर्पण से बन्धन मुक्त हो जाते हैं।"

शास्त्रों में वारम्बार इसपर जोर दिया गया है कि कर्म के फल की आशा का त्याग करना वंधन से छूटने का कारण है। जैसे जल-समूह पीछे से आता रहता है वैसे धारा का प्रवाह भी जारी रहता है। जब उसका आना बंद हो जाता है तब प्रवाह भी बंद हो जाता है। इसके लिये विभिन्न उपाय वर्णन किये गये हैं। कोई तो कहता है कि मैं कर्म ही नहीं करता तो फल की आशा कैसे की जाय? दूसरा कर्म करना तो स्वीकार करता है, किंतु जो कुछ कर्म करता है, भगवान के अर्पण कर देता है। तीसरा कहता है कि मैंने तो तन-मन सब भगवत् को सौंप दिया है—उनके नाम और रूप में मन और बुद्धि को लगाने

की चेष्टा करता हूँ, यदि बुरे कर्म करूँ तो उसका कर्ता मैं हूँ, क्योंकि चिर-काल के अभ्यास से प्रकृति का झुकाव अधिकतर बुराई की ओर है, पर इसमें भी भगवान की कृपादृष्टि फल भोगने के समय रहती है, जिससे थोड़ा ही कष्ट मिलकर रह जाता है। और यदि कोई भलाई का कार्य हो गया तो मैं समझता हूँ कि भगवान की कृपा द्वारा ऐसा हुआ; क्योंकि मैं विचार करता हूँ कि मेरी मलिन प्रकृति से ऐसा कार्य होना संभव न था।

"ज्यहि सर काक बंक बक सूकर
क्यों मराल तहँ आवत॥"

अस्तु, उत्तम कार्य का कर्त्ता अपने को न मान कर भगवान ही की कृपा मानता है। ऐसे विचार से उसके हृदय में स्वयं कर्ता न होने की दृढ़ धारणा हो जाती है।

प्रश्न है कि यदि जीव स्वयं अपने को कर्ता मानता है तो उससे क्या हानि है?

उत्तर है कि अपनेको कर्ता मान लेने से अहं-भाव उत्पन्न होता है। उससे प्रथम गर्व और पश्चात् षट-विकार का उदय होता है, जिनसे अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो जीव के बंधन का कारण हैं। अतः फलाशा का

त्याग बंधन से बचना है और प्रभु को कर्म अर्पण करना ही फलाशा का पूर्ण त्याग है। जब कोई कहता है कि मैं कर्म नहीं करता, और ऐसे विचार दृढ़ कर लेने से अहंभाव नहीं उठता, तो ऐसा कहने के साथ कि "मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ" इतनी अहंता तो रहती ही है कि वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। यदि कोई आम्र वृक्ष के नीचे आम्र फल खाता हुआ कहता है कि मैंने इन्हें तोड़ा नहीं है, तो भी उसको आम खाने, वृक्ष में आम लगने और पृथ्वी पर उसके गिराने का ज्ञान है। उसी भाँति वह मनुष्य, जो कहता है कि मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, कर्तृत्व और भोग का ज्ञान रखता है। अब इन सबका ज्ञान उसमें है और उनका कार्य भी उसके मन तथा शरीर से सम्बन्ध रखता है।

तो फिर इन व्यवहारों का ज्ञान अकर्ता कहने वाले को होता है या नहीं ? यदि नहीं होता, तो उसके मन और शरीर द्वारा ऐसे कार्य कैसे होते हैं ? यदि उसको इनका ज्ञान है, तो फिर वह अकर्ता कैसे रह सकता है ? जो मनुष्य ईश्वर को कर्म अर्पित करते हैं, उनका हाल उस मनुष्य के समान है, जो बैंक में अपना सब रुपया जमा करके अपने को रिक्त-हस्त कहता है। कहता ऐसा है और उसकी स्थिति

भी ऐसी है। पर बैंक में रुपया जमा है, इसका उसको ज्ञान है, इसीसे उसे चिंता भी नहीं है; किंतु उसे चिंता न होने के साथ रुपया जमा करने का अहंभाव भी रहता है कि मैंने रुपया जमा किया है। इस प्रकार अहंता का अंकुर रहता ही है।

जो भक्त अपने तन, मन, बुद्धि, धन, ऐश्वर्य, परिवारादि सब भगवत् को अर्पित कर देता है, वह जो कुछ जगत् में व्यवहार करता है, उसे अपना किया हुआ नहीं समझता। वरन् उसे वह मानता है कि ऐसा करने की आज्ञा प्रभु की थी, सो यह कार्य मेरे द्वारा प्रभु ने कराया है। ऐसा विचार भले कामों के साथ है। जैसा ऊपर कह-आये हैं कि यदि कोई बुरा काम उससे हो गया, तो वह उसमें भी भगवत्-कृपा का प्रभाव देखता है और अपने मन को यों समझाता है कि जो बुराई हुई है, उससे कहीं अधिक बुराई हुई होती, यदि करुणानिधान ने अपनी कृपा से उसे अल्पतर न किया होता।

"गौण्यातु समाधि सिद्धिः।"

—'भक्ति-दर्शन'।

"गौणी भक्ति द्वारा समाधि की सिद्धि होती है।"

अभी गौणी ही भक्ति का वर्णन हो रहा है, श्री सांडिल्य जी ने गौणी भक्ति से समाधि की सिद्धि मानी है। योग-शास्त्र में लिखा है कि जब साधन द्वारा सत्, रज और तम गुणों की चंचलता रूप क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियाँ एकाग्र हो निरुद्ध दशा को प्राप्त होती हैं, तब समाधि की प्राप्ति होती है। जिस समाधि-प्राप्ति के लिये महा घोर कठोर साधन किये जाते हैं, तब कहीं उसकी प्राप्ति होती है। पर जहाँ किंचित् अभ्यास शिथिल पड़ा, तहाँ फिर ज्यों-की-त्यों चंचलता बढ़ जाती है। दूसरी ओर भक्ति-मार्ग में समाधि की प्राप्ति प्रेमानुराग बढ़ जाने से होती है। जो लहरें समुद्र के बीच में अंतरिक्ष की ओर ऊपर को उठती हैं उन्हें किसी पदार्थ का अवलंब नहीं मिलता और तत्काल लौट आना पड़ता है। परंतु जो लहरें तट की ओर जाती हैं उन्हें पृथ्वी स्पर्श करने को मिलती है और वे वहाँ दूर तक चली जाती हैं। इतना ही नहीं, किसी स्थल में विशेष समय तक समुद्र का जल भी अथाह भरा रहता है। उसी प्रकार ज्ञानमार्गादिकों में कोई अवलम्ब नहीं है, वहाँ जरा चूका कि गया! किन्तु भक्ति-मार्ग में भगवान के पदारबिन्दों में मन एकाग्र हो सप्रेम स्थिर होता है, फिर वहाँ की अपेक्षा

उसको संसार में क्या, स्वर्ग में भी, कोई ऐसा स्थान उत्तमतर नहीं देख पड़ता, जहाँ वह किंचित् काल के लिये रुके। यह गौणी भक्ति भगवान के चरणों तक पहुँचा देती है और जब समाधि-दशा तक भक्त पहुँच जाय, तब समझ लेना चाहिये कि यह महान आत्मा गौणी के उत्तर भाग में पहुँच गया है, और पराभक्ति के अंचल को प्राप्त करने ही वाला है।

"गौणं त्रिविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्।"

गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है। उनके साथ ज्ञानी भक्ति का नाम केवल मर्य्यादा बढ़ाने के अर्थ ही आया है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त वर्णन किये हैं। उनमें से प्रथम तीन गौणी भक्ति से सम्बंध रखते हैं और ज्ञानी भक्त ही परा-भक्ति-सेवी है। आर्त्त वह है जो विपत्ति में पड़ जाने पर भगवान का स्मरण करता, उद्धार के लिये प्रार्थना करता है। और, जब भगवान ने उसे बचा दिया तब उसके हृदय में भगवान के प्रति प्रीति और विश्वास हो जाता है, तब वह शरणापन्न होता है। जिज्ञासु उसे कहते हैं, जो श्रीभगवत्-तत्व जानने के लिये शास्त्र और गुरु-वाक्य में विश्वास करके प्रभु की भक्ति करता हो। अर्थार्थी भक्त वह है जो अपनी किसी कामना की

सिद्धि करने के अर्थ ही भगवान में भक्ति करता हो, जब गुणों का तिरोभाव हो जाता है तब पराभक्ति का उदय होता है। जब पराभक्ति का प्रकाश हृदय में होता है तब अन्तःकरण की वृत्तियाँ ऐसी नष्ट होती हैं जैसे ग्रीष्म में तृण। वह भगवान के प्रति तदाकार हो जाता है। ऐसे भक्त के लक्षण श्री मुख से भगवान श्रीकृष्णजी ने गीता में वर्णन किया है—

अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजतेचयः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्ति मान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः सङ्ग विवर्जितः ॥१८॥

तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्ति मान्मे प्रियोनरः ॥१६॥
गी० अ० १२ ।

१३—"सब भूतों में द्वेष-भाव से रहित एवं स्वार्थ रहित सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित एवं अहंकार से रहित सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है। अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है।"

१४—"जो ध्यान योग में युक्त हुआ निरंतर लाभ हानि में संतुष्ट तथा मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए, मेरे में दृढ़ निश्चय वाला, वह मेरे में अर्पण किये हुए मन बुद्धि वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।"

१५—"जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है तथा जो हर्ष अमर्ष—दूसरे की उन्नति देख कर संताप करने, भय उद्वेगादिकों से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है।"

१६—"जो पुरुष बाहर-भीतर से शुद्ध और चतुर है। अर्थात् जिस काम के लिये आया था उसको पूरा कर चुका एवं पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है, वह सर्व-आरंभों का त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है।"

१७—"जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है, तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है वह भक्ति युक्त पुरुष मुझे प्रिय है।"

१८—"शत्रु मित्र में और मान अपमान में सम है तथा सर्दी गर्मी और सुख दुःखादिक द्वन्दों में सम है और सब संसार में आसक्ति से रहित है।"

१९—निन्दा स्तुति को समान समझने वाला और मनन शील है एवं किसी-न-किसी प्रकार शरीर का निर्वाह करने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है वह स्थिर बुद्धि वाला भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।"

ऐसी उच्च गति को प्राप्त परमहंस रूप बड़े भाग्यवान भक्त ही भगवत को प्राप्त करते हैं। जो भक्त गौणी भक्ति के किसी सोपान पर टिके हैं, उन्हें ऊब न जाना चाहिये कि पराभक्ति तो बड़ी कठिन है और वह अप्राप्य है। उनके लिये तो कदापि अप्राप्य नहीं है। वे तो प्रभु के कृपा रूपी जहाज पर बैठ चुके, वे तो एक-न-एक दिन पराभक्ति की सीढ़ी पर पहुँच कर अवश्य ही श्रीसरकार के समीपी होंगे।

ऐसी पराभक्ति-गिरि के शिखर में स्थित भरत, श्रीराम

जी को छोड़, किस ओर दृष्टि कर सकते थे। मेघ आकाश को छोड़ कहाँ से वारि-वर्षा कर सकता है ? पृथ्वी को छोड़ वृत्त-तृणादि कहाँ उग सकते हैं ? मछली पानी को छोड़ अन्यत्र कहाँ जाकर रह सकती है ? उसी भाँति अन्तः-करण-वृत्ति-शून्य भरत श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ किसी पदार्थ की ओर द्वैत-बुद्धि करके देख ही नहीं सकते थे।

अब प्रश्न होता है कि द्वैत-बुद्धि उनमें न थी, तो राज्य को अस्वीकार क्यों किया ? उसे भी राम-रूप ही समझ कर राज्य-कार्य करते !

समाधानार्थ निवेदन है कि पृथ्वी का जो भाग मैदान के नाम से पुकारा जाता है, वहाँ की भूमि समतल होती है, वहाँ प्रायः गढ़े या गर्त्त नहीं होते। यदि वहाँ पर किसी कारण एक बड़ा भारी गड्ढा मार्ग में खोद डाला जाय तो उस दशा में पथिक को सावधान होकर मार्ग को बद-लना ही पड़ेगा। उसी भाँति जिस राज्य के लिये श्रीरामजी को बन जाना पड़ा उससे श्रीरामजी तो दूर हो ही गये थे, फिर उसे कैसे ग्रहण करते ? जब महाराज रामचन्द्रजी ने उसे ग्रहण कर लिया और उनकी आज्ञा हुई, तो भरत उसका प्रबंध १४ वर्ष तक रामजी की ओर से करते रहे। ऐसा

करने में भरतजी ने केवल प्रभु की आज्ञा का पालन किया और उस राज्य को स्वामी की संपत्ति मान कर बड़ी सावधानता से उसकी रक्षा की थी। जो कमल दिनकर के ही साथ आनंद मानता है, वह सूर्यास्त होते ही अपना मुख छिपा लेता है। उसी भाँति श्रीभरतजी परा भक्ति की उत्तर सीढ़ी को भी पार कर गये थे, उनके लिये राज्य-विषय-भोग क्या है? वह इनकी ओर स्वप्न में भी दृष्टि नहीं देते थे।

भाषा

ऐसी एक भाषा कभी किसी काल में नहीं रही कि जो व्यतिरेक रूप से देश में बोली जाती रही हो; वरन् एक से अधिक भाषाएँ सर्वदा प्रचलित रही हैं। विद्वानों नें चार भाषाओं की स्थिति एक काल में एक साथ मानी है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची अथवा प्रेत-भाषा। जो विद्वान थे उनकी साहित्य-भाषा 'संस्कृत' थी। जो देश अथवा विशेष प्रान्त में अधिक लोगों द्वारा बोली जाती थी, वह 'प्राकृत' थी। जिसको मनुष्यों का एक विशेष भाग, जो सभ्यता में प्राकृत-भाषा-भाषी लोगों से हीन था, बोलता था, वह 'अपभ्रंश' कहलाती थी। जिसको जंगली और गँवार बोलते थे, वही 'पैशाची भाषा' थी। इसका विवाद विद्वानों

के बीच बहुत रोज़ से चला आ रहा है कि प्राकृत से संस्कृत निकली है। दूसरा पक्ष इसका खंडन करता है और अपना पक्ष यों प्रतिपादन करता है कि संस्कृत ही आदि-भाषा है और इसीसे प्राकृतादि भाषाएँ निकली हैं। अपने पक्ष को पुष्ट करने में संस्कृत के विद्वान प्रमाण देते हैं कि प्रकृति के जितने कार्य देखने में आते हैं, सब विधि-विधान-युक्त हैं। कोई भी अविधि रूप में नहीं देख पड़ता। अणु से लेकर पर्वत, पील और पिपीलिका सबके कार्य विधि में बँधे हुए बिना रुकावट के चल रहे हैं। तब भाषा भी विधि-संयुक्त ही होनी चाहिये; क्योंकि शब्द अमित और नित्य हैं और प्रकृति उनका प्रयोग जड़-चेतन पदार्थों द्वारा विधि-अनकूल ही कराती है। जैसे ऊपर से कोई पदार्थ जल में डाला गया तो सदा उससे एक ही प्रकार का शब्द होगा। ऐसा न होगा कि कभी तालु सम्बन्धी शब्द हो और कभी आनुनासिक। काँसे के पात्र में 'झनझनाहट' का शब्द होता है और उसमें ऐसा शब्द कदापि न निकलेगा कि जिसमें झनझनाहट के अतिरिक्त अन्य प्रकार का शब्द हो। मेघ का शब्द सदा गंभीर और 'कड़कड़ाहट' के साथ होता है; किन्तु ऐसा कदापि नहीं देखा जाता कि उससे

मृदंग या सितार के समान सस्वर मधुर शब्द निकले। जैसा शब्द जिसके लिये प्रकृति ने निश्चय किया, ठीक वही आज भी देखा जाता है। वायु-प्रवाह से वृक्षों में एक प्रकार का शब्द होता है जिसे विद्वानों नें 'मर्मर' नाम से पुकारा है। भला कभी किसी ने उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार का शब्द वृक्षों से निकला हुआ सुना है? निश्चय है कि कभी न सुना होगा। तब मान लेना ही पड़ेगा कि प्रकृति के सब काम सब काल में विधिपूर्वक ही होते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षियों में भी इसी नियम का पालन होता देखा जाता है। जो जीव जिन स्वरों और ब्यंजनों का प्रयोग करता है, उन्हीं का प्रयोग अपने भिन्न-दशानुसार सदा करता रहता रहता है। यहाँ पर कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

नाम		उच्चारण		
		स्वर		ब्यंजन
कोयल	...	उ	...	क
चातक	...	इ, अ	...	प
मोर	...	इ, अ	...	क, ह
नीलकंठ	...	अ	...	क
काग	...	अ, उ	...	क

गाय	...	अ	...	ब
भैंस	...	ओ, इ	...	...
घोड़ा	...	ई, ए	...	ह
गधा	...	ओ, इ	...	प, स
ऊँट	...	ओ, अ	...	ब

तब मानना ही पड़ेगा कि प्रकृति के विधि-अनुकूल शब्द-समूह अवश्य ही विधि-युक्त होंगे। जब यह स्वीकार किया जाय, और न्यायपूर्वक इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा, तब जिसका प्रत्येक अवयव दृढ़ नियमों से जकड़ा है, उस संस्कृत के अतिरिक्त कौन ऐसी भाषा है, जो यह स्वत्व दिखा सके कि वह आदि-भाषा है ?

प्राकृत ने तो भिन्न देश और भिन्न काल को पाकर अपने रूप को सदा बदला है। जैसे—

"अवणइस्सं दाव दे ओउरठणं,तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि।"

—शकुन्तला नाटक।

"अब तेरा घूँघट-पट हटाये देती हूँ, तभी तेरा पति पहिचानेगा।"

"सत्तावीसञ्जणो अण कर पसरो जाव अज्ज वि न होइ।"

—चाहड़।

"सत्ताइस खी वाले चन्द्रमा की किरणों का फैलाव आज भी नहीं होता" ।

दोनों प्रकार की प्राकृत-भाषाओं को देख कर साधारणतः अनुमान किया जा सकता है कि दोनों के बीच भेद अवश्य है। "वाहड़ जी" के सत्तावीस, पसरो, होइ, शब्द ठीक वही हैं जो आज भी प्रयोग किये जाते हैं। दूसरा 'ओउएठणं' संस्कृत शब्द 'अवगुण्ठन' का विकृत रूप है। अस्तु, प्राकृत में परिवर्त्तन सदा से होते आये हैं। इसका प्रामाणिक प्रमाण यह है कि प्राकृत ही का रूप तो 'शौरसेनी' और 'मागधी' है। फिर इन दोनों में परस्पर भेद कितना है सो देखिये। जैसे शौरसेनी में 'इदानी' शब्द का 'इ' लोप हो जाता है और 'दाणी' बोला जाता है, उसी प्रकार 'तद्' का 'ता', 'एव' का 'य्येव' और 'ननु' शब्द का 'णम्' होता है। मागधी में 'अहं' शब्द का 'हगे' हो जाता है; जैसे 'हगे आगदा'। तिष्ठ का तकार 'च' हो जाता है जैसे 'चिट्ट तुमम'। रकार का लकार और णकार का नकार हो जाता है, जैसे 'तरुण' का 'तलुन' और 'रूत्त' का 'लुक्ख'। 'ल' का प्रयोग अब भी ज्यों का त्यों भोजपुरी भाषा में होता है जैसे 'गया' के स्थान में 'गयल'

और 'गयली' बोला जाता है। फिर यह कैसे मान लिया जाय कि प्राकृत से संस्कृत निकली है ? यदि संस्कृत शब्द ही के आधार पर प्रमाण अवलम्बित हैं, अर्थात् प्राकृत से जिसका संस्कार किया गया वही संस्कृत है, तो निवेदन है कि लड़कपन से सुनते आये हैं कि शब्द-शास्त्र के आचार्य पतञ्जलि इत्यादिकों का मत है कि शब्द अनन्त और नित्य हैं। यथा—

"इन्द्रश्चाध्येता, वृहस्पतिश्च प्रवक्ता, दिव्यं वर्ष सहस्रम् कालः, शब्दपारायणमुवाच नान्तं जगाम।"

"यदि इन्द्र पढ़ने वाले और वृहस्पति पढ़ाने वाले हों, और ये लोग देवताओं के हजार वर्ष तक पढ़ते-पढ़ाते रहें, तो भी शब्दों के अन्त को नहीं पा सकते।"

व्याकरण तो केवल भिन्न-भिन्न नियमों का बताने वाला है। यदि शब्द को नित्य मान लिया जाय और उसे मानना ही पड़ेगा; क्योंकि आद्यकाल से सभी आचार्यों ने उन्हें नित्य ही माना है; तो वे अवश्य ही विधि-अनुकूल होंगे। यदि ऐसी ही यथार्थता है तो संस्कृत ही के शब्द नित्य माने जा सकते हैं; क्योंकि देश और काल के अनुसार इनका रूप बदलता नहीं। यह परिवर्तनशील दशा

तो प्राकृत ही की है कि वह अपने रूप को समयानुसार बदलती रहती है। फिर इसे दृढ़ता-पूर्वक क्यों न कहना चाहिये कि संस्कृत ही से प्राकृत निकली है। इसके अतिरिक्त जब वेद अपौरुषेय और संस्कृत देव-भाषा मानी जाती है। यथा—

"संस्कृत स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता।"

—वाग्भट्टालंकार।

तब देवतों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्माजी के मुख से वेदों का उच्चारण हुआ होगा, तो इसी देव-वाणी संस्कृत में नकि प्राकृत में। तब भला प्राकृत कहाँ से आ जायेगी जिससे संस्कृत की उत्पत्ति मानी जाय? यह तो ऐसी ही परिहासमयी दलील हुई कि पुत्री जिसे माता कहती है वह उसकी माता है; क्योंकि अनुरूपता में तो वह माता के तुल्य है।

यह कह देना कि जिन प्राकृत के शब्दों का संस्कार हुआ वे ही संस्कृत-कोष में आ गये और शेष ज्यों के त्यों प्राकृत-सागर में पड़े हैं, सर्वथा अनुचित है; क्योंकि प्रथम तो संस्कृत और प्राकृत के नियम ही एक प्रकार के नहीं हैं, दूसरे यदि प्राकृत के शब्द होते तो वे भी उसी की

संस्कृति के अनुसार संस्कृत होते। जब ऐसी यथार्थता नहीं है तब ऐसा कैसे मान लिया जाय? संस्कृत तो आज भी अपने चिर संस्कार के साथ वर्तमान है; किन्तु प्राचीन प्राकृत आज कहाँ गई? इसका खोज तो अब जंगली मनुष्यों में भी नहीं मिलता। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि प्राकृत संस्कृत से निकली है।

पूर्वकाल में जब मनुष्य-जाति की वृद्धि हुई और एक स्थान में जीविका-निर्वाह का साधन सबके लिये सुलभ न रहा, तब उनमें से कुछ इधर-उधर अवश्य चले गये होंगे। संभव है कि कुछ दिन के पश्चात् पठन-पाठन उनमें कम पड़ गया हो और अक्षर-नियम का अनुसरण न करने से जिह्वा की लहराव-शक्ति केन्द्र-त्यागी हो गई हो। जब ऐसा हुआ होगा तब वाणी में अन्तर अवश्य पड़ गया होगा और अभ्यासादिक से वही उनकी भाषा बन गई होगी; किन्तु तिसपर भी कुछ न कुछ गंध उसमें संस्कृत की अवश्य शेष रही, जो आज भी प्राकृत क्या, सब भाषाओं में पाई जाती है, जिसपर विद्वानों ने कितने विवेचना-पूर्ण ग्रन्थ रच डाले हैं। सारांश यह कि संस्कृत ही से प्राकृत का जन्म हुआ है। इसी के साथ ही साथ यह भी मानना

पड़ेगा कि मानव-जाति के उस काल के पश्चात्, जब से कि उनमें संस्कृत-भाषा-सम्बन्धी शिथिलता आई, प्राकृत की स्थिति हो गई और प्राकृत के विधानों की शिथिलता होने पर अपभ्रंश और इसी का विकृत रूप पैशाची भाषा कहलाया। अतः तब से चार भाषाएँ साथ ही साथ मनुष्य-समाज में चलने लगीं और हर-एक भाषा अपने अनुकूल अपना साहित्य सब काल में रखती रही। जो भाषा परिष्कृत होती है उसके शब्दों में लालित्य अधिक होता है। बस, इतना तो भेद अवश्य होता है, नहीं तो एक ही बात भिन्न-भिन्न प्रकार से सभी कहते हैं।

रही वर्णन-शैली की बात। सो जितनी ही संबर्धित भाषा होगी उतनी ही उत्तम रचनाएँ उसकी होंगी। पूर्वकाल में आजकल के समान भैंस घोड़े का बैर, विभिन्न-भाषा-भाषियों में न था। सब राज-सभा में एकत्र होते थे और राजा सबको पृथक्-पृथक् आसन देता था, जैसा कि महाकवि राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' ग्रन्थ में लिखा है—

"राजा का कर्तव्य है कि कवि-समाज का आयोजन करे। इसके अधिवेशन के लिये एक सभा-मंडप बनवावे।

उसके बीच अपने बैठने को एक हाथ ऊँचा चबूतरा बनवावे। उत्तर ओर संस्कृत-भाषा के कवि बैठें। यदि कोई ऐसा कवि हो जो कई भाषाओं में कविता कर सकता हो, तो जिस भाषा में उसकी अधिक गति हो वह उसी भाषा का कवि समझा जाय। यदि कोई ऐसा कवि है जो कई भाषाओं में समान रूप से कविता करने में कुशल है तो वह जब जहाँ चाहे तहाँ तब स्वच्छन्दतापूर्वक बैठे। इनके पीछे वेद-विद्या में प्रामाणिक वैदिक, पौराणिक और स्मृति-शास्त्र के जानने वाले, वैद्य, ज्योतिषी आदि बैठें। पूरब की ओर प्राकृत भाषा के कवि बैठें। इनके पीछे नट, नर्त्तक, गायन, वादक, व्याख्यान देने वाले, कुशीलव-कथिक, तबला मृदंगादि बजाने वाले बैठें। पश्चिम की ओर अपभ्रंश-भाषा के कवि बैठें। इनके पीछे चित्रकार, रँगनेवाले, नग जड़नेवाले, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लुहार इत्यादि बैठें। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि बैठें। इनके पीछे वेश्या तथा वेश्या-सेवी, रस्सों पर नाचने वाले नट, जादूगर, मल्ल, सिपाही इत्यादि बैठें। ऐसी सभा में राजा काव्यगोष्ठी करके काव्यों की परीक्षा करे; और उसी समय सभा में पारितोषिक भी दिया जाय। यदि कोई काव्य लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण हो तो

उसी के अनुसार उस कवि का सम्मान हो। ऐसी काव्य-गोष्ठी अन्तर देकर करे।"

इससे सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में भी एक भाषा से अधिक भाषाएँ थीं और सबमें कविता भी होती थी। उस समय भी संस्कृत सर्वश्रेष्ठ भाषा मानी जाती थी; क्योंकि दूसरी भाषाओं के परिनिष्ठित गाने-बजाने वाले और नाचने वाले ही थे। तब भला कौन बुद्धिमान कह सकता है कि प्राकृत से संस्कृत का जन्म हुआ? ऐसी काव्यगोष्ठी करने की यथार्थता चाहे जो कुछ हो; पर अनुमान किया जाता है कि संस्कृत की ओर सब भाषा-भाषियों को प्रवृत्त करने ही के लिये ऐसी सभा की जाती रही हो।

किसी एक आधुनिक विद्वान का मत है कि प्राकृत के न रहने से अपभ्रंश भाषा का उदय हुआ। यदि ऐसी यथार्थता वास्तव में होती तो महाकवि राजशेखर अपभ्रंश भाषा को समान अधिकार सभा में क्यों दिलाते? अस्तु, अपभ्रंश समकालवर्ती भाषा थी। यदि इस समय की भाषाओं के साथ उपर्युक्त चार भाषाओं की तुलना की जाय तो संस्कृत तो ज्यों-की-त्यों अपने स्थान ही में रहेगी। प्राकृत का स्थान हिन्दी, अपभ्रंश का स्थान उर्दू और पैशाची

भाषा का स्थान ग्रामीण भाषा ले सकती है। यदि यह मेरा निश्चय केवल अनुमान की भित्ति पर अवलंबित माना जाय तो कोई हानि नहीं। पर महाकवि राजशेखर, काव्यकला-कुशल वाग्भट्ट इत्यादि आदर्श कवियों ने चारों भाषाओं को समकालीन माना है; फिर केवल प्राकृत के पश्चात अपभ्रंश का होना कैसे माना जा सकता है? प्रत्येक भाषा की प्रत्येक काल में एक अपभ्रंश भाषा होती है। यह कभी नहीं मान्य होसकता कि किसी भाषा के बोलने वाले सभी उसके व्याकरण के पंडित होते हों। उसका कुछ न कुछ भाग तो उससे अनभिज्ञ अवश्य होता है। यदि है तो उस भाग की बोली व्याकरण-सम्बन्धी नियमों से कैसे नियत की जा सकती है; क्योंकि उसके बोलने वालों की जिह्वा में शब्दों का स्वच्छंद लहराव क्यों न होगा? जब अन्न-कण किसी पात्र में नहीं रक्खे जाते, तब वे पृथ्वी पर स्वतः बिखर कर इधर-उधर फैल जाते हैं। उदाहरणार्थ, देशी बोली में 'प्लेग' को 'ताऊन' कहते हैं। जो पढ़े-लिखे हैं वे तो शुद्ध 'ताऊन' कहते हैं, किन्तु जो पढ़े-लिखे नहीं हैं वे उसे 'ताऊँध' 'ताऊंड' 'तउना' आदि नामों से पुकारते हैं। अस्तु, हर-एक भाषा के साथ-ही-साथ अपभ्रंश

भाषा भी उत्पन्न होती है और समानान्तर रेखा (Parallel Lines) के समान उसकी भी स्थिति रहती है। यदि राज्य-परिवर्तन अथवा राजा की अभिरुचि किसी अन्य नवीन भाषा की ओर हुई अथवा वह उस ओर झुका तो देश-व्याप्त-भाषा की अपभ्रंश भाषा उस नवीन भाषा के भी शब्द लेने लगती है और नवीन भाषा राजमान्य होने से उसका प्राधान्य हो जाता है। तब वह अपभ्रंश भाषा धीरे-धीरे उसी के शब्द अपनाने लगती है; किन्तु देश-व्याप्त भाषा के भी शब्द उसमें रहते हैं। जैसे प्राकृत की अपभ्रंश भाषा में उर्दू, प्राकृत और संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं। यथा—

"पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु, तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिमि मच्छलिय, तल्लो विल्लि करंत॥"

इसमें 'विरहाग्नि' और 'जल' शब्द संस्कृत के हैं। 'थोड़इ' और 'मछली' उर्दू के और शेष प्राकृत से सम्बन्ध रखते हैं।

इस दीन लेखक का तो यही विचार है कि अप्रभ्रंश भाषा देश-व्याप्त-भाषा की समकालीन होती है। फिर यथार्थता जो कुछ हो, उसे विद्वान जानें।

ऊपर कह आये हैं कि प्राकृत का एक रूप शौरसेनी भी है। भारतवर्ष के सम्राटों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ होने से वहाँ की भाषा सर्व-काल से परिमार्जित होती चली आई है। चाहे संस्कृत-काल में, चाहे प्राकृत-काल में हो, वहाँ की भाषा में मधुरता सदा ही रही है। अस्तु, शौरसेनी, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और फारसी का मिश्रण ही 'ब्रजभाषा' कहलाया। उदाहरणार्थ ब्रजभाषा के निम्नांकित पद्यों को देखिये—

गोपिन सँग निसि सरद की, रमत रसिक रस रास।
लहाछेह[1] अति गतिन की, सबन लखे सब पास॥
दुरै न निघरघटौ[2] दिये, ए रावरो कुचाल।
विष सी लागति है बुरी, हँसी खिसी को लाल॥
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता[3] रंग॥
अपने अँग के जानि कै, जौबन नृपति प्रबीन।
स्तन मन नयन नितंब को, बड़ो इजाफा[4] कीन॥

---

(१) चंचल गति, जल्दी करना; (२) दुलखना, हँसी में उड़ा देना; (३) एक रंगीन कपड़ा जिसके दो रंग दो किस्म के हों, धूपछाँह; (४) वृद्धि।

नहिं अन्हाय नहिं जाय घर, चित चहुँट्यो[१] तकि तीर।
परसि फुरहरी[२] लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर॥
सबही तन समुहाति छन, चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा[३] लौं दीठि॥

यह जो कुछ ब्रजभाषा का सुधरा हुआ रूप आज देखा जाता है सब संवत् १९१४ अथवा उसके आसपास का है। पहले तो प्राकृत का प्रभाव इसपर अधिक था। इस परिवर्तन का कारण जो कुछ हो; पर मेरी समझ में तो यही आता है कि मुसल्मानों की राज-भाषा फारसी यहाँ जम चुकी थी। राज-सम्बन्धी लिखा-पढ़ी फारसी ही में होती थी। उसके शब्दों के अपभ्रंश देश-भाषा अपनाती गई। ज्यों-ज्यों फारसी के अपभ्रंश शब्द इसमें आते गये त्यों-त्यों प्राकृत दूर होती गई और क्रिया कारक भी बदलते गये। दूसरी ओर इसलाम-धर्म की प्रवृद्धि ने हिन्दुओं में धर्मप्रवृत्ति इतनी तीव्र की कि देश-देश में साधु-सन्त उत्तमोत्तम रचना करने लगे। श्रीसूरदासजी तथा श्रीतुलसीदासजी

(१) चिपटना, (२) कँपकँपी, (३) दिशा जानने का यन्त्र-विशेष जिसकी सुई सर्वदा पश्चिम की ओर रहती है, दूसरी ओर हटा देने परभी पश्चिम ही को चली जाती है।

आदि हिन्दी को संस्कृत-शब्दों से सजाने लगे। परिणाम यह हुआ कि अब बोलचाल की भाषा को फारसी अपने रंग में अधिक न रँग सकी। संस्कृत के पुराण आदि ग्रन्थों का पारायण भी प्रत्येक ग्राम और नगर में होता था। इससे भी मन संस्कृत के शब्दों को अपनाने की ओर झुका।

बोलचाल की भाषा में संस्कृत-शब्दों के तत्सम अथवा तद्भव शब्दों की वृद्धि होती गई और वही बोलचाल की भाषा हिन्दी बन गई। कारक, क्रियाएँ, समासादि सब संस्कृत के अनुसार ही प्रयोग होने लगे। इसकी इतनी धाक बँधी कि मुसलमान कवियों को भी, जिन्हें बोलचाल की भाषा में कविता करने का शौक हुआ, संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग करना पड़ा, जो कि उस समय की बोलचाल की भाषा में आ चुके थे। रहीम और रसखानि की कृतियाँ उदाहरण में दी जा सकती हैं। पर भाग्यवशात् अथवा अभाग्यवशात् जब से उर्दू ने राज-भाषा अंग्रेजी के साथ अदालतों में प्रवेश पाया, तब से फिर फारसी ने एक पलटा खाया और कठिन फारसी के शब्द अदालतों में प्रयोग किये जाने लगे, जो मुगल-

बादशाहों के समय में होते थे। जो फारसी के शब्दों का प्रयोग अपनी बोली में न करे अथवा न कर सके वह सभ्य ही न माना जाता था। परिणाम यह हुआ कि गाँव-गाँव में और हिन्दुओं के घर-घर में भी 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' नामक पुस्तकें देख पड़ने लगीं। हिन्दी का नाम तो कचहरियों में कोई जानता तक न था और फारसी के शब्दों का अपभ्रंश बोलचाल की बोली में बढ़ता गया, जैसे 'साक्तुलमिल्कियत' का अपभ्रंश 'सातुलमिलकियत' या 'सादुलमिलकियत' आज तक बोला जाता है। चूँकि संस्कृत-भाषा नागरी अक्षरों में लिखी जाती है और उसका सम्बन्ध हिन्दुओं से अधिकतर है, जो देश में अधिकांश संख्या मे हैं भी; इस लिये नागरी अक्षरों में हिन्दी का प्रचार मदरसों में होने लगा; किन्तु बहुत कम हिन्दुओं के लड़के हिन्दी पढ़ते थे। कारण यह था कि उर्दू अदालती भाषा थी। अतः वह अर्थकरी विद्या थी और हिन्दी की कहीं पूछ न थी; फिर उसे पढ़ें क्यों? अभी कुछ दिन से सर एंटानी मैक्डानल्ड साहब, जो उस समय संयुक्त प्रान्त के गवर्नर थे, हिन्दी के प्रवेश का निषेध अदालतों से हटा दिया और कम से कम 'सम्मन' तो हिन्दी-भाषा में भी

लिखे जाने लगे। अर्जी भी हिन्दी में दी जा सकती है; पर अभी तो वही उर्दू का क्रम जारी है।

अस्तु, जब से उर्दू का प्रवेश अदालतों में हो गया तब से उर्दू की पहुँच गाँवों की झोंपड़ियों तक हो गई। सम्मन और मुसन्ना वहाँ भी छप्परों में टँगे उर्दू की पताका का काम दे रहे हैं। जब इस प्रकार से उर्दू सारे प्रान्त में घर-घर व्याप्त हो गई और जैसा ऊपर कह चुके हैं, बोल-चाल की सभ्य भाषा मानी जाने लगी, उस समय एक गँवार भी यही प्रयत्न करने लगा कि एकाध फारसी का शब्द वह भी जान ले। तब उर्दू के साहित्य का उदय हुआ और जगह-जगह 'मुशायरा' होने लगे। पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इसका प्रभाव इसी से देखा जा सकता है कि हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ रामायण, महाभारत और भागवत भी हिन्दुओं ही द्वारा उर्दू की लिपि में लिखे गये।

इसी बीच में हिन्दी के भाग्य का उषा-काल आया और कुछ माननीय पुरुषों ने हिन्दी-प्रचार के लिये प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। इधर-उधर उसकी संस्थाएँ भी खोली गईं। दूसरी ओर उर्दू-काव्य मँजते-मँजते परिष्कृत हो गया था। कुछ लोग ऐसे पैदा हो गये—जैसे 'श्री

हाली'—कि उन्होंने बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते शब्दों में कविता करना आरम्भ कर दिया। फिर क्या था? उर्दू कविता भी सर्वसाधारण में जा पहुँची। पीछे जब हिन्दी की उन्नति होने लगी, तब हिन्दी के शुभाकाँक्षी पुरुषों ने उर्दू के ढाँचे में हिन्दी को ढालने का प्रयत्न किया, क्योंकि उस समय अनेक हृदय में उर्दू की रीति ही आदर्श के स्थान पर विराजमान थी। अस्तु, उनका प्रयत्न इस बात के लिये होने लगा कि कारक और क्रियाएँ जो गद्य में प्रयोग की जाती हैं, पद्य में भी प्रयोग की जायँ। इतना ही नहीं, वरन् बोलचाल और संस्कृत के शब्द भी ज्यों-के-त्यों रख दिये जायँ और इस भाषा का नाम रक्खा 'खड़ी बोली'। उस समय नाम मात्र के लिये जो दो एक पत्र-पत्रिकाएँ थीं उनके संपादकों ने भी उसी को आश्रय दे दिया। फिर जहाँ देखिये वहीं खड़ी बोली खड़ी देख पड़ने लगी। चूँकि अनुकरण उर्दू ढंग का किया गया था इस लिये उस देशव्याप्त ब्रजभाषा को इन लोगों द्वारा ठेस पहुँची। इन लोगों का ध्येय तो हिन्दी की उन्नति का अवश्य था; किन्तु इस बात का ध्यान नहीं रक्खा गया कि क्या वे सारे हिन्दी-साहित्य को अपने साथ ले चलने में समर्थ होंगे? किसी

किसी ने तो इसकी किंचित् चिंता ही न की। सत्य बात तो कहनी ही पड़ती है कि वे लोग देशव्यापी ब्रजभाषा को अपने द्वार पर भी नहीं खड़ा होने देते थे। परन्तु उसी के साथ उन लोगों ने हिन्दी का प्रगमन संस्कृत की ओर कराया और तब से हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयोग किये जाने लगे। किन्तु पायजामा के साथ तो बालाबन्दी अच्छी लगती नहीं। पर अच्छी लगे चाहे न लगे अब तो साथ ही हुआ है। उनका यह कथन है कि जैसा गद्य में बोला जाता है वैसा ही पद्य में भी लिखा जाय। ठीक है। यही तो सदा ही से होता चला आया है और आगे भी इसी प्राकृतिक नियम का पालन किया जायगा। परन्तु ऐसी बात तो न यथार्थ थी और न अब भी है। क्या हम सब जो बोली अपने घर में बोलते हैं वही खड़ी बोली कहलाती है? यदि वही हो तब तो ठीक है, नहीं तो यह कहना ही पड़ेगा कि उर्दू मोहिनी ने अपना साहित्य, हिन्दी के प्रेमियों को अवश्य पिला दिया और वे उसके नाज़-नखरों पर ऐसे मुग्ध हो गये कि उसी के हो गये। अपनी बोलचाल की भाषा ब्रजभाषा को दिया छोड़, और उर्दू के साथ दामन जोड़ संस्कृत की ओर लपके। पर ज्योंहीं

उर्दू ने ज़रा अपने हाथ कड़े किये कि 'मियाँ कहाँ जा रहे हो' बस फिर क्या, जहाँ-के-तहाँ रह गये !

आज देखिये, हिन्दी के समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में उर्दू का कितना आदर किया जाता है और मातृभाषा ब्रजभाषा की ओर देखा तक भी नहीं जाता। इस क्षुद्र लेखक का तो यह अनुमान है कि सूखे कुएँ में बाहरी पानी भरने से सबकी तृप्ति न होगी, वरन् उसी कुएँ की मिट्टी आदि निकाल कर साफ़ करने से उसी में जल का स्रोत निकल आवेगा। जब तक ब्रजभाषा अपनाई नहीं जाती और उसका सुधार नहीं किया जाता तब तक ऐसी माँग-जाँच से काम न चलेगा। लोग कह बैठते हैं कि ब्रजभाषा तो वह है जो ब्रज में तथा उसके आसपास बोली जाती है, सारे प्रान्त की भाषा तो नहीं है। ऐसे तो अवधी, बुंदेलखंडी, बैसवारी, भोजपुरी अनेक हैं। उत्तर में निवेदन है कि ब्रजभाषा एक देश-विशेष की भाषा नहीं वरन् देशव्यापी भाषा है और ये सब भाषाएँ उसीकी अपभ्रंश हैं। इनमें कोई ऐसी बोली नहीं है जिसमें रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्द, कारक और क्रिया के साथ ब्रजभाषा के समान, अथवा उसके आधार पर निर्मित न हुए हों।

साहित्य की भाषा बोलचाल की भाषा से सदैव पृथक् रही है। इससे यह लाभ होता है कि बोलबाल की भाषा भी साफ़ होती जाती है। पर ऐसा होता किसके साथ है? जिससे बोलचाल की भाषा और साहित्य-भाषा से सीधे सम्बन्ध हो। पर जिस जाति की साहित्य-भाषा के साथ उसकी बोल-चाल की भाषा का सम्बन्ध अच्छा न हो उसकी बोल-चाल की भाषा को क्या लाभ हो सकता है और उस जाति की जातीयता का प्रतिपादन वह साहित्य-भाषा नहीं कर सकती, जिसका शृंगार उसकी बोलचाल की भाषा से नहीं होता।

मुझे महाकवि वाग्भट्ट का यह कथन अक्षरशः सत्य मालूम होता है कि—

"परार्थबन्धप्रसक्तः कविः सुखमग्नो
नाभिनवार्थोत्पत्तये क्लिश्यते।"

"जो कवि दूसरे की रचना में आसक्त सुखमग्न है वह नवीन अर्थ की उत्पत्ति के लिये यत्न नहीं कर सकता।"

ठीक यही हाल आज हिन्दी-भाषा तथा उसके साहित्य का है। खैर, जो कुछ हो गया सो हो गया, अब से भी यदि सँभल जायँ तो अच्छा है। मेरे विचार में व्रजभाषा-साहित्य-सेवियों को चाहिये कि वे उल्टे पैरों प्राकृत की ओर

चलने का अनुचित यत्न न करें, वरन् उनको सीधे संस्कृत की ओर गमन करना चाहिये। ठीक संस्कृत के तत्सम शब्द स्वच्छंदता-पूर्वक रक्खें और यदि आवश्यकता पड़े तो उसी प्रकार उसकी क्रिया तक का भी प्रयोग करें, जैसा कि श्री तुलसीदास आदि महाकवियों ने भी किया है। यथा—

"कनक-गिरि-शृङ्ग चढ़ि देखु मरकट कटक,
बदति मंदोदरी परम भीता॥"

—कवितावली-रामायण, लंका-काण्ड।

खड़ी बोली से कभी भी न तो घृणा करें, न उसे प्रतिद्वंदी समझें, वरन् उसको भी यथासम्भव् अपनाने की चेष्टा करें। दूसरी ओर खड़ी बोली के साहित्य-रसिक उर्दू का अंचल छोड़ दें और व्रजभाषा को गँवारी बोली न समझें। जब तक वे ऐसा न करेंगे तब तक हिन्दी का उत्थान नहीं हो सकता। जब तक पुष्प के साथ सुगंधमय पराग-कण रहते हैं, तब तक उससे सुगंध की उत्पत्ति नित्य होती रहती है, किन्तु ज्यों ही वे वायु के साथ उड़े, त्योंही जो कुछ सामग्री पास थी वह भी उड़ गई और वह शुष्क होकर नष्ट हो गया। उर्दू, मरहठी और बँगला आदि के साथ भागने से काम न चलेगा, क्योंकि यहां के हिन्दू, न

मुसलमान, न बंगाली और न दक्षिणी ही बनेंगे और न ऐसा वे बन ही सकते हैं।

जो मनुष्य नदी में कंठगत जल में खड़ा है उसको दो चार मेघ-जल-बिन्दु कैसे आकर्षित कर सकते हैं ? यदि मान लिया जाय कि वहाँ मूसलधार पानी ही बरसे, तो भी वह सब नदी ही में जाकर उसी का रूप हो जायगा। पर एक बात होगी कि उसके रक्षक कूलों का रूप विरूप हो जायगा और किंचित्-काल के लिए नदी का निर्मल जल भी मृण्मय हो जायगा। उसी प्रकार जिस भाषा के ऊपर अन्य भाषाओं का आक्रमण होता है उसका रूप विकृत हो जाता है और उसके प्रेमियों को भी बड़ा कष्ट मिलता है और उनकी पूँछ भी संसार में नहीं होती। पर जो भाषा तड़ाग के समान पूर्ण रूप से अपने साहित्य-रूपी जलसे युक्त रहती है, उसमें बाहरी भाषाके जल की बाढ़ भी आती है तो वह ऊपर ही ऊपर बाहर वहा देता है, किन्तु उसकी कोई हानि नहीं होती। इसका कारण यह है कि उसने अपने को पूर्ण-रूप कर रक्खा है। अस्तु, हिन्दी की उन्नति माँगने-जाँचने से न होगी, वरन् अपने अमूल्य साहित्य को अपनाने से होगी; और वह साहित्य का भंडार व्रजभाषा में

ही है, जो कि खड़ी बोली और ब्रजभाषा का विभेद न रखने ही से हो सकेगा। वास्तव में भेद भी तो नहीं है; क्योंकि खड़ीबोली के कवियों को भी ब्रजभाषा के बिना, दो-चार छंद भी बनाना कठिन है और ब्रजभाषा-सेवी भी खड़ीबोली पहले ही से अपनाते आये हैं। जब ऐसी बात है तो दोनों को मिलाकर ही चलना चाहिए। हाँ, एक बात ज़रूर है कि आजकल की खड़ी बोली उर्दू की ओर अधिक मुड़ गई है। उससे उसे हटकर अपने ठीक स्थान पर आ जाना चाहिये। पुराने ब्रजभाषा के कवियों ने खड़ीबोली के शब्दों और क्रियाओं तक का भी प्रयोग किया है। उदाहरण निम्नांकित पद्यों में देखियेः—

हरषि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सँग साथ।
आँखन ही में हँसि धरयो, सीस हिये पर हाथ॥
बिलखी लखै खड़ी खड़ी, भरी अनख बेराग।
मृगनैनी सैनन भजै, लखि बेनी के दाग॥
खिंचे मान अपराध ते, चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत दीठि तजि रिस खिसी, हँसे दुहुन के नैन॥
त्रिबली नाभि दिखाय कै, सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओर है, चली भली विधि चाहि॥

मानिये "बेनी प्रवीन" कही,
औ न मानिये तौ क्यों पलानत सैधो।

❁ ❁ ❁

सठि बैठिये "प्रवीन बेनी" कौने हेत, जौने-
तौने कह्यो तौ कछू न मेरे ख्याल है।

—नवरसतरंग।

❁ ❁ ❁

जागत चीरु जो पाइये, दौरि लागिये साथ।
सपने को चितचोरु क्यों, आवै अपने हाथ॥

❁ ❁ ❁

वाम चोरटी की कथा, कहिये काहि सुनाइ।
जागेहू नहिं मिलत है, सपने गई चुराइ॥

❁ ❁ ❁

निशि अँधियारी तऊ प्यारी परवीन, चढ़ि—
माल के मनोरथ के रथ पै चली गई।
कहै "पद्माकर" तहाँ न मनमोहन सों,
भेंट भई सटकि सहेट तैं अली गई।
चंदन सों चाँदनी सौं चन्द्र सौं चमेलिन सौं,
और बनबेलिन के दलनि दलै गई।

आई हुती छैल के छलै को छल छंदनि सों,
छैल न छल्यो है, आपु छैल सों छली गई।

खड़ी बोली वाले कवि भी व्रजभाषा के प्रयोग से अपनी कविता को नहीं बचा सके। जैसे—

बहुत दिनों सुध बिसराने से, मेरी मिट्टी सूख गई।

—रुबाइयात उमरखय्याम।

❀ ❀ ❀

तेरे जाये सदा याद आते रहे।

❀ ❀ ❀

मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें।
निज गृह में गृह नहीं देखता हूँ तुम्हें॥

❀ ❀ ❀

घर न देख कर मुझे निहार निभाइये।

❀ ❀ ❀

वृत्त ले तो फिर उसे निभा दे रीति से॥

❀ ❀ ❀

ज्यों पुरेन प्रफुल्ल पद्मिनी तर चली।
चला सहारा दिये हंस सम युग बली॥
करके यमुना स्नान बिलम वट के तले।
लक्ष्मण सीताराम विकट बन को चले॥

❀ ❀ ❀

नाथ सभी कुछ त्याग जान कर झूठ ही।
खड़े तपस्वी तुल्य कहीं ये ठूँठ ही॥

—साकेत।

❀ ❀ ❀

जेमों विध सों परस जिमाऊँ।
लै बिजना मैं ब्यार डुलाऊँ॥
सुंदर गाढ़ो दही जमायो।
बढ़िया सिरीखंड बनवायो॥
ठंढो नीर सुवासित प्याऊँ।
पाछे पानन बिरी पवाऊँ॥

—मुंशी अजमेरी।

अस्तु खड़ी बोली बिना ब्रजभाषा के और ब्रजभाषा बिना खड़ी बोली के अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकती। तब दोनों को गंगा-यमुना की तरह मिला करके ही काम करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो खड़ी बोली को उर्दू-साहित्य से अपना पेट भरना पड़ेगा। यह बात ज़रूर है कि संस्कृत की ओर झुकाव है। पर ऐसा सभी थोड़े ही कर सकते हैं। जिनका संस्कृत का अध्ययन नहीं है, उन्हें तो प्रचलित भाषाओं में से किसी को अपनाना

ही पड़ेगा। व्रजभाषा यदि त्याज्य मानी जायगी, तो फिर उर्दू का राज्य एक बार हो जायगा और उसके लक्षण भी अभी से देखे जा रहे हैं। यह आवाज़ सुनाई देने लगी है कि उर्दू के शब्द लेने चाहिये। इसका क्या मतलब है? व्रजभाषा तो निरादृत है ही; किन्तु क्या संस्कृत के शब्द जनता में इतने प्रचलित हैं जितने उर्दू के? तब उर्दू के शब्द क्यों न अपनाये जायँगे? यदि उर्दू का पूर्ण प्रवेश हो जायगा तब उसका साहित्य देखने की इच्छा होगी और इस तरह से उर्दू फिर लिखी-पढ़ी जाने लगेगी। फिर क्या? हिन्दी का नामोनिशान न देख पड़ेगा।

अस्तु हिन्दी-साहित्य-सेवियों को चाहिये कि आपस का मनमुटाव हटाकर हिन्दी-साहित्य को ख़तरे से बचावें।

काव्य

संस्कृत-भाषा के विद्वान मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्य-प्रकाश' नामक ग्रंथ में काव्य के विषय में लिखा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेशयुजे॥"

अर्थात् काव्य से यश, द्रव्यलाभ, व्यवहारज्ञान, दुःख-

नाश, तत्काल आनन्द और कांता के समान रमणीय उपदेशों की प्राप्ति होती है।

जितना सहज आजकल लोगों ने काव्य को मान रक्खा है, वैसा वह है नहीं। तुक जोड़ना कविता नहीं कहाती। पूर्वाचार्यों ने काव्य के लिये सामग्री का वर्णन किया है—

"साधु शब्दार्थ संदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुट रीति रसोपेतं काव्यं कुर्वति कीर्त्तये॥"

"उत्तम शब्द और अर्थ का संदर्भ (ग्रंथन) गुण-अलंकार से भूषित, स्फुट रीति और रसों से युक्त, काव्य, कीर्ति के लिये, करें।"

पर यह सब सामग्री मिले कैसे? उसका भी उपाय बताते हैं—

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषम्।
भृशोत्पत्ति कृदभ्यास इत्याद्य कवि संकथा॥"

"उस काव्य का कारण प्रतिभा, व्युत्पत्ति भूषण, अत्यन्त अभ्यास बोध का करने वाला होता है। ये तीन कवि की सामग्री हैं।"

प्रतिभा—नव-नव-बोध-प्रकार-शालिनी बुद्धि प्रतिभा

कहाती है, जिसमें नये-नये विचार उत्पन्न हों। एक जरा-सी बात सुना, तत्काल उसका विस्तार-वर्णन कर दिखाया। जिस पदार्थ को कभी देखा नहीं, केवल सुना है; किन्तु उसका रूप ऐसा प्रतिभा द्वारा वर्णन कर दिया मानों वर्णित विषय को स्वचक्षु से देखा है। उत्तम पद, नव्यार्थ युक्ति इत्यादि बोध कराने वाली, कहीं न रुकने वाली एवं सर्वतोमुखी बुद्धि 'प्रतिभा' कहाती है।

जिस प्रतिभा से कवि काव्य करता है, वह "कारयित्री" है। कारयित्री तीन प्रकार की होती है—सहजा, अर्जिता और औपदेशकी। जो पूर्व-जन्म के संस्कार से प्राप्त है, वह "सहजा"; जो इस जन्म के अभ्यासादि से प्राप्त हुई, वह "अर्जिता"; और जो मन्त्रशास्त्र आदि के उपदेश से प्राप्त हुई है, वह "औपदेशकी" प्रतिभा कहाती है। और दूसरी "भावयित्री" प्रतिभा है, इसके द्वारा मनुष्य काव्य समझने में समर्थ होता है।

अब प्रश्न होता है कि यदि प्रतिभा ही काव्य का बीज है, तो व्युत्पत्ति का प्रयोजन ही क्या है? अस्तु, व्युत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

व्युत्पत्ति— व्याकरण, धर्मशास्त्र अर्थ शास्त्र काम

शास्त्र, छन्दःशास्त्र अलंकार-शास्त्र, मणि-गज-रत्नादि-परीक्षा-शास्त्र तथा वेदादि में असाधारण बोध को 'व्युत्पत्ति' कहते हैं। जब तक कवि शब्दशास्त्र में प्रवीण न हो तब तक वह क्रियापद के रखने में निःसंशय नहीं हो सकता।

अभ्यास—गुरु के पास जो निरंतर रचना करता है, उसको 'अभ्यास' कहते हैं।

जिसके मन में कवि बनने की लालसा हो वह प्रथम गुरु के पास कुछ छंदों में रचना करने का अभ्यास करे। वह इसका प्रयत्न न करे कि उसकी कविता सार्थक हो, वरन् वह अर्थशून्य पदावली की रचना करने का अभ्यास करे। जब वह छंदों की रचना को अपने अधीन कर ले, तब किसी एक अलंकार के अनुसार कविता रचने की चेष्टा करे। जब उसमें सफल हो जाय, तब अन्य अलंकारों के अनुसार रचना करे। जब इसका पूर्ण अभ्यास हो जाय, तो व्यंग भाव के लाने में प्रवृत्त हो, पश्चात् चिर अभ्यास होने से कविता की सारी सामग्री कवि की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

पर इस बात का सदैव ध्यान रक्खे कि दूसरे कवि के अर्थ को कभी लेने की चेष्टा न करे।

"परार्थ बन्धात् क्रियमाणेनार्थ विषयाभ्यासेन
कविः काव्यकर्ता तस्कर इव तस्कर तुल्यो भवति।"

दूसरे की रचना किये हुए विषयके अभ्यास पर काव्य का करनेवाला चोर के तुल्य है। जो दूसरे की रचना में आसक्त हो सुखमग्न रहता है, वह फिर नवीन अर्थ-उत्पत्ति के लिये यत्न नहीं करता। किन्तु समस्या में दूसरे का काव्य ग्रहण करना कवि के लिये गुण है। विद्वान कवि दूसरे के काव्य के अर्थानुकूल समस्यापूर्ति के हेतु अपनी प्रतिभा से नव्य अर्थ युक्त रचना करे।

काव्य की उत्पत्ति के लिये सामग्री—मन की प्रसन्नता, प्रतिभा, प्रातःकाल—उस समय मन्द बुद्धि वाले के भी बुद्धि होती है, उद्योग, अनेक शास्त्रों को देखना, ये सब अर्थ के प्रकाश करने के कारण हैं। जो वस्तु वर्णन की जाय, उसके अन्य सम्बन्धी पदार्थों का भी वर्णन करके उसकी पुष्टि करे।

पूर्वार्ध भाग में यथेष्ट अर्थ को प्रकाश करे, और उत्तरार्ध में कथित अर्थ के प्रतिपादनार्थ उपमादि वर्णन करे। जैसे—

"अन्तर्वेद भूमि यह सोहै, पुन्य रूप यहि जानो।
अमित काल सों बसत संत जन, तप-निकेत शुचि मानो॥

दक्षिण यमुना उत्तर गंगा, गलबाहीं भल कीन्हे।
मनु दुइ दुहिता भेंटत जननी, छपटि अङ्ग त्यहि लीन्हे ॥"

एक ही अर्थ को संक्षेप में और विस्तार में वर्णन करने और सब वर्णित विषय में प्रयोग किये गये सब अलङ्कारों में एक अर्थ की स्थापना करने का अभ्यास करे। काव्य में पद-दोष और वाक्य-दोष होते हैं। उनको बुद्धिमान अपनी कविता में न आने देवै।

पद-दोष—अनर्थक—निष्प्रयोजन, व्याहतार्थ-विरुद्ध अर्थवाला, अलक्षण-व्याकरण-हीन, स्वसङ्केत प्रक्लृप्तार्थ—अपना कल्पित अर्थ स्थापित करना, असम्मत-अनभिमत, ग्राम्य—ग्राम्य शब्द (पर इसको हास्यरस की कविता में अवश्य प्रयोग करे)।

वाक्य-दोष—खंडितवाक्य पूर्ण न हो। व्यस्त सम्बन्ध-सम्बन्धी पद दूर हों। असम्मित—शब्द और अर्थ दोनों तुला की तौल के समान तुल्य न हों। अपक्रयम—प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय क्रम का उलंघन, जैसे भोजन करके स्नान वर्णन करना। असत्क्रियाभ्रष्ट—अच्छी क्रिया छन्द जिसमें न हो, भ्रष्ट, यतिभ्रष्ट और रीतिभ्रष्ट दोषों को कवि बचावे।

उसी के साथ निम्नोक्त गुणों के होने से कविता उत्तम होती है—

औदार्य—उत्तम पदावली का प्रयोग। समता—रचना की अविषमता। कांति–रचना की उज्जवलता। अर्थव्यक्ति–जिससे अर्थ प्रगट हो, अर्थात् अल्प प्रबन्ध में वैसे ही शब्द प्रयोग किये जायँ, जिन शब्दों से स्पष्ट अर्थ प्रगट हो। प्रसन्नता—जिससे शीघ्र अर्थ-बोध हो। समाधि—अन्य पदार्थ का गुण अन्य पदार्थ में स्थापन किया जाय—जैसे शत्रुओं की स्त्रियों के आँसुओं से राजा का यश पल्लवित हुआ।

श्लेष—वे शब्द जिनके एक से अधिक अर्थ हों। ओज—जिसमें समास का प्राचुर्य हो। माधुर्य—रस-सहित अर्थयुक्त पदावली हो। सुकुमारता—जिसमें निष्ठुर अक्षर 'ट ठ ढ' आदि न हों।

"कवि रहस्य" में लिखा है कि काव्य का परिपाक नव प्रकार का होता है—(१) विचुमन्द पाक—आदि और अन्त में जो विरस हो; (२) वदरपाक—आदि में विरस अन्त में मध्यम; (३) मद्वीका पाक—आदि में विरस अन्त में सरस; (४) वार्ताक पाक—आदि में मध्यम

अन्त में विरस; (५) तिन्तिडी पाक—आदि और अन्त में मध्यम; (६) सहकार पाक—आदि में मध्यम और अन्त में सरस; (७) प्रामुक पाक—आदि में सरस और अन्त में विरस; (८) त्रपुस पाक—आदि में सरस अन्त में मध्यम; (९) नारिकेल पाक—आदि और अन्त में सरस।

इनमें १, ४, सर्वथा त्याज्य हैं। २, ५, ८ का संशोधन करना चाहिये और बाकी ३, ६ तथा ९ को ग्रहण करना चाहिये ।

उसी पुस्तक में लिखा है कि कवि तीन प्रकार के होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। जन्मांतरीय संस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है वह बुद्धिमान 'सारस्वत' कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भासित हुई है, वह अहार्यबुद्धि 'आभ्यासिक' कवि है। जिसकी वाक्य-रचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि 'औपदेशिक' कवि है।

काव्य-कवि के आठ प्रभेद हैं—(१) रचना कवि के काव्य में शब्द का चमत्कार रहता है; अनुप्रास, लम्बे समास, इत्यादि। (२) शब्द कवि—ये तीन तरह के होते हैं, एक जो नाम-शब्द (संज्ञा) का प्रचुर प्रयोग करते हैं।

दूसरे आख्यात (क्रिया) दोनों का प्रचुर प्रयोग करते हैं। तीसरे में नाम आख्यात दोनों का अधिक प्रयोग करते हैं। (३) अर्थकवि के काव्य में अर्थ का चमत्कार होता। (४) अलङ्कार कवि के काव्य में अलङ्कारों का चमत्कार होता है। (५) उक्ति कवि में उक्ति का चमत्कार। (६) रसकवि के काव्य में रस का चमत्कार। (७) मार्ग कवि के काव्य में मार्ग (ढङ्ग) का चमत्कार, और (८) शास्त्रार्थ कवि में शास्त्र के गूढ़ तत्वों को सरस रूप में वर्णन करने का चमत्कार रहता है।

इसी के साथ कवियों की दस अवस्थाओं का भी वर्णन है।

(१) काव्य विद्यास्नातका—जो कवित्व-सम्पादन की इच्छा से काव्य विद्या उपविद्या पढ़ने के लिये गुरु के पास जाता हो।

(२) हृदय कवि—जो मन ही मन काव्य करता है, उसे व्यक्त नहीं करता।

(३) अन्याय देशी—काव्य रचना करके कहीं लोग दुष्ट न कह दें, इस डर से दूसरे की रचना कहकर उसे प्रकाशित करता है।

(४) सेविता—काव्य करने का अभ्यास हो जाने पर पुरवासी कवियों में से किसी एक की रचना को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करना।

(५) घटमान—जो शुद्ध फुटकर काव्य तो करता है, पर कोई प्रबन्ध नहीं रचता।

(६) महाकवि—जो किसी एक तरह का प्रबन्ध-काव्य रचता है।

(७) कविराज—जो अनेक भाषाओं में भिन्न २ रसों के काव्यप्रबन्धों की रचना करता है। ऐसे कवि संसार में बहुत कम होते हैं।

(८) आवेशिक—जो मन्त्रादि उपदेश के बल से सिद्धि प्राप्त करके जिस समय उस सिद्धि का प्रभाव रहता है, तब तक काव्य करता है।

(९) अविच्छेदी—जो जभी चाहे निरवच्छिन्न कविता कर सकता है।

(१०) संक्रामयिता—जो मन्त्रसिद्धि के बल से अपनी सरस्वती का कन्याओं और कुमारों में संक्रमण कर सकता है।

इस प्रकार से काव्य तथा कवि-सम्बन्धी अनेक ग्रंथ

पूर्वाचार्यों ने निर्मित किये हैं। प्राचीन काल में कवि बनने के लिये बड़ी सामग्री जुटानी पड़ती थी। अर्थात् विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन, गुरु-सेवा, प्रकृति-निरीक्षण, पर्यटन, लोक-व्यवहार-कुशलता, सज्जनों का सङ्ग, दुर्जन-कर्म-विवेचना, उच्च मध्यम तथा नीच वर्ग के गुण-दोषों का अनुभव करना, वर्तमान दशा की गति की भूतकाल की अवस्था से तुलना करना, भूत तथा वर्तमान काल दोनों की दशाओं पर विचार कर भविष्य काल का अनुमान करना, वर्तमान धर्मनीति और समाजनीति एवं राजनीति को उनके केन्द्रों की ओर अभिगमन कराना, जहाँ स्पष्ट कहने से उल्टा फल पैदा होने का भय हो वहाँ पक्षी अथवा पशु के वर्णन करके भले अथवा बुरे परिणाम की सूचना देना; पर ऐसी असंदिग्ध भाषा में न वर्णन करना कि उसका भाव ही न समझ में आये।

अब मैं वर्तमान काव्य प्रवाह की ओर चलता हूँ। यह तो निर्विवाद है कि साहित्य की भाषा बोलचाल की भाषा के अनुकूल स्वतः बदलती रहती है, क्योंकि उसका प्रस्फुटन करने के लिये उस समय का वायुमंडल ही होता है और उस समय कवियों की जिह्वा उन्हीं शब्दों के निका-

लने में अभ्यस्त भी होती है जो उस समय लोकप्रिय होते हैं। फिर कविता की रचना ऐसेही शब्दों में होना अनिवार्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ज्यों-ज्यों उर्दू का विकास हुआ त्यों त्यों जिसे खड़ी बोली कहते हैं, वह मनुष्यों द्वारा बोली जाने लगी। फिर उसकी कविता का विकास होगा तो उसी बोली में, वह चाहे पूर्व भाषा की अपेक्षा उत्तम हो अथवा अनुत्तम; पर स्रोत बहेगा उसीका। उसी के साथ यह भी है जैसे उसने पूर्व की भाषा को हटा कर अपना आधिपत्य जमा लिया उसी प्रकार उसको भी आने वाली भाषा, व्यवहार-भाषा के स्थान से अवश्य दूर कर देगी। भाषा के विकास और ह्रास का मुख्य कारण राज-परिवर्तन हुआ करता है और स्वदेश के किसी प्रांत की अथवा किसी विदेश की भाषा, के कुछ शब्दों को भी उसमें स्थान मिल जाता है जहाँ के बोलने वालों के साथ नित्य व्यवहार करना पड़ता है, अथवा जो कुछ अधिक सुधरी हुई मानी जाती है, जैसे वर्तमान काल में बँगला और अँगरेजी भाषाओं के शब्द अपनाये जाते हैं, और तब उन्हीं का प्रयोग भी कविता में होने लगता है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि जब भाषा और ज्ञान जिस देश के समाज के बीच उच्च दशा में पहुँच जाते हैं अथवा पहुँचने को होते हैं तब वहाँ के कवियों में अर्थ एवं भाव को शब्दों की झाड़ी में छिपाने की अभिरुचि बढ़ जाती है। कहीं तो ऐसा करते हैं कि उन्हीं श्लेषार्थक शब्दों से काम लेते हैं, जिनसे अर्थ का बोध बहुत कुछ घुमा-फिरा कर हो जाता है, और कहीं उन शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनमें वास्तविक अर्थसूचक शब्दों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती हो। इसे सांकेतिक साहित्य कह सकते हैं। इसकी कुंजी कवि अपने पास रखता है। बिना कुंजी के कोई उसे खोल नहीं सकता, और जब वह रचना करने वाला कवि देखता है कि मेरा श्रम सफल हुआ, मेरा बंध किसी के द्वारा खोला नहीं जा सका तो वह किसी एक स्नेहपात्र को कुंजी दे देता है; तब उसका इष्टार्थ धीरे-धीरे सब पर प्रगट हो जाता है। फिर क्या, कवि की प्रशंसा होने लगती है। इसे हमारे यहाँ 'दिष्टकूटक' कहते हैं। इसके साथ अन्तर्लापिका बहिर्लापिका और चित्रालङ्कार का भी नाम लिया जा सकता है।

महाकवि कालिदास ने भी जिनका काव्य प्रसाद-गुण

के लिये प्रसिद्ध है इस दिष्टकूटक को अपनाया है, और इस नीरव-निनाद में अपने "राक्षस काव्य" का उन्नयन किया है।

"गोजं घृतं सुघृतवद्भिरमीभिरग्र्यम्।
गोभिः समुद्धरति यद्बहुधा हिमघ्नः॥
तद्गव्यमम्बरगतं शिखिजात्मसंस्थं।
विस्पंदमानमविवर्धयतीह गोजान्॥"

शब्दार्थः—हिमं हंति, बरफ का नाश करने वाला, कौन है? सूर्य। अतः हिमघ्नः = सूर्य हुए। अम्बरगतम् = आकाश में वर्तमान। शिखी वन्हिः ततो यातो धूमः सः आत्मा स्वरूपं यस्य सः तस्मिन् संस्था यस्य तत्। शिखि से पैदा होने वाले आत्मा के स्वरूप वर्तमान। शिखि हुई अग्नि, उसमें पैदा होने वाला आत्मा हुआ धुआँ, उसके स्वरूप के सदृश हुआ बादल। अतः शिखिजात्मसंस्थम् = धुएँ की तरह काले (बादल) में वर्तमान। गोषु भवं गव्यम् = किरण से उत्पन्न होने वाली वस्तु, अब सूर्य की किरणों से पानी बादलों द्वारा पैदा होता है, अतः गव्य = पानी। अग्रय = श्रेष्ठ, घृतं = जल, सुघृतवद्भिः = अच्छा पानी वाले। अमीभिः = पानी से। गोभिः = किरणों से, बहुधा = प्रायः,

समुद्धरति = (किरणों द्वारा) खींचता है। विस्पन्दमानम् = बरसता है। गोर्जातम् तान् = किरणों से पैदा होने वाले अतः गोजान् = तृणादीन्, अभिवर्द्धति = बढ़ाता है।

"हे ललने ! देखो एक ओर तो यह जल आकाश में वर्तमान धूमवर्ण के मेघों के उदर से धारा रूप में पृथ्वी पर पड़ कर तृणादिक को बढ़ा रहा है और दूसरी ओर उसी जल को सूर्य अपने किरणों से सोख लेता है।"

श्रीतुलसीदासजी ने, जिन्होंने स्वयं प्रसाद पूर्ण काव्य का प्रतिपादन किया है—

"सरल अरथ कीरति विमल,
जो आदरहिं सुजान।"

वह भी इस दिष्टकूटक से नहीं बच सके, उन्होंने भी इसे दोहावली में अपनाया है—

"ऋतुपति पद पुनि पदिक युत, प्रथम आदि हरि लेहु।
अन्त हरण पद द्वितिय महँ, मध्य वरण सह नेहु॥"

ऋतुपति का पर्यायवाची शब्द है वसंत, उसमें 'पद' शब्द और जोड़ दिया तो हुआ। 'बसंत पद'। फिर उसमें पदिक नाम 'रजत' (चाँदी) को भी मिला दिया तो होगया "वसंत-पद-रजत"। यदि इन शब्दों में से आदि

(व) और अंत (त) के अक्षर हटा दिये जायँ तो पद हो जाय "संत-पद-रज"। अस्तु, उसमें स्नेह करो।

"विहँग बीच रैयत त्रितय, पति पति तुलसी तोर।
तासु विमुख सुख अति विषम, सपन्यहुँ होसि न भोर॥"

विहंग का पर्यायवाची शब्द है "शकुन"। उसका बीच का वर्ण है 'कु', और 'रैयत' का पर्याय है 'प्रजा' जिसका तीसरा वर्ण हैं 'जा'। इन दोनों को मिला दिया, तो शब्द हुआ 'कुजा'। 'कु' का पर्यावाची शब्द है 'भूमि', उसमें 'जा' वर्ण जोड़ दिया तो हो गया 'भूमिजा' अर्थात् पृथ्वी की पुत्री श्रीसीताजी, जिनके स्वामी श्रीरामचन्द्र। वे तेरे स्वामी हैं; उनके विमुख सुख मिलना बड़ा कठिन है। उनको सपने में भी न भूल।

और श्रीसूरदासजी तो दिष्टकूटक के लिये प्रसिद्ध ही हैं। इसी का एक रूप पहेली भी है। सारांश यह कि सदा से लोग शब्दार्थ-चमत्कार भिन्न-भिन्न रूप से दिखाते आये हैं; और वे इसे एक कला समझते हैं। अस्तु कबीरदास जी ने भी इसे अपने रूप में अपनाया—

"पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोई काछे॥

दुंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।
स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घरमें दासी ॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी।
कहै कबीर सुनो हो संतो, भैसे न्याय निवेरी ॥"

प्रथम दिष्ट कूटक और कबीरदास के कथन में भेद है। उसमें तो भिन्न शब्दों तथा भिन्न पदार्थों के बीच इष्टार्थ छिपाया गया है और कबीरदासजी के पास यह सामग्री नहीं पाई जाती कि पर्यायवाची शब्दों तथा परस्पर-सम्बन्धी पदार्थों की कड़ियों से जंजीर रूपी पद तैयार करें। किन्तु वे सुलभ पदार्थों को रूपक के रूप में वर्णन करके, इष्टार्थ को गुप्त रखते हैं, जैसा कि उन्होंने ऊपर के पद में किया है। अलंकारशास्त्र में इसे 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' माना है, अर्थात् जिसमें केवल उपमान का वर्णन हो और उपमेय का नाम तक न लिया जाय, जैसे—

"मौर मनोहर मंजु बनो, कलँगी बिलँगी सब ही मन भायो।
देखतही बनतो तरु रूप, सुरंग रँगे रँग अंगनि छायो ॥
गायक गाय रहे चहुँओर, सबै मिलि आनँद सोर मचायो।
साज समाज अनूप सजो, यह दूलह रूप न काहि सुहायो ॥"

यहाँ 'मौर' उपमान का वर्णन किया गया है, पर उप-

मेय 'बौर' का नाम तक नहीं लिया गया। अनेक रंग-विरंगे वृक्षों के रूपों का वर्णन तो किया जाता है; पर पुष्पों का फूलना नहीं कहा जाता। गायक कौन है, नहीं बताया जाता; पर हैं वे भ्रमर। उनका जिक्र तक नहीं आता। वसंत दूलह बनाये गये; पर नाम गुप्त ही रक्खा गया।

सारांश यह कि इष्टार्थ को बुद्धि और विद्या-मंजूषा के बीच बंद कर विद्वान् अपनी विद्वत्ता का परिचय देते चले आये हैं। कवि-सम्राट श्रीहर्ष ने अपने 'नैषध-चरित' में लिखा है—

"ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठती मास्मिन्खलः खेलतु॥"

"अपने को पंडित समझने वाला ऐसा खल अपनी बुद्धि से इस काव्य को न पढ़ सके, इसलिये मैंने प्रयत्नपूर्वक कहीं-कहीं पर गूढ़ार्थ रख दिया है।"

यदि वर्तमान काल की कविता में इस मार्ग का अवलम्बन किया जाता, तो कोई बात ही न थी। उसमें तो साहित्य की उन्नति ही होती। किन्तु एक ऐसी राह पकड़ ली गई है कि उससे साहित्य को हानि हो जाय तो आश्चर्य नहीं।

जिस समाजने अपनेको ईश्वर से दूर कर रक्खा हो और

जिसके यहाँ ईश्वर के भी पास पहुँचने के लिये एक दुभाषिये के समान एक देवदूत की आवश्यकता हो और विना उस के ईश्वर के निकट पहुँच हो ही नहीं सकती ; ऐसी दशामें यदि किसीने किसी प्रकार डरते-डरते ईश्वर से सीधे प्रार्थना करनी चाही, तो वह इतना साहस ही नहीं रखता कि स्पष्ट शब्दों में सीधे ईश्वर से प्रार्थना कर सके। अस्तु वह अपने भावों को यों प्रगट करता है, मानों कोई किसीके द्वार पर खड़ा अपने बोलने अथवा गानेसे गृह-स्वामी के ध्यान को आकर्षित करना चाहता हो।

योरूप के साहित्यसेवियों ने इस ढँग को बहुत कुछ अपनाया, और उसीको वङ्गवासी साहित्यिकोंने भी आदर दिया। पहले तो अनन्त की ओर ही प्रगमन होता था, किन्तु अब तो दिशा-विदिशा सब ओर 'नीरव-निनाद' और 'हृत्-तन्त्री' के तार सुनाई पड़ने लगे। यह चाहे भलाई के लिये हो या बुराई के लिये, हिन्दी-रसिकों में दूसरे की नकल करने का स्वभाव बहुत बढ़ गया है। इसका प्रभाव साहित्य पर बुरा पड़ा। इससे बहुत थोड़े लेखकों और कवियों में प्रतिभा का विकास हो पाया। जहाँ खेती के लिये नहर से पानी मिलता है, वहाँ किसान कुएँ से खेत नहीं सींचते।

इससे चाहे खेती में बालू आ जाय अथवा उनमें रेह पैदा हो जाय और चाहे उनके प्रभाव से अन्न की उपज में कमी होने लगे; पर वे सींचेंगे नहर ही से। कारण यह कि कुएँ से पानी निकालने में परिश्रम पड़ता है, उसका अभ्यास अब अधिक उनमें रहा नहीं।

ठीक यही हाल आजकल हिन्दी-साहित्यसेवियों के विशेष भाग के साथ है। वे कविता, गल्प, उपन्यास, जो कुछ लिखेंगे अन्य-भाषा-भाषियों के मौलिक लेखों के आधार पर। अन्यभाषा के ग्रन्थों के अनुवाद से उस भाषा को लाभ पहुँचता है, जो उसी विषय के मौलिक ग्रन्थ अपने यहाँ भी प्रस्तुत कर सकती है। अन्यथा हिन्दी-साहित्य, बँगला तथा अँगरेजी साहित्य के लिये बाजार के समान है जहाँ उनकी चीजों की खपत होती है।

आश्चर्य तो इसमें यह है कि कुछ विद्वान् कवि भी जिनमें प्रतिभा है, इसी धारा में बहे जा रहे हैं। न मालूम इससे उन्होंने लोक के लिये क्या लाभ विचारा है; क्योंकि वह कविता किस काम की जिससे जनता लाभ न उठा सके? क्या खलिहान को जोतने और सींचने के पहले बनाना चाहिये? यदि ऐसा किया जायगा, तो जो बीज खेत में

बाया गया है, वह विना सींचे और निराये नष्ट हो जायगा। तब खलिहान में रक्खा ही क्या जायगा ?

आजकल जिसे देखो उसे 'मूक वेदना' होती है ! यदि निरा अक्षराभ्यासी बालक व्याकरणाचार्य की नकल कर क्लिष्ट संस्कृत बोलने की चेष्टा करे तो क्या वह एक शब्द भी शुद्ध उच्चारण कर सकेगा ? यदि वह भी वैसा ही पंडित होना चाहता है, तो उसे चाहिये कि वह उसी मार्ग का अवलम्बन करे, जिसे उसके आदर्श विद्वानों ने किया है। अस्तु स्कूल के लड़के-लड़कियाँ अनंत की ओर न जायँ, परित्यक्त पुष्प-पाँखुरी की भाँति इधर-उधर वायुवेग के साथ ऐसा करने से न उड़ें, उनमें न मकरंद होगा और न मधुकर-वृन्द उनके पास उनके सुयश के वर्णन करने को आवेंगे। शब्दाडम्बर से काम न चलेगा और न गंधर्वनगर की भाँति पद-सृष्टि रचने से। वन्ध्या कविता से कवि, सुयश-पुत्र को नहीं देख सकता।

परमहंस-साधु जो दिगम्बर रूप में रहते हैं, लोक मर्यादा की रक्षा के लिये वे भी नगर में आने पर वस्त्र धारण कर लेते हैं। अस्तु जो विद्वान, प्रतिभाशाली कवि हृत्तंन्त्री का तार बजा रहे हैं, उन्हें चाहिये कि वे हिन्दी-साहित्य के

उत्थान के लिये अपना मनोरंजन करना छोड़ उसकी सेवा उसकी अभिवृद्धि के लिये करें। लोकसेवा ही से परलोक बनता है।

मैं न विद्वान हूँ और न कवि; पर जैसे किसीको पानी में डूबते देखकर एक बालक—जो तैरना नहीं जानता—चिल्ला उठता है कि वह एक मनुष्य पानी में डूब रहा है, और उसे सुनकर तैराक तुरंत उसको बचाने के लिये कूद पड़ते हैं, वैसे ही इस समय हिन्दी-काव्य की छीछालेदर देखकर विद्वानों को बिशेष प्रयत्नशील करने के लिये इस दीन ने ऐसी प्रार्थना की है।

मैं व्रजभाषा को प्राकृत अथवा उसकी अपभ्रंश-भाषा का अनुसरण कराने का पक्षपाती नहीं हूँ। अतः मैंने "श" "क्ष" "त्र" "ज्ञ" आदि वर्णों का प्रयोग किया है। उसीके साथ जहाँ पर अनुप्रास अथवा पद-लालित्य के लिये आवश्यकता पड़ी है, वहाँ मैंने "श" के स्थान में "स" और "क्ष" को "छ" लिखा है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग मैंने किया है, क्योंकि चाहे वह खड़ी-बोली की कविता हो या व्रजभाषा की, अब हिन्दी-साहित्य का मंगल इसी में है कि उसका प्रगमन संस्कृत की ओर

हो। मैंने कहीं-कहीं "कैसे" को "कसक" और "कहुँ" के रूप में प्रयोग किया है और कहीं-कहीं पर "कोउ" को "कउ" लिखा है। इसमें आदि से अंत तक आर्य-संस्कृति की पुष्टि की गई है। सुतरां, इसमें भरतजी की भक्ति का वर्णन है। आशा है, यही समझकर सज्जनगण अपनावेंगे, और मेरी भूलों के लिये मुझे क्षमा करेंगे।

अन्त में यह निवेदन करना अत्यावश्यक है कि मेरे पास न तो उपयुक्त शब्द हैं और न मेरी भाषा ही उतनी समर्थ है कि ब्रह्मर्षि, देशपूज्य, पण्डित-प्रवर, महामना श्रीमान् मदनमोहन मालवीयजी के प्रति मैं यथोचित-रूप से कृतज्ञता-ज्ञापन कर सकूँ, जिन्होंने देश-सेवा के महत्वपूर्ण कार्यों में अतिशय व्यस्त रहते हुए भी इस पुस्तक के पढ़ने में उदारता-पूर्वक अपना अमूल्य समय देने का कष्ट किया तथा प्राक्कथन लिखने की कृपा की। इसके लिये मैं आजीवन उन प्रभु-भक्त-शिरोमणि का आभारी रहूँगा।

काशी, राजघाट
ज्येष्ठ-शुक्ल एकादशी,
संवत् १९८९

सज्जनानुचर—
शिवरत्न शुक्ल

भरत-भक्ति

मंगलाचरण

सार छंद

[१]

अचल[1] उतंग[2] बिघन-गन गनपति, गनत न तिनकौं तूलौ[3] ।
राम-नाम सुचि धारि हिये महँ, जारत पाप समूलौ[4] ॥
नायक-नाक हाँक जग बिच तव, सफल काज सब होवैं ।
सुमिरत ही करु सिद्ध मनोरथ, रिधि सिधि जन मुख जोवैं ॥

[२]

बिनय न बन बिनु बाँनि[5] बाँनि[6] कस, लग भल बिनु बर बाँनी[7] ।
शब्द-शास्त्र-निष्णात[8] बनत जन, चरन सेइ महरानी ॥

(१) पर्वत, (२) ऊँचा, (३) रुई, (४) सम्पूर्ण, जड़ के सहित, (५) वाणी, (६) वाक्य, (७) सरस्वती, (८) चतुर, पारङ्गत ।

बरनत हरि-जस बस करु सुख सब, भक्ति-भुक्ति[1] मुकताई[2] ।
प्रभु-गुन गावन चहौं अंब भल, आउ अवसि अब धाई ॥

[३]

माया-तम[3] तम[4] वन-जग फैलो, भटकि भूलि जन जावैं ।
षट-विकार[5] मिलि जीव सतावैं, वृक[6] वराह[7] बनि धावैं ॥
जारत तिन सिव हेरि तृतिय दृग, रबि सम प्रगट प्रकासै ।
बिकसीं नलिनी[8]-भक्ति, सदल गुन, सत्य सील अलि बासै ॥

[४]

चन्द्र-बदन तव छिटकि चाँदनी, भक्ति प्रगट जग होवै ।
प्रभु-पद-प्रेम-सुधा नित बरसत, हरषत जन-मल धोवै ॥
सदा चरन-रत रहत राम के, जानत काम न कोई ।
सुनत सुनावत हरि-जस हनुमत, रच्यो सेतु भव सोई ॥

[५]

जय मम जननि सुवन रच्छै तू, राम-चरित गुन गाऊँ ।
जय अघ-ओघ[9] सोक-संघारिनि, बिपति-बिदारिनि नाऊँ ॥

---

(१) सम्पत्ति, भोग; (२) मुक्ति, (३) माया का अंधकार, (४) तमोगुण, (५) कामक्रोधादि, (६) भेड़िया, (७) सुअर, (८) कमलिनी, (९) समूह ।

जय गुन-सील दया-मूरति जय, करत मनोरथ पूरो ।
तव सुत "सिरस" राम-जस गावत, उदय होय जिमि सूरो ॥

[६]

जय दीनन पर दया करति नित, जय जग-पालनि माता ।
जय भक्तन कौं बिजय देत रन, मानि पुत्र कर नाता ॥
जय जगदंब बिलंब न छिन करु, सघन बिघन सब नासैं ।
जय बिन कारन कृपा करति तैं, निसिदिन रच्छत दासैं ॥

[७]

जगत जगंत[1] जन कृपा तिहारी, जय सुखदायनि माता ।
सुमति सुसील ज्ञान गुन गौरव, देइ भक्ति हरषाता ॥
करमन फँसि मन अनमन[2] रहतो, सारी आयु गँवायो ।
सो तव दया सांति सुख लहि बहु, आनँद-ज्ञान अघायो ॥

[८]

जय जय जय जग मातु रच्छि जन, सुत सम त्यहि भल जानै ।
जय कष्ट-निवारिनि जननि, अरिन बल दल दलित प्रमानै ॥

(१) सचेत रहते हैं, (२) दुःखी ।

जय दुरजन दुख दुरित दूरि करि, भक्त-हृदय सुख बासै ।
जय दासन की आस पूरि करि, करत जगत तिन दासै ॥

[६]

मुनि-मन-मधुकर मगन मुदित लहि, प्रभु-पद-पद्म-परागै ।
नित बिबेक-मकरंद पान करि, उपजत नव-अनुरागै ॥
बिकसै सत-बल बुद्धि बिचारहु, कर्म-रासि जरि जाती ।
अनुपम आनँद बरसत महि-हिय, रहि न ताप त्रय पाती ॥

[१०]

प्रबृति-मार्ग भव-सागर बिच जँह, बीचि-बासना नाना ।
उपजत नसत पवन-करमन करि, उमड़त सिन्धु महाना ॥
नाम-प्रताप सूखि सब जातो, मृग-जल जिमि हिमवंतै ।
कृपा रावरी होत जबहिं जन, जन्म-मृत्यु कर अंतै ॥



प्रथम सर्ग

भरत का अयोध्या-दर्शन

[१]

नव पलास पल्लव बिटपादिक, लोल लता मुरझानी।
वोरक[1] कलिका[2] मुकुल[3] कली जनु, सूखि गई बिनु पानी॥
बिनु पराग मकरंद प्रसूननि, देखि मधुप नहिं आवैं।
मीत बने स्वारथ-साधन-हित, बिपति परे भगि जावैं॥

[२]

चातक चाष[4] चकोर चक्र पिक, राजहंस सुक नाहीं।
मेचक[5] मंजु सिखा युत मोरहु, कहँ कपोत[6] दरसाहीं॥

---

(१) कली की डंडी, (२) बिना फूली कली, (३) अधखिली कली, (४) नीलकंठ, (५) मोर के परों पर चन्द्राकार चिन्ह, (६) कबूतर।

मुदित बिहंग न अब बन बोलत, भूलि न चोंच डुलावैं।
मानों परे बधिक-पिंजर मँह, बैठे सोक जनावैं॥

[३]

अप्रहत[1] भई उर्वरा धरनी बिपंथ[2] सर्करा[3] भ्राजै।
सुपथ चतुष्पथ[4] भयो कुपथ अति, अपथ[5] राजमग राजै॥
आपंण[6] पण्य-[7]बीथिका रथ्या,[8] हर्म्य[9] अवेशन[10] वासै।
चतुश्शाल[11] प्रासाद[12] मनोहर, पर्णशाल[13] इव भासै॥

[४]

गोपुर[14] तोरण[15] द्वार हस्तिनख[16], क्षौम[17] अजिर[18] अरु नासा[19]।
शिला[20] वेदिका[21] पटल[22] कपाटहु, अवकर[23] रहत निवासा॥

---

(१) बिना जोते खेत, (२) खराब रास्ता, (३) रेत, बालू; (४) चौहट्टा, (५) जहाँ मार्ग न हो, (६) बाजार, (७) जहाँ बाजार तो न हो, किन्तु वस्तुएँ बिकती हों; (८) बीच शहर की गली, (९) धनवानों के गृह, (१०) कारीगरों के घर, (११) जिस घर में आमने-सामने चार मकान हों, (१२) राजमहल, (१३) झोपड़ी, (१४) नगर के बाहर का फाटक, (१५) घर के बाहर का फाटक, (१६) नगर-द्वार से उतरने के लिये उतार-चढ़ाव की जमीन, (१७) घर के ऊपर का घर, दोमंजिला; (१८) आँगन, (१९) दरवाजे (चौखट) के ऊपर का काठ, (२०) दरवाजे के नीचे का काठ, (२१) वेदी, (२२) छप्पर, (२३) कूड़ा-करकट।

गृहाराम[1] आराम[2] प्रमदवन[3] आक्रीडहुँ[4] रह जेते।
फलद[5] प्रफुल्ल[6] लता तरु सबहीं, सूखि शंकु[7] भये तेते॥

[५]

यशःपट्ट डमरू दुन्दुभि भल, परै न पटह[8] सुनाई।
बीना झाँझ मृदंग संख सब, बाजत ना कहुँ भाई॥
कहाँ नरतकी कथिक नचत अब, ओघ[10] तत्व[11] लय[12] धारी।
लखत विदूषक[13] पाणिवाद[14] नहिं, सभा हँसावत सारी॥

[६]

भारिक[15] भर्तक[16] भृत्य[17] पराचित[18], कुलक[19] कुलाल[20] लुहारा।
सौचिक[21] तंतुवाय[22] असिधावक[23], चर्मकार रथकारा[24]॥

(१) घर के पास का बगीचा, (२) फुलवारी, (३) स्त्रियों के लिये बगीचा, (४) पार्क, सर्वसाधारण के विहार करने का स्थान; (५) फल देने वाले, (६) फूल-सहित, (७) ठूँठ, (८) नगाड़ा, (९) ढोल, (१०) शीघ्र नाचना, (११) धीरे नाचना, (१२) बाजा और नाच का एक साथ ताल छूटना, (१३) भाँड़, हँसोड़; (१४) ताली बजा कर ताल बताने वाले, (१५) बोझा उठाने वाले, (१६) मज़दूर, (१७) सेवक, (१८) जो दूसरे के द्वारा पाला जाय, (१९) मिस्त्री, (२०) कुम्हार, (२१) दरजी, (२२) जुलाहा, (२३) सिकलीगर, (२४) बढ़ई।

स्वर्णकार जावाल[1] रजक नट, नापित मालाकारा[2] ।
बिचरत सहज न मग इन देखत, का कारन करतारा ।।

[७]

पति पति-हीन नारि लखियत तस, दावामय बन भारी ।
सलिल-हीन सुचि सरित सरोवर, बिन फल जस फुलवारी ।।
सूखे सालि बारि बिनु खेतहिं, भरसे बारिज भारी ।
अवध-नगर तस देखि परत है, दीन छीन नर नारी ।।

[८]

बिटचर कोल[3][4] कोक[5] डोलत मग, सल्य[6] त्याग सल[7] भारी ।
बोल उलूक भयंकर बोली, कर्कर्टु[8] कटुकारी ।।
फेंकरत सिवा[9] घूमती गलियन, असकुन महा जनावैं ।
चील काक चिमगादर कादर, औध उपर मँड़रावैं ।।

[९]

देखहु तात काक करत है, श्वान खोलि मुख रोवै ।
देखि परत असकुन बहु सब बिधि, नगर बीज दुख बोवै ।।

(१) गड़रिया, (२) माली, (३) सुअर, (४) बनैला सुअर, (५) भेड़िया, (६) साही, (७) साही के काँटे, (८) एक प्रकार का अशुभ शब्द करने वाला पक्षी, (९) सियारिन ।

ज्यहि देखौं सो मूर्च्छि पच्यो है, बिह्वल ब्याकुल जानों।
पूछौं कुसल प्रजा परिजन की, कासों नीति निधानों ॥

[१०]

कोउ नहिं देखि परत मग द्वारहु, हारहु खेत कियारी।
आह दैव यह काह भयो है, बोलत नगर सियारी ॥
करकट पच्यो राजमारग मैं, धरकत बहु हिय भाई।
अनइस भाव उठत मम मन मैं, कुसल कही किमि जाई ॥

[११]

कुमुद[1] कोकनद[2] केसर कुमुदिनि, नवदल[3] सर नहिं लेखैं।
कहँ कल्हार[4] जलासय बिकसित, अच्छ[5] अम्बु तहँ देखैं ॥
सरजू-धारा मन्द बहति अति, सूखि भई बहु छीनी।
निसि दिन परखत तिय बिदेस पति, भूख-प्यास तजि दीनी ॥

[१२]

बकुल[6] मल्लिका[7] मालति[8] माधवि[9], जया[10] नीलिका[11] जोई।
कुरबक[12] कुटज[13] कुन्द करबीरहु[14], जपा[15] असोक न कोई ॥

---

(१) श्वेत कमल, (२) लाल कमल, (३) पुरइन, (४) कुई का फूल, (५) निर्मल, (६) मौलसिरी, (७) बेला, (८) चमेली, (९) जूही, (१०) जाही, (११) नीली नेवारी, (१२) लाल कँटसरैया, (१३) कुरैया, (१४) कँदैल, (१५) गुड़हर।

गुलमेहँदी गुलाब गेंदा गुच्छ, नहिं फूले फुलवारी।
मधुकर निकर[1] न गुंजत कुंजन, देखि दुःख जिय भारी॥

[१३]

जवन[2] विनीत[3] तुरंग अनेकन, कुंजर समर जुझारे।
अश्वारोह[4] रथिन[5] सेनाङ्गहु[6], सेनानी[7] बल धारे॥
कवच शिरस्त्र[8] सजित भट अगनित, मत्त मतंग समाना।
पहुँचत चमू[9] शत्रु की नासत, राखत ना अरि माना॥

[१४]

कोउ नहिं रत नित काज-साज मैं, बजत न नौबत ताता।
धाम-सिखर नहिं धूम-धूसरित, होम न होत दिखाता॥
ब्रह्मघोष जय-घोष न सुनियत, बेद-ध्वनि नहिं होवै।
व्याकुल व्यथित लोग परबस परि, सतकरमहुँ कस जोवै॥

[१५]

धर्म न्याय सत शील अचारहु, धीर बिबेक बिचारा।
शम-दम-सत्य-सलिल, शफरी-जन, हरिपद-सिन्धु अपारा॥

---

(१) समूह, (२) जल्दी चलने वाले घोड़े, (३) शिक्षित घोड़े, (४) घुड़सवार, (५) रथ पर सवार योद्धा, (६) हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सिपाही की फौज; (७) सेनापति, (८) टोप, (९) फौज।

पर उपकार भार धरि निज सिर, आपन पाप नसावैं।
धीर बीर रन सूर लोक-हित, जस तिनकौं कबि गावैं ॥

[१६]

अजित[1] बिजित[2] जनु भये आजु सब, दैव कौन तव खेलै।
रबि-तम पूर सूर कादर मनु, निरस भयो भल तेलै ॥
सक्यो बुझाय न पुण्य-पयोधिहु, शाप-पाप चिनगारी।
जरत औधपुर परिजन पुरजन, रोवत सब नरनारी ॥※

भरत और कैकेयी की भेंट

रोला छंद

[१७]

जात चले मग भरत, भरे संकोच बिषादा।
देखि कैकयी-सदन, उतरि रथ रखि मरजादा ॥
प्रबिस्यो मंदिर माँझ, दरी जनु सिंहिनि सोवै।
देखि पुत्र मुख-कंज, मातु मधुकरि जनु जोवै ॥

(१) जो जीता न जा सके, (२) पराजित, परास्त।

※ भरतजी दैव-बल पर विचार करते हैं कि जो अयोध्या त्रितापों से अजेय थी, सो जीत ली गई; मानों सूर्य अन्धकारपूर्ण, वीर कादर और सरस तेल नीरस हो गया। रघुवंशियों का पुण्य-रूपी समुद्र शाप-रूपी चिनगारी को न बुझा सका।

[१८]

उमड़त सिन्धु सबेग, चन्द्र पूरन अवलोके।
सन्मुख सुवन निहारि, दौरि लपटाय बिसोके॥
जननी कुसल बताय, मातु पितु भ्राता केरी।
कह्यो कहाँ प्रिय राम, अवधपति इत-उत हेरी॥

कैकेयी-प्रबोधन

हंसगति छंद

[१९]

❀चन्द्र-चाँदनी चारु, रैनि कहँ करति सुहावनि।
तबौं हरति परकास, रबिहि कुल कंज भयावनि॥
सर सरिता भरि जात, सकल थल जलमय सरसत।
मेघ बुंद नहिं रहत, कहो कहँ फिर वह बरसत॥

❀ चन्द्रमा की चाँदनी से रात्रि की शोभा बढती है अवश्य; किन्तु ऐसा होने में सूर्य का प्रकाश अपहरण करके ही तो चंद्रमा प्रकाशित होता है। फिर जब रात्रि कुई को सुहावनी लगती है तब कमल को दुःख रहता है। पानी से पृथ्वी पर नद-नदी भर जरूर जाते हैं; लेकिन बरसने के पश्चात् मेघों के पास एक बूँद भी जल नहीं रहता। सारांश यह कि संसार में जब एक को दुःख होता है तब दूसरा सुख पाता है।

[२०]

❀ नित चरि पसु निज पेट, भरत तहँ तृन कुल नासै।
पितु-कुल कम करि सुता, करत पति बृद्धि निवासै॥
वृत्त काटि जन रचत, सदन सुंदर मनभावन।
चलै लूक जब जेठ, भरत जल महि तब सावन॥

सार छंद

[२१]

† कोमल किसलय हरित पात जे, पतझर लहि गिर जावैं।
कन्दुक व्यय करि बेग-शक्ति निज, थिर ह्वै फिरि नहिं धावैं॥
गगन मगन अति उच्च उड़त खग, पुहुमि लौटि पुनि आवैं।
पंच-तत्व मिलि रचत सरीरहिं, पृथक अंत ह्वै जावैं॥

❀ तृण का नाश करके ही पशु अपना पेट भरते हैं। कन्या विवाह होने पर अपने पितृकुल के परिवार की एक संख्या कम करके पति-कुल में एक संख्या बढ़ाती है। और, वृक्षों का नाश करके ही महल बनते हैं।

† यहाँ कैकेयी यह दिखाती है कि संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी दौड़ पूरी करके शांत होना पड़ता है। जैसे कोमल कोंपल पुराने हो जाते हैं, फेंकने वाले की शक्ति को खर्च कर गेंद रुक जाता है, पक्षी आकाश में उड़कर पृथ्वी पर लौट आते हैं; उसी भाँति शरीर के पाँचों तत्व भी निश्चित समय पर उससे अलग हो जाते हैं।

[२२]

※ कास मूँज जरि पनपत बहुबिधि, दूब कटे फिरि जामैं।
तरु-पलाँस कटि कोमल कोंपल, नव पलाँस परिनामैं॥
बृद्ध बाल, पुनि बाल बृद्ध ह्वै, निज कर्तब्य निबाहैं।
जानि जगत की रीति सनातन, बुध जन कर्म सराहैं॥

[२३]

† बहत सलिल सरिता बिच नितही, रुकत न छिन दिन राती।
सिन्धु समात सांति सुख पावत, अचल होत सब भाँती॥
बाल जुवा अरु बृद्ध अवस्था, तिनकौं भोग्यो भूरी।
भूप गयो साकेत-लोक को, पुन्य कीन्ह जग पूरी॥

※ कैकेयी का तात्पर्य है कि जो वस्तु नष्ट हुई नजर आती है वह फिर उत्पन्न होती है। जो मनुष्य बालक रूप में है वही वृद्ध होता है और वृद्ध अन्य जन्म में फिर बालक होता है। यही कर्म की विचित्रता है!

(१) ढाक, (२) पत्ते।

† जैसे—नदी में जब तक पानी रहता है तब तक उसे दिन-रात बहना ही पड़ता है, जब वह समुद्र में पहुँचता है तब वह वहीं स्थायी हो जाता है। अस्तु, राजा दशरथ जन्म-मरण से मुक्त हो कर साकेत-लोक गये, यह उनके पुण्य का फल है; क्योंकि शरीरधारी को तो कष्ट ही कष्ट रहता है और उन्होंने नित्य-सुख प्राप्त किया है—इसमें दुःख न करना चाहिये।

[२४]

तुमहिं दीन सुख राज-साज सब, पार प्रजा करु खेवा।
पठयो कानन कहि कै रामैं, करन तापसिन सेवा॥
पिता-बचन सिर धरि रघुनंदन, बन कौं मुदित सिधारे।
आज्ञा दयो जौन पितु लालन, तौन करहु मम प्यारे॥

मूर्च्छित भरत

[२५]

जल बिच जस जलजात[1] जात जरि, लागि तुषार[2] सरीरा।
उभय बन्धु तस मूर्च्छि परे सुनि, सोक-बिकल बलबीरा॥
केवल स्वास बतावहि जीवन, मरन-भेद इतनोई।
तलफत मीन नीर बिनु जैसे, दसा भरत भइ सोई॥

[२६]

*हाथ काटि कर कंकन पहिरत, नगन लेइ परिधानै[3]।
केशवेश[4] समसान सँवारत, मृत परिरंभन[5] ठानै॥

(१) कमल, (२) हिम, बर्फ; (३) धोती, (४) चोटियों के बीच की माँग, (५) प्रेमपूर्वक लिपटना।

* कोई हाथ काट कर कंकण और नग्न रहता हुआ धोती कैसे पहन सकता है? श्मशान में श्रृङ्गार करके माँग सँवारना और मृतक के साथ लिपट कर प्रेम दिखाना निरर्थक है। लक्ष्य व्यक्ति पर वाण

त्यागि निरस्त[1] दया दरसावत, दान करत हरि वार्ता[2] ।
अभिक्रम[3] करि अभिषेचन[4] चाहै, तस करु सुत सँग माता ॥

भरत का शोकाश्चर्य

[२७]

मुरछा जागि भरत जननी सों, कहत भये उठि ठाढ़े ।
उदयाचल तम पूर भयो अब, सूर कूर भे गाढ़े ॥
कलपवृक्ष कौं दरिद सतायो, कोकिल कररत देखैं ।
राजहंस बक बंक खड़ो बनि, सिंह सिवा अवरेखैं ॥

[२८]

अमृत विष हिम ताप घोर जनु, भोर साँझ दरसाती ।
पंडित मूरख, केशवै[5] मुंडित, मृगमद महा बसाती ॥

चलाकर दया दिखाना निष्प्रयोजन है। जिस व्यक्ति की जीविका हर ली, फिर उसे दान देना और जिस व्यक्ति पर युद्धार्थ चढ़ाई की गई उसी का अभिषेक करने की इच्छा करना मूर्खता है। ऐसा ही कार्य कैकेयी करके अपने पुत्र भरत को सुख देना चाहती है। अर्थात् उनके प्राण-सम प्रिय बन्धु राम को वन में और पिता को स्वर्ग भेजकर उन्हें सुखी देखना चाहती है।

(१) छोड़ा हुआ वाण, (२) जीविका, (३) निडर होकर शत्रु पर चढ़ाई करना, (४) राजतिलक करना, (५) उत्तम बालों वाला।

चंदन निम्ब, कपूर धूरि-कन, चामीकर[1] मनु रीती[2] ।
जागत स्वप्न, सहोदर शत्रू उलटी देखत रीती ।।

[२९]

दीप बुझाय प्रकास चहत करि, बास कुहू निसि माहीं ।
करत सयन कस सदन सुसज्जित, जरत जहाँ जन जाहीं ।।
कुसल कमल कुल कहै कौन कवि, रबि अथये तम छायो ।
कस न जवासा जरिहै पावस, घोर घटा घन धायो ।।

[३०]

जनक जानकी लखन राम कौं, मम हित जननी त्यागे ।
कीन्ही भूल सूल सालत जिय, दावा-दुख तन लागे ।।
राम प्रान बनि बसि सरीर मम, जीवत राखत मोहीं ।
दूरि कीन्ह तैं उन कहँ मोसों, अचरज लखियत तोहीं ।।

कौशल्या-मंदिर में भरत

[३१]

कूप सरित सर कलुष[3]-तोय लखि, त्यागि देत बुधिवाना ।
तैसे भरत निकेत कैकयी, छाँड़ि चले मतिमाना ।।

(१) स्वर्ण , (२) पीतल, (३) गन्दा पानी ।

पहुँचे जाय कौसिला-मंदिर, मुरछित त्यहि तहँ देख्यो।
जानो कोश[1] कुलाँय[2] उजार्‍यो, हंसिनि ब्याकुल लेख्यो॥

रोला छंद

[३२]

दुख निधि उमड़्यो घोर, जोर बहि बिरह-पवन तहँ।
डगमग धीरज-नाव, बीचि-मुरछा बिच परि जहँ॥
लगि थपेड़ तट भरत, गिर्‍यो अवनी महँ ब्याकुल।
राम-मातु की दसा, देखि सुर-नर मुनि आकुल॥

(१) अंडा, (२) घोसला।

द्वितीय सर्ग

भरत-कौशल्या-भेंट

[१]

परे चरन बिलपत बहु बिधि सों, माता नैन उघारे ।
सपदि उठाय लगायो हिय मैं, दृग-जल बहत पनारे ।।
धीरज धरि भरतहि समुझावति, सोक न करु मम बारे ।
दुख-समुद्र बूड़त कुल-नौका, लाइय सपदि किनारे ।।

[२]

धीरज ही तव बिपति सहायक, पायक बुधिबल केरो ।
धरु सुत तैं त्यहि हृदय सुदृढ़ करि, सबै भरोसो तेरो ।।
केवट बनि प्रिय अवध-नाव कौं, करसि अवधि तक पारा ।
नित नव संकट-बायु बादरहु, घेरि रहे मँझधारा ।।

विपत्ति-वर्णन

[३]

*बकता मूक चूक चातुर कर, मीत अमीत जनावैं ।
सगे सनेही लगे नेगि जे, बेगि देखि भगि जावैं ॥
नीचहु समुझत नीच पूज्य कौं, पंडित मूर्ख कहावैं ।
छाया कीन्ह पात-तरु गिरतहिं तिन पद मर्दि नसावैं ॥

[४]

चिंता बुद्धि बद्ध करि लेवै, सोक-समूह सतावै ।
करत बनत नहिं काम कछू तब, युक्ति जतन नहिं भावै ॥
चंचलता मन मैं बढ़ि जाती, शांति हृदय नहिं आवै ।
किं-कर्तव्य-बिमूढ़ आलसी बनि निज कार्य नसावै ॥

[५]

देखि हँसत मूरख कहि जन जे, पगतल सिर नित नावैं ।
जात जहाँ तहँ मुख फेरत सब, बात करन नहिं पावैं ॥

---

*वृक्ष के पत्ते जो घोर घाम में जीवों को शीतल छाया दे कर सुख पहुँचाते हैं, वे ही जब पृथ्वी पर गिरते हैं तब जीवगण उन्हें अपने पैरों से कुचल डालते हैं। मतलब यह कि जब विपत्ति आती है, तब वह मनुष्य भी शत्रु बन जाता है जिसकी सहायता विपत्ति-ग्रस्त मनुष्य ने की थी ।

जो जस करम कीन्ह पावत तस, ब्यंग बोलि चलि जावैं।
सीख देत नित सिवा सिंह कौं, बुध जन अबुध कहावैं॥

[६]

सुरतरुहू-तर मिलत कछू नहिं, दया दयालु न दीखै।
दानी कृपन, मौन पंडित बन, छमाशील लखि झींखै॥
सुलभ होत दुरलभ जग जन कौं, बिपति घेरि ज्यहि लीन्हों।
अपने बनत पराये सब बिधि, नित सँग रहि नहिं चीन्हो॥

[७]

माटी छुए भयो ज्यहिं सोना, दर-दर भीख सु माँगै।
सान मान अरमान गयो सब, दीन बने निसि जागैं॥
सहसन-जन स्वागत निकरत कर, त्यहिं कोऊ नहिं मानै।
बिपति परे पर को काको भो, अपन[1] अपन[2] ना जानै॥

[८]

*बायु प्रवाह बहत बारिद गन, बरसत घिरि तहँ ठावैं।
रोकत बहु आवर्त्त बारि कौं, तबहुँ सिन्धु बहि जावैं॥

---

(१) आत्मीय, (२) आत्मीय जन।

* वायु बादलों को इधर से उधर भगाया करती है; किन्तु मेघ बिना बरसे नहीं हटते। धारा में अनेक भँवर पड़कर जल की

चातक सहत उपल अरु तापहुँ, निरमल जल लगि टेरै।
सिद्ध कार्य जब लौं ना होवै, तब लौं मुख नहिं फेरै।

भगवान का भरोसा

[९]

साहस धीर बिचार बुद्धि-बर, क्षमाशील गुनबृन्दा।
शान्ति सत्य उपकार अपारहु, दया धर्म आनन्दा॥
कर्म सफलता सुख सब बिधि सों, हरिपद आश्रित जानों।
असरन-सरन जाइहौ जब सुत, तब दुख समुझु नसानों॥

[१०]

बूड़त जल जन नाव बचावत, मति सचेत अरि दावैं।
दान दीनता दूरि दुरावत, सच लखि भय भगि जावैं॥
शील ढील द्वेषहिं करि देवै, क्षमा शत्रुता नासै।
दीन-बानि सुनि दीनदयालहु, बिपति-समूह बिनासैं॥

गति को रोकते हैं; किन्तु वह समुद्र को प्राप्त ही कर लेता है। पपीहा के सिर पर न मालूम कितने ही ओलों की वर्षा होती है, पर वह स्वाती-जल को आकाश से सीधे अपने मुख में लेकर ही छोड़ता है। अस्तु, जब तक कार्य सिद्ध न हो, तब तक मनुष्य को चाहिये कि हताश न हो।

[११]

चातक चाहत बारि-बूँद नित, पिक बसंत मन भावै ।
घटा घोर घन मोर बिलोकत, खंजन सीत सुहावै ॥
दृष्टि न देत चकोर चहूँ दिसि, चितवत चन्द्रहि चारू ।
पुत्र रहौ भगवान भरोसे, लेत भक्त कर भारू ॥

[१२]

ध्रुव को कौन दीन्ह ध्रुव-पदवी, को प्रहलाद बचायो ।
अंबरीष हित मानी-मुनि कौं, चक्रहि भेजि भगायो ॥
दीनबन्धु-दरबार दीन बनु, पगतल बीर दिखाये ।
निरभय ह्वै सुत राज करहु तुम, हरि-पद हिये बसाये ॥

भरत का उत्तर

[१३]

असि[1] न धार, तब कस करु छेदन, केकिन[2] बिनु कहँ केका[3] ।
नव-पलास दल बिनु बसंत कस, पावस बिनु रव-भेकों[4] ॥
जल पय बिलग कौन करि सकतो, बिनु मराल[5] गुनवाना ।
राज्य-भार कहु कौन सँभारै, बिना राम मतिमाना ॥

---

(१) तलवार, (२) मोर, (३) मोर का शब्द, (४) मेंढ़कों का शब्द, (५) हंस ।

[१४]

कैसे लखिय प्रकास भानु बिनु, प्रान-हीन तनु माता ।
चाँदनि चन्द्र, कृषी पानी बिनु, नेह बिना प्रिय नाता ॥
उड़त न पंछी पंख बिना नभ, जल बिनु मीन न जीवैं ।
राम बिना नहिं काम अवध कछु, जल न बंधु बिनु पीवैं ॥

[१५]

व्रण-पीड़ित-पग सकत दौरि कस, मृतक भला कस बोलै ।
दान करत नहिं दिखत दरिद्री, टूट तुला नहिं तोलै ॥
रोदन करत बिहँसि जन कस सक, सावधान नहिं मत्ता[1] ।
अपथ होत कब सुपथ सुहावन, गोंठिल कब चल कत्ता[2] ॥

[१६]

अलंकार[3] बहुमूल्य दिखत तनु, मृतक[4] काम का आवैं ।
पावत द्विज[5] आनँद उड़ि नभ बिच, पंख-हीन नहिं धावैं ॥
मीन सकै कस बिना बारि रहि, तलफत अम्बु[6] दुखारी ।
तस अति बिकल राम-प्रिय बिनु मैं, सकौं न राज सँभारी ॥

---

(१) मतवाला, (२) एक प्रकार का हथियार—जैसे तलवार, (३) गहना, (४) मुर्दा, मरा हुआ ; (५) पक्षी, (६) पानी ।

[१७]

होत चाहना राज्य करन की, भोग भूरि सुख हेतू।
बिना राम नहिं शांति मोहि कहुँ, सरि-पथ जस बिनु सेतू॥
बसैं प्रान-धन बिजन भयावन, असन बसन लहि पीरा।
निरजन राक्षस जंतु हिंस्र बस, छनहुँ न रहि सक धीरा॥

[१८]

ताते माता देहु राज्य नहिं, लहौं राम-पद-सेवा।
कोटि इन्द्र-सुख नहिं त्यहि सम है, कहाँ निम्ब कहँ मेवा॥
पुत्र करहु पितु-क्रिया प्रथम अब, प्रेत लहै दुख भारी।
पीछे करौ जौन तुम चाहौ, रोय कहति महतारी॥

जनता में चर्चा

[१९]

डगर-डगर बिच नगर-नारि-नर, करत बतकही नाना।
आये भरत राज अब करिहैं, हम तौ जाब बिहाना[1]॥
कोउ तिय कहति देखि मैं आइउँ, भरत कौसिला धामा।
राम-बिरह अति बिकल कुँअर तस, ब्याकुल जस हम बामा॥

---

(१) प्रातःकाल।

वशिष्ठ और भरत

[२०]

कुलगुरु-गृह तब भरत गये जहँ, देख्यो मुनि मतिधीरा।
राज, राजकुल प्रजा राम की, चिंता चित्त शरीरा ॥
गिरे दंड इमि ऋषि चरनन मैं, पोंछ्यो तिन मुख माटी।
बहु प्रकार समुझायो कुँअरहिं, जन्म-मरन-परिपाटी[2] ॥

[२१]

कह्यो बशिष्ठ करहु पितु-करनी, धरनी महँ सुत-धरमा।
शोक त्यागि कर्तव्य निबाहहु, पितु लह फल तव करमा ॥
मूढ़ मरे कौं सोचत रोवत, अपनि दसा नहिं जानै।
माया-मोह फँसे जग जन बहु, मुक्ति उपाय न ठानै ॥

---

(१) वशिष्ठ, (२) रीति, कायदा।

दशरथ-अन्त्येष्टि

[२२]

* कीन्ह क्रिया सब बिधि सों पितु की, दीन्ह बिबिध बहु दाना ।
लोक वेद जस जौन चही तस, कीन्ह महा मतिमाना ॥
राम लषन सिय बसत बिपिन अरु, भरत बिकल दिनराती ।
प्रजा राज्य सुत रच्छा हित मुनि, धर्‌यो रानि कर थाती ॥

---

* श्रीदशरथजी के स्वर्ग जाने तथा राम के वन-गमन से और इधर भरत की विरति देखने से वशिष्ठजी ने प्रजा, राज्य, पुत्र एवं परिवार के पालन का भार रानियों के हाथ में सौंप दिया; इसी कारण से श्रीदशरथजी के साथ कोई रानी सती न हो सकीं ।

तृतीय सर्ग

अवध में दरबार

[१]

प्रजा पुरोहित पुरजन पंडित, सेनानी[1] सरदारा।
मंत्र[2]-कुशल मंत्री सँग लै मुनि, कीन्ह अवध दरबारा॥
अति गंभीर वचन बोले गुरु, सुनहु सभासद-वृन्दा।
मनहुँ गगन घन-घोष होत भल, मगन मोर आनंदा॥

[२]

पालन प्रजा कीन्ह विधिवत् नित, दशरथ नृप बहुकाला।
दावा[3] दुःख दुकाल दरिद अरु, रोग सोक भूचाला॥
कहुँ नहिं सुन्यो, मुदित नर नारी, नित नव सुख सरसातो।
सो नहिं रह्यो गयो सँग उनके, साँझ प्रकास परातो॥

---

(१) सेनापति, (२) सलाह देने में चतुर, (३) जंगल में लगी हुई अग्नि।

[३]

आपति-आँधी छाइ गई अब, अवध-देस चहुँ ओरा।
शोक-धूरि भरि रही हिये-नभ, होत दुःख रव घोरा॥
धीरज-तरु मति-मूल उखारत, द्विज-कुलाय[1] परिवारू।
इत-उत परे बिकल तलफत जन, होत न कछु उपचारू[2]॥

[४]

जल-प्रवाह कौं रोकन चाहिय, बाँध फटे जब कोई।
दारुन-दुःख दूर करिबो है, सुनहु सभासद सोई॥
दीन्ह भूप भरतहिं निज राजू, सेना पशु जन कोषा।
त्यहिं लै पालन करहिं प्रजा कौं, यामैं नहिं कछु दोषा॥

[५]

उच्च-कूल बिनु रुकत न सरि-जल, नहिं प्रवाह गम्भीरा।
बिना बारि बारी फुलवारी, सूखि जायँ मति-धीरा॥
पति बिनु पतनी, पंख-हीन द्विज, धीर न बिनु रन बीरा।
तैसे राज्य राज-सासन बिनु, नसत लहत जन पीरा॥

---

(१) पक्षी का घोंसला, (२) उपाय।

[६]

* राम भरत बिच प्रेम प्रीति भल, यक दूसर सुख चाहैं।
ज्येष्ठ-बंधु रघुनाथ गये वन, कस लघु राज निबाहैं ॥
व्यक्ति-नेह-बस राष्ट्र-कार्य कौं, करन न चाहिय नासा।
हरिश्चन्द्र कर्तव्य सुपाल्यो, तिय सुत कीन्ह निरासा ॥

[७]

परिजन पुरजन कौन अहै अस, जो न राम हित रोवै।
अपनी दसा कहौं कासों मैं, नैन नींदहू खोवै ॥
तबहूँ बन रघुबीर संग भल, गमन न मोहि सुहायो।
देस कोष अरु प्रजा परम प्रिय, उनको जात नसायो ॥

[८]

थाती सम धरि राज भरत अब, चौदह वर्ष बितावैं।
राखि राम-हित पालि बचन पितु दोनौं लोक बनावैं ॥
दिनकर-बंस-हंस कानन गे, डारि भरत-शिर भारू।
तन मन बुद्धि लगाय भले वह, सब कर करैं सँभारू ॥

---

* श्री भरत और रामचन्द्रजी के बीच अगाध प्रेम है जरूर, और एक दूसरे के लिए बलि होने को तत्पर हैं; किन्तु यह व्यक्ति-विशेष का स्नेह है, इसके लिए सारे राष्ट्र के कार्य को नष्ट न करना चाहिये।

[९]

शशि रबि भरमत रहत अकासहिं, का सुख वे कछु पावैं ।
निश्चित कर्म जौन बिधि कीन्हों, त्यहि सिर धरि नित धावैं ॥
जो जाके परि गयो बाँट मैं, ह्वै प्रसन्न सो लेवै ।
बन्यो बिष्णु बाराह[1] कूर्म[2] झख[3], शिव समसाँनहि[4] सेवै ॥

[१०]

※ बन कौं दुःख राम नहिं मान्यो, सुख तुमहूँ नहिं मानो ।
तुला तौल सम उभय बन्धु रहि, कर्म भेद भल जानो ॥
जलज[5] रहत जल बिच तबहूँ त्यहि, छुअत बारि कहुँ लेख्यो ।
चातक तरनी[6]-तटहू बसि नित, अम्बु[7] ओर नहिं देख्यो ॥

[११]

सत्यप्रतिज्ञ[8] बंधु निज जानो, बन बसि अवधि बितैहैं ।
ऐहैं लौटि न राज हेतु वे, कानन धर्म च्यतैहैं[9] ॥

(१) शूकर, (२) कछुआ, (३) मछली, (४) श्मशान ।

※ जैसे राम ने वन के दुःखों को दुःख नहीं माना, उसी भाँति तुम भी राज्य के सुखों को सुख न मानो । तब दोनों भ्राताओं की दशा तुल्य हो जायगी ।

(५) कमल, (६) नदी, (७) जल, (८) सत्य बचन बोलने वाले, सच्चा वादा करने वाले; (९) प्रचार ।

किंचित चिंता कीन्ह न सुख हित, राज धाम जन बामा।
पंकज[1] जस निर्लेप रहत जल, विषय-विरत तस रामा॥

[१२]

*मधुर दूरि करि तिक्त परोसै मनि हरि काँच धरावै।
लेइ उतारि नवाम्बर[2] तनु सों, जीर्ण[3] बसन पहिरावै॥
हंस छाँड़ि बक पालत जो अरु, काक कोयलहिं मानै।
राज भार सिर राम फेंकिबो, व्रत-भँग-दोष बखानै॥

[१३]

†उपज सीपि सों मोति अमोलहु, मुकता गज सिर ठावैं।
निकर नाभि-मृग मृगमद[4] उत्तम, रत्न अम्बुनिधि[5] पावैं॥
मिलत मधुर मधु[6] मधुमाखिन सों, पाट[7] कीट बिर्ट[8] जानो।
कारन बुरो भलो परिनामों, तस बन गमनहि जानो॥

(१) कमल, (२) नूतन वस्त्र, (३) पुराना।

* रामचन्द्रजी के ऊपर राज्य-भार देना उन्हें प्रतिज्ञा-भंग-दोष का अपराधी बनाना है।

† संसार में कुछ वस्तुओं के कारण तो बुरे हैं; किन्तु उनके कार्य उत्तम होते हैं। अस्तु कारण पर दृष्टि न देकर कार्य की ओर देखना चाहिये। वन-गमन से राम की कीर्ति का प्रादुर्भाव होगा।

(४) कस्तूरी, (५) समुद्र, (६) शहद, (७) रेशम, (८) मल।

[१४]

महिषँ-यान अरु नरक-अधिप-पद, धर्मराज कौं दीन्हो ।
व्यसनी बिषय निरत व्यभिचारी, सुरपति इन्द्रहि कीन्हो ॥
महादानि त्रयलोक-धनी-शिव, भीख भखैं समसानों ।
तीनो लोक भाल-अंकहि-बिधि, अवलंबित प्रिय जानों ॥

[१५]

कचो आम पकि मधुर होत कस, रक्त बदलि पय जावै ।
औषधि-युत बिष अमृत सम लग, धूमहुँ मसी[२] कहावै ॥
दुरजन का नहिं बनत सज्जनौ, सतसंगति जब पावै ।
नगर बनै बन बसत राम के, तासु सुजस कवि गावैं ॥

[१६]

*धन बुधि बिद्या बल-वश जब नर, करत कार्य विपरीता ।
उलटे साधन सन्मुख आवत, गिरत गर्त मतिरीता[३] ॥
अनुचित हठ सठता-बस करि जन, परैं दुसह दुख फंदा ।
गयो त्रिशंकु सदेह स्वर्ग कौं, का फल पायो मंदा ॥

(१) भैंसे की सवारी, (२) स्याही, (३) बुद्धिहीन।

*यदि कोई अपनी विद्या, बल और सम्पत्ति के गर्व में मर्यादा के विपरीत काम करता है, तो उसे नीचा देखना पड़ता है। देखो, त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग गया था अवश्य, पर उसने यह फल पाया कि आज भी वह अंतरिक्ष में शिर नीचा किये उल्टा टँगा है।

भरत

[१७]

चातक जिमि लखि बारिबाह[1] को, बोलन लाग्यो जोरा।
कहिबे हित उठि देखि भरत को, भयो सभा जय सोरा॥
राका[2] शशि-मुख देखि सिन्धु जस, उमड़ि चलै अति जोरा।
अवध-समाज कुलाहल भारी, फैल्यो रव चहुँ ओरा॥

[१८]

धर्म-द्वार जनु खड़ो सत्य अरु, त्यहि सँग दृढ़ बिस्वासा।
दया-बित्त बहु कोमल चित्तै, साहस संगति आसा॥
कमल-ओस-कन झलकत तैसे, नैन अश्रु-जल बोरे।
बोले मृदुल बिनीत बचन सुचि, मुनि सन्मुख करजोरे॥

[१९]

पारावार[3] न पारावारहि[4], परीवाह[5] चहुँ ओरा।
ऊर्मि[6] उलोल[7] गोल-आवर्तहु[8],चक्र[9] कबंध[10] जु घोरा॥

---

(१) मेघ, (२) पूर्णिमा, (३) समुद्र, (४) इस पार, उस पार, (५) उफलाना, (६) तरंग, (७) बड़ी तरंग, (८) भँवर, (९) नीचे को जल जाना, (१०) जल।

नाव्य[1] न नौ[2] प्लव[3] यानहुँ[4] नाहीं, निम्न[5] गँभीर[6] अपारा ।
मति-पिपीलिका[7] पार करै कस, जलनिधि मुनि करतारा ॥

[२०]

मरुथल अध्वग[8] आतुर ब्याकुल, चलि न सकै पगु एका ।
महा प्रचंड बेग सिकतानिल[9], रुकत न कहुँ छन नेका ॥
कंठ तालु-तल सूखत जल बिनु, तृषित ताप तनु भारी ।
सुरसरि-सलिल जु माँगहु वासों, कैसे देइ दुखारी ॥

[२१]

दुख दावा तन-वन मैं लाग्यो, चहुँदिसि हाहाकारा ।
मन-मति-तरुवर जरत जोर सों, ब्याकुल जीव अपारा ॥
सकौं न देखि न सुनि कछु पुरजन, महाब्यथित दिनराती ।
घटाटोप घिरि राम-मेघ बिनु, कैसे ताप बुझाती ॥

[२२]

*कलभ[10] न मदकल[11], शिखा न पगतल, नकल न असल जनावै ।
वत्स[12] न गोपति[13] रंक न भूपति, पतित न श्रीपति पावै ॥

---

(१) उतरने योग्य जल, (२) नाव, (३) घन्नई, (४) जहाज, (५) गहरा जल, (६) अथाह जल, (७) चींटी, (८) मुसाफिर, (९) बालू की आँधी, (१०) हाथी का बच्चा, (११) वह हाथी जिसके मद बहता हो, (१२) बछवा, (१३) साँड़-वैल ।

* भरतजी कहते हैं कि जैसे हाथी का बच्चा मद बहते हुए

निम्ब मलय अरु करी अम्ब नहिं, सींक न सर सम धावै ।
मृग न मृगेन्द्र[1] लवा न शशादन[2], बक कहुँ हंस कहावै ॥

[२३]

कस बबूर करु चंदन समता, कटु कहुँ मधुर चखावै ।
धूरि न होइ कपूर-सुगंधै, अन्धै रँग न दिखावै ॥
तुरँग-चाल कब रासभ चलतो, गज-गति स्वान न धावै ।
मूक कहूँ बाचाल सुन्यो जग, दीन न भूप कहावै ॥

[२४]

*सेमर फूल दयो फल कबहुँ न, भीर विहंग लगायो ।
मृग-तृष्णा लखि भरमत इत उत, कब कुरंग जल पायो ॥
पावस-पौरि[3] न पायहु पिक कछु, बारिद बोरि भगायो ।
राहु संग शशि बैठि सभा बिच, दुख अपनो नित गायो ॥

हाथी के समान नहीं है, बछवा साँड़ के समान और नीम चंदन के तुल्य नहीं है, उसी प्रकार मैं श्रीरामचन्द्र की योग्यता को नहीं पा सकता कि मैं राज्यकार्य चलाने में समर्थ होऊँ ।

(१) सिंह, (२) बाज, (३) द्वार ।

* भरतजी कहते हैं कि मुझसे किसी को सुख नहीं मिल सकता; क्योंकि मैं अयोग्य हूँ । जैसे सेमर से पक्षियों को, मृगजल से मृगों को और वर्षा से कोयल को कदापि सुख नहीं मिलता ।

[२५]

दीन दरिद्री दुख-पीड़ित-पति, पतिव्रता नहिं त्यागै ।
सुख की चाह न, नाह बाँह गहि, सेवा मन अनुरागै ॥
रोग बियोग भरे भोगन सों, भागि अचल पद लीना ।
मोहर लेत छाँड़ि कौड़ी जो, का नहिं बनिज प्रबीना ॥

[२६]

* सन्निपात-आक्रांतिक अन्नहिं, तिय सुख पति बिनु त्यागै ।
जल-संकोच बिचारि भेक तब, खनि भीतर महि पागै ॥
कस तरुवर पत्रन कौं छोड़त, नंगे ठूँठ दिखावैं ।
समय परे पर बुद्धिमान जन, नीक नगीच न जावैं ॥

[२७]

अभिसारिका-नदी बनिठनि कै, प्राविट-निसि महँ धावैं ।
बाँह पसारि मिलत पति-सागर, उमड़ि तरँग सुख पावैं ॥

---

* यदि यह कहा जाय कि राज्य तो सुखप्रद है; किन्तु जीवन में ऐसे भी अवसर आते हैं कि उस समय उत्तम पदार्थों का त्याग भलाई के लिए किया जाता है । अन्न से मनुष्य का जीवन है; परन्तु ज्वर एवं सन्निपात में उसकी ओर देखा नहीं जाता । अस्तु, आज जब मेरे पूज्य राम वनवासी बने वन में बसते हैं, तब मैं राज्य-सुख की ओर दृष्टिपात भी नहीं कर सकता ।

बरसत मेघ सदा झरि लाये, सीप न त्यहि पतियावै ।
बुंद एक स्वाती को लैकै, मोतिन की झरि लावै ॥

[२८]

*कोयल होत न मूक सरद महँ, तबहुँ न वह कछु बोलै ।
दृष्टि-शक्ति दिन राति समानहु, निसि न दीप बिनु डोलै ॥
मधु मधुमास मधुप गुंजत भल, तरु फूले सब भाँती ।
सुन्यौ कहूँ तब नाचत बोलत, बन मोरन की पाँती ॥

[२९]

सफरी खात मांस-बंसी कौं, प्रान देइ छन माँहीं ।
सुनत कुरंग मधुर बीना भल, बधिक बधत त्यहि काहीं ॥
मिलत पतंग दौरि दीपक सों, जरत लागि तँह तापै ।
लाभ थोर बहु हानि राज महँ, बन बस प्रभु जब आपै ॥

* भरत कहते हैं कि पिता के मरने पर पुत्र राज्य करता ही है, यह तो साधारण रीति है; किंतु मेरी दशा असाधारण है । मैं बिना राम के देखे जीवित नहीं रह सकता । अस्तु, जैसे कोयल वाचाल होते हुए भी शरद में नहीं बोलती, वसंत में सुगंधपूर्ण वन में मोर नहीं बोलते, उसी भाँति मैं बिना राम के राज्य ग्रहण नहीं कर सकता ।

[३०]

†सुंदरि बाहन धरनि धाम धन, छाँड़ि योगि हरि ध्यावै।
करत भूल का सतचित ज्ञानी, जो न इनहिं अपनावै॥
बधिक बिथोरि अन्न-कन बहु बिधि, चहत बिहंग फँसायो।
कौनि भूल द्विज कीन्ह जबै उन, उड़ि निज प्रान बचायो॥

[३१]

लता बेलि तृन पत्र फूल-फल, सूँघत फिरत भुलानो।
पावत नहीं कहौं मृगमद को, ऐसो कुरँग नदानो॥
ढूँढ़हु सुख न सभासद मो मैं, कहौं सत्य यह बाता।
घर बन नहिं कहुँ कुशल तुम्हारी, बिना राम प्रिय ताता॥

[३२]

स्वाद-तिक्त गुन अति औषधि कौं, सेवत सब रुज नासै।
कहौं कठोर बचन आदर-युत, हृदय क्षमा रखि आसै॥

† भरतजी राज्य-त्याग करने का कारण दिखाते हैं कि धन-जन, स्त्री-पुत्र सब को प्रिय हैं; परंतु विराग-प्राप्त पुरुष उनको त्याग देता है। पक्षी इधर-उधर चुगते फिरते हैं; किंतु वधिक-द्वारा छिटकाये हुए अन्नकणों की ओर देखते तक नहीं; क्योंकि आहार-प्राप्ति की उपेक्षा प्राण-हानि की संभावना अधिकतर है। अस्तु, मैं राज्य को रामजी की अपेक्षा सुखकारी नहीं समझता।

देखहु स्वार्थ राज्य-रक्षा मैं, आग्रह ताते कीन्हो।
मैं हित देखत अपनो सब बिधि, राम-चरन चित दीन्हो ॥

राजा-दशा-वर्णन

[३३]

*चिंता चित्त न छाँड़त कबहूँ, शत्रु सेन जन कोषा।
बिपति-व्यथित जनु व्याकुल सहजै, बदत बचन सह रोषा ॥
रक्षा वृद्धि हेत निज धन जब, प्रजा देत नृप काहीं।
राष्ट्र-कार्य कौं करन यथाबिधि, लेत भार सिर माहीं ॥

[३४]

†जल-धन कोष-सरित-सर सौं, नृप-सूर्य खींचि नहिं देवै।
सूखि जात सब प्रजा खेत तहँ, बिपति दुकालहिं सेवै ॥

---

* राजा अपने खजाना, फौज, प्रजा और शत्रुओं की सदा चिन्ता करता रहता है। मानों वह सदैव ही विपत्ति-ग्रस्त है। उसके चित्त में शांति न होने से जरा-सी बात में वह क्रोधित हो उठता है। इधर प्रजा अपनी रक्षा और वृद्धि के लिए अपना कमाया हुआ धन राजा को देती है उधर राजा उसे लेकर राष्ट्र-कार्य चलाता है।

† जब जल रूपी धन सरिता एवं तड़ाग-रूपी कोष से सूर्य-रूपी राजा खींच तो लेता है, किन्तु उसे लौटाता नहीं, तब प्रजा-

निज व्यय-भूमि समात सलिल तब, अञ्जलि-भेंट न पावैं ।
राज-काज के बिबिध-मार्ग-घन, ते नभ-देश न धावैं ।।

[३५]

प्रजा सुखी अरु कोष पूर्ण करि, रखै सेन सब काला ।
रहै शत्रु सों सावधान नित, रक्षा-निपुण भुवाला ।।
सेनप सचिव सयान सहोदर, सब कौं करत निहाला ।
परहित लगि नृप निज सुख भूलत, जनपद करु प्रतिपाला ।।

[३६]

प्रजा निहारत भौंह जासु की, आज्ञा-पालन हेतू ।
नृपति-दृष्टि चहि पगतल तिनके, सेवा-भाव समेतू ।।
बसत मूल भूगर्भ जु भीतर, ऊपर बिटप बिराजै ।
पल्लव पत्र हरित साखा-युत, फल-फूलहु रस साजै ।।

रूपी खेत सूख जाते हैं और दुकाल में विपत्ति भोगनी पड़ती है। जो ताल और नदियों में बचाखुचा जल-रूपी धन रहता है, वह भूमि-रूपी निज खर्च में खर्च हो जाता है, तब राजा-रूपी सूर्य को अञ्जलि-रूपी भेंट देने के लिए जल नहीं रहता। उस समय देश-रूपी आकाश में राज्य-कार्य-रूपी मेघ-समूह नहीं देख पड़ते।

(१) पृथ्वी के भीतर।

[३७]

घेरे किंकर सेवक भीतर, बाहर सचिव समाजा ।
दूसर जानत गुप्त बातहू, काह करत महराजा ॥
चरित करत नृप जौन छनहुँ छन, छपत न कौनहुँ काला ।
सजग सचिन्त समय संका-युत, रहै नरेस बिहाला ॥

[३८]

राज-प्रसाद दुर्ग गढ़ कोटहु, निबसैं नित्य भुवाला ।
सदा रहत पहरू रक्षा मैं, सावधान सब काला ॥
बसन-विशेष स्वर्ण-जंजीरहु, घेरे बहु जन भाई ।
बंदी किधौं भूप है भूपति, निश्चय ना कहि जाई ॥

[३९]

*बुरो भलो जस प्रजा-क्षेत्र मैं, सुख-दुख बीजनि बोवै ।
कृषक नरेस लहत सोइ तासों, अन्य बस्तु कस होवै ॥

* जो राजा का विचार होता है, वही प्रजा में फैलता है । जो कुछ उसका परिणाम होता है उसे राजा और प्रजा दोनों को सहन करना पड़ता है । पृथ्वी ठण्ढी या गरम नहीं है, वरन् उसे सूर्य के ताप अथवा चन्द्रमा की शीतलता से उष्ण या शीतल होना पड़ता है । राजा और प्रजा में कोई भेद नहीं है, जैसे राहु और केतु दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं ।

तप्त सीत गुन भूमि न जानहुँ, रबि शशि कारन हेतू।
राष्ट्र-रूप राजा प्रतिबिम्बित, राहु अन्य ना केतू॥

[४०]

*प्रजा-वर्ग की निम्न श्रेणि का, असन बसन नृप धारै।
पिछलो भाग बाँटनो वारो, पावत कम बँटवारै॥
आगे पशु पशुपति[1] पीछे चल, धूरि धूसरित धावै।
बाल बृद्ध लै चलत सबल जिमि, भूप दीन सँग भावै॥

[४१]

†सहज सुभाव अचार बिचारहु, धर्म समाज सुनीती।
बसत हिये नरपति के जस ये, गहत प्रजा तस रीती॥

---

(१) चरवाहा।

* प्रजा के बीच जो नीच दरिद्री हैं, उन्हीं के समान राजा स्वयं वस्त्र धारण करे; क्योंकि वही उसका उत्तरदायी है। वस्तु बाँटनेवाला प्रथम दूसरों को देता है और बचा-खुचा ही आप लेता है। चरवाहा आगे पशुओं को चलाता है और आप पीछे चलता हुआ उनके पैरों से उड़ी धूल में भर जाता है।

† जो आचार-विचार राजा के होते हैं, उसी का अनुकरण प्रजा करती है। अर्थात् जिस ओर राजा जाता है, प्रजा भी उसी ओर उसके पीछे चलती है। अस्तु, यदि राजा में पाप-प्रवृत्ति हुई, तो वह सारे देश में फैल जाती है और उसका कारण राजा ही होता है। इसलिये प्रजा के पाप-कर्मों का भी कुछ अंश उसे भोगना पड़ता है; क्योंकि उसी ने तो उन्हें पाप की ओर प्रवृत्त किया।

भोगत उनके पापहु भूपति, जन्म अनेकन जारैं ।
निज करमन कौं भार बड़ो है, कस लाखन कौं धारैं ॥

[४२]

‡परबत-पग जस पोढ़ होत तस, उच्च-शिखर सिर छावै ।
नींव-प्रजा नृप-सिखर-सदन है, राज-प्रसाद कहावै ॥
प्रथम हिले हिलि उठत ऊपरहु, का विशेष गुन लावै ।
फिरि सुख कौन अधिक राजा मैं, त्यहि हित हम ललचावैं ॥

[४३]

भूरि भोग सों रोग अनेकन, नृप अँग-अँग दरसाहीं ।
रुचि नहिं अन्न मंद अग्निहु उर, बल तनु तनुकौं नाहीं ॥
बहु बिलास बिलसित सुख सदनहुँ, कहरत हैं यक कोने ।
कान फटत आभूषन पहिरे, काह करहि लै सोने ॥

[४४]

ऊपर सों नृप सुखी दिखत भल, भीतर दुखी मलीना ।
इन्दारुन-फल नीक दिखन मैं, स्वाद तिक्त मधुहीना ॥

‡ पहाड़ का निचला हिस्सा जितना ही दृढ़ और चौड़ा होगा, उतना ही ऊँचा शिखर होगा । राज्य-रूपी भवन की नींव प्रजा है और शिखर राजा है। यदि नींव हिली, तो शिखर अवश्य हिल उठेगा, अर्थात् यदि प्रजा दुःखी है, तो राजा को भी दुखी होना पड़ेगा ।

सहज सुखी साधारन जन अति, इनसों अधिक सुधीरा।
राष्ट्र-भार लै चलब कठिन बहु, सुनहु सभासद बीरा॥

[४५]

सालिगराम मूर्ति उपमा कस, सहज उपल[1] की होवै।
कस खद्योत-प्रकाश आपने, दिनकर कौं मुख जोवै॥
धरत जुवा जो गोपति[2] काँधे, कैसे बत्स[3] सुहावै।
अधिकारी प्रिय राम राज के, राजमुकुट तिन भावै॥

अवधवासी

छप्पय

[४६]

भरत बचन सुनि सभा, सन्न न कोउ कछु बोलै।
उठ्यो बृद्ध यक सम्हरि, बचन बोल्यो अनमोलै॥
अपन-भलो कस भलो, जहाँ पर-भलो बिगारै।
निज घर रच्छि बनाय, परायो गृह जब जारै॥
कहुँ नाह बाँह गहि नारि निज, छाँड़ि देत बन बिच सडर।
तिमि जानि भानु-कुल कल करनि, काह कहत तुम कुँअर वर॥

---

(१) पत्थर, (२) सांड़—वैल; (३) बछवा।

[४७]

दिनकर[1] बस दुरि[2] दरी[3], करी[4] रन सभय जु भागै।
दानशील परबीन, सूम सञ्चय अनुरागै॥
कारुणीक[5] करि क्रोध, बोध नहिं दीनहिं देवै।
अरि सँग जुरि नहिं सूर, अमर यश समरहु लेवै॥
रह सिंहिनि-सिसु रिस बस न कस, दौरहि जब मारन कलभ[6]।
श्री चक्रवर्ति दशरथ-सुवन, करब राज तुम कौं सुलभ॥

[४८]

जलनिधि नद, कस सिंह, सिवाँ[7] कौं रूप दिखावै।
कसक हिमालय-सिखर, भीट की उपमा पावै॥
सिर कहुँ पग बनि सकै, तकै कोकिला बसन्तहि।
कब बकता रह मूक, छलै पतिव्रता जु कन्तहि॥
तुम कहत जौन दुख सों भरत, सकौ न त्यहि कौं करि कबौं।
जलमध्य तेल बोरै भले, उछरि उपर आवै तबौं॥

[४९]

रज कन छाँड़त सिला, सैल बरसत जल-धारा।
गिरत परत बहि जायँ, सिन्धु सरिता नदि नारा॥

(१) सूर्य, (२) छिपकर, (३) गुफा, (४) हाथी, (५) दयालु, (६) हाथी का बच्चा, (७) सियार।

तहाँ छाँड़ि जल बहत, रूप रेतहिं कौ दैकै।
ब्यथित करत तहँ पौन, ताहि इत-उत नित फेंकै॥
कर्त्तव्य आपनो त्यागि कै, कौन न पावत दुख सतत।
है राज-त्याग सों सुख घनो, तुमहिं न अस कहनो फबत॥

[५०]

निरमल जल नित बहत, कलुष[1] छनतो परि धारा।
सरित सरोवर पियत, अम्बु द्विज जीव अपारा॥
घनरस[2] छाँड़ि प्रबाह, निमुकि कुंडै भगि आयो।
तहाँ मलिन अति भयो, सबै अँग काई छायो॥
दुरगंधि पूर विटचर[3] चरत, करदम[4] करि तहँ नित पिलत[5]।
करतव्य-च्युत कहुँ पुरुष कौं, सुयश विमल जग मँह मिलत॥

[५१]

पिता-बचन रत रहौ, करहु अब सासन-काजा।
जनमि जलज[6] जल बसत, तबहुँ वह बिलग बिराजा॥
राज न भोगहु आप, ताप सब की तुम मेटहु।
चिरिया चुनि निज चोंच, भरत बचन कौं पेटहु॥

(१) मैल, (२) जल, (३) सूअर, (४) कीचड़, (५) घुसते हैं, (६) कमल।

बन चलन समय रघुबर कह्यो, होयँ भरत राजा मुदित।
जब सेवक मन बच राम के, तब आज्ञा-पालन उचित॥

रोला छंद

[५२]

सून घाट कब रहत, जात यक दूसर आवत।
नारि धरनि धन परा, रहत नहिं तिन अपनावत॥
तापस जन्म बिताय, राज्य-पद कौं तब पावैं।
बनत लोक परलोक, सबै सुख लगि नित धावैं॥

[५३]

करहु न तुम जो राज, बाजि का दूसर अइहैं।
छीनि जाइ जो देश, राम बन जनम बितइहैं॥
उन हित राजा होहु, प्रजा कौं करहु सँभारू।
ब्याकुल हैं सब लोग, हरहु दुख दुरित खँभारू॥

[५४]

बिना पङ्खु नवजात, सिसुन कौं कौन सँभारै।
जननी उनकौं छाँड़ि, कहूँ जब अनत सिधारै॥

---

(१) नये जनमे हुए बच्चे।

जायँ कहाँ हम, कहैं कौन सों दुःख-कहानी।
रघुवंशिन कौं छाँड़ि, अन्य की कृपा न जानी ॥

भरत का उत्तर

सार छंद

[५५]

प्रिय पुरजन जनता मुनिवर सों, कहौं भले करजोरे।
राम-दरस हित लगन लगी है, उठि बन जैहों भोरे ॥
पूर्बज-पुण्य-पयोधि सोधि करि, रखिहैं रक्षित राजू।
प्रबिसै कौन अग्नि-ज्वाला मैं, दिनकर-दीप्त-समाजू ॥

सवैया

[५६]

दिन-रात सिरात सदा बतरात, लगै जु बरात जबै निकरेंगे।
निज स्वारथ सींचन काज सदा लगि नीचन संगति सान धरेंगे ॥
इतमाम बड़ो सुख आतम ना तब काम कहौ कस आम सरेंगे।
अस राज अराम बिराम जुदै भल राम रजाइहिं राज करेंगे ॥

[५७]

मेघ बिना बरसै कस पावस, स्याम-घटा नहि नामहु मैं ।
सौरभ बौर बिना पिक बोल लगै नहिं नीक सुधामहु मैं ॥
बाजि-सवार बिहार करै कस रोक रही न लगामहु मैं ।
तीनहुँ लोक मिलैं बरु, राम बिना न अराम अरामहु मैं ॥

[५८]

चाहत नाक न नर्कहु कौं डर राज न कीरति मान चहौं ।
नीति अनीति सुधर्म अधर्महु पाप न पुन्यहु भूलि गहौं ॥
इन्द्रहु की पदवी लघु है पदपङ्क-पराग जु राम लहौं ।
रत्न-अनूपम पाय, कहौं कस काँचहिं हेत ललात रहौं ॥



चतुर्थ सर्ग

चित्रकूट-गमन का उद्योग

सार छंद

[१]

भरत-वचन सुनि उठि बशिष्ठ तब, कह्यो भरे दरबारा।
देखि कुँवर की रीति प्रीति भल, करौ उनहिं अनुसारा॥
चलैं सेन पुरजन परिजन सब, सेवक सुचि सरदारा।
राम दरस करि हिये जुड़ावहु, पावहु मोद अपारा॥

[२]

सुनि मुनि-बचन भयो रव भारी, गूँज घोष चहुँ ओरा।
लग्यो सबै अति नीक कहब अस, चलब बनहिं उठि भोरा॥
होन तयारी लगी चलन की, हरषित सब नर नारी।
साजत बाहन राहन खरभर, चाह न रह रखवारी॥

कौशल्या के पास भरत का जाना

रूपमाला छंद

[३]

निकरि बाहर सबै ठाढ़े, तुरँग गज रथ साजि।
रनिवास खास खवास लै, घिरि चलैं योधा-बाजि ॥
तब जाय मंदिर-राम-जननी, भरत कह करजोर।
चलिय मातु न देर करु सब, देखते मग तोर ॥

कैकेयी को साथ ले चलने का कौशल्या का आग्रह

[४]

मातु लिय लपटाय भरतहि, चूमि मुख बहु बार।
पुत्र कैसे चलौं अकसर छाँड़ि निज परिवार ॥
बिलग ना जो भई कबहूँ, सच्चरित्र सहेलि।
तव जननि ब्याकुल है महा, जनु लगी दावा बेलि ॥

[५]

मीन बिनु जल, तिया पति बिनु, लहै निसिदिन सोक।
बिधि कुसंगति दीन्ह त्यहि नहिं, कीन्ह सुकृतहु रोक ॥

चलहु लेवैं साथ सजनी, नलिनि रजनी बंद।
बिपति-बादर घिरे चहुँ दिसि, मूँद लिय सुख-चंद॥

[६]

सरद-सरिता मंद गति भइ, रह्यो बेग न धार।
हारि सरबस द्यूत महँ त्यहि, चित्त चिंता जार॥
कुशल-शम-दम पुरुष सोचन, दह्यो विषयनि आगि।
बिकल तलफत केकयी तस, बिपति चहुँ दिसि जागि॥

कैकेयी के निकट कौशल्या

[७]

देखि सन्मुख कौसिला को, रोवती शिर नाय।
द्वेषि लज्जित भयो मिलि जनु, क्षमाशील सुभाय॥
राम-जननी त्यहिं उठायो, पोंछि अश्रु-अपार।
जन्मि भरतहिं धन्य तू है, भई सुयश-अगार॥

कैकेयी का पश्चात्ताप

[८]

जारि डार्‍यों सुमन-वन कौं, भीलनी धरि आगि।
फलति सस्यहु[1] नष्ट कीन्हों, उपल[2]-हिम बहु दागि॥

(१) वृक्षादिकों के फल, खेत में खड़ी फसल, (२) ओला।

बाढ़-जल पशु अन्न जन जन्तु, दुखित सब बिधि कीन्ह।
मृत्यु-कर मैं पतिहि सौंप्यों, पुत्र को वन दीन्ह॥

[९]

कौन ऐसी नारि जग जो, रहै जियत सलज्ज।
हृदय पवि[1] सों कठिन भारी, अहौं मैं निर्लज्ज॥
आउ नहिं सखि भूलि मम ढिग, मरन देवै मोहि।
हौं पापिनी पति पुत्र लगि, कस मुख दिखाओं तोहि॥

[१०]

स्वार्थ-अर्थी अन्य-अरथहु, झपटि मारत हाथ।
गिरत गर्त सवेग ततछन, फुटत ताको माथ॥
निज अर्थहू कौं व्यर्थ खोवत, औषधी उपचार।
रुकत धारा बाँध सों बँधि, उलटि बोरत हार[2]॥

[११]

प्रानपति के प्रान लीन्हों, कीन्ह विधवा तोहिं।
पुत्रहू कौं बन पठायों, स्वार्थ घेर्‌यो मोहिं॥
पाप-तरनी बीच बैठी, कसक लागै पार।
देहि डूबन कर्म-जलनिधि, अहै वारापार[3]॥

(१) वज्र, पत्थर; (२) खेतों का समूह, जंगल; (३) अपार, अनन्त।

[१२]

जग मैं न उपजै नारि ऐसी, कबहुँ कौन्यो काल।
धर्म नीति समाज जन कौं, करत नित्त बिहाल॥
दीन्ह दुख निज पुत्र पति कौं, दौरि लेहौं ताहि।
योनि बहु जरिहौं युगन युग, फिरि न पाप सिराहिं॥

कौशल्या-प्रबोधन

सार-छंद

[१३]

मधुर गँभीर बचन बोलीं तब, राम-मातु समुझावै।
निज करमन सँग जीव बद्ध रह, करि कछु ना वह पावै॥
जन्म योनि बपु रूप रङ्ग बुधि, विद्या धन सुत वामा।
सुख-दुख हानि-लाभ यश-अयशहु, करमन कौं परिनामा॥

[१४]

कबहूँ करि न सक्यो कछु कोऊ, अन्य कार्य विपरीता।
सहज सुभाव सुहात वहै जस, कर्म कीन्ह परकीता॥
परशुराम आरूढ़ धर्म-मग, मार्‍यो जननी काहीं।
युवा अवस्था जाँचत सुत सों, नृप ययाति हरखाहीं॥

[१५]

परमहंस-पद कपिल मगन नित, सगर-सुतन कौं जारै।
निज पुत्रहिं पितु चहै करन बध, हिरनकशिपु ब्रत धारै॥
अंग नृपति रत धर्म सत्य त्यहि, वेन पुत्र दुख देवै।
ऋषि दधीचि की अस्थि जियत ही, इन्द्र सुमति सों लेवै॥

[१६]

वेद विहित सतकर्म करत वलि, सो पाताल सिधारै।
त्यागी-तीव्र-विप्र दुर्वासा, क्रोध हिये नित जारै॥
माया परे सु-दक्ष प्रजापति, अभिमानहिं मन धारै।
पायो अजामील पापी हरि, का बुध करैं विचारै॥

[१७]

आगि जारि सब वस्तु अनेकन, आपु छार ह्वै जावै।
रवि-कर सँग ज्यों उर्धजात जल, वहत निम्न त्यों भावै॥
शीत तुषार नलिन वन जारत, रोध वृक्ष हरियाते।
कठिन दैव-गति जानि न जावै, कहत धीर सकुचाते॥

[१८]

दित रह, सनकादिक दिन-राती।
क्रोध-बद्ध-बुधि श्राप दीन्ह तिन, कहि न मोह गति जाती॥

१—बैसाख।

त्याग-रूप जड़-भरत महामुनि, निरत बिबेक बिचारा।
प्रीति प्रेम परि धन्यो मृगा तनु, पायहु कष्ट अपारा॥

[१९]

दानवीर-नृप नियमशील भल, बिनय-बिनीत सरूपा।
सदा सचेत धर्म पालन मैं, नीति-निपुन वर भूपा॥
होम करत त्यहि हाथ जन्यो, द्विज, गिरगिट योनि गिरायो।
पाप पुन्य परिभाषा नीकी, नहिं कोऊ करि पायो॥

[२०]

विधि-प्रपंच पचि मरत जीव जग, जरत ताप त्रय माहीं।
सुख सन्मुख दुख दारुण आवत, सब उतसाह पराहीं॥
कौन अहै जन दुखित नाहिं फँसि, विषय-वासना नाना।
गहत एक कौं तजत दूसरै, रहत न छन कल प्राना॥

[२१]

निज सुख दिसि धरि ध्यान सदा तैं, कीन्ह भोग मनमाना।
दुखो जनन जान्यो कबहूँ नहि, कस दुख सहत महाना॥
गयो आजु तिन दुखियन पहँ सुख, दुख सवेग इत आयो।
सहु धरि धीर सुकरु करतब्यहु, परिवर्तन जग जायो॥

[२२]

सुख के समय नवै दुखियन सों, दुख लै निज सुख देवै ।
कबहुँ न घटै बढ़ै नित नव जब, स्वामि सेवकहिं सेवै ॥
जे दुखियन के दुःख निवारत, तिन दुख देखि परावैं ।
छाया सम गति जानौ तिनकी, गहत दुरत भगि धावैं ॥

[२३]

सुवन तिहारो जात राम पहँ, सबहिंन लै निज साथा ।
चलु उठु तैहूँ भगिनि भरत लखु, तव पग नावत माथा ॥
सुमिरत बढ़त घटत भूले दुख, करु बिचार मन माहीं ।
दरस राम लहि छुटिहै चिंता, रबि ढिग तम कहुँ जाहीं ॥

कैकेयी-वशिष्ठ-संवाद

[२४]

कुलगुरु जाय रानि समुझायो, शोक समय अब नाहीं ।
राम-विरह तन ताप तपत जन, छनहु कल्प सम जाहीं ॥
बरस्यो मेघ-भरत प्रभु-यश-जल, शीतल तन-मन कीन्हो ।
हृदय-भूमि सुख-तृन-अंकुर जमि, हरष हरित रँग दीन्हो ॥

[२५]

सकल अवध नर नारी ठाढ़े, विनय करत तव द्वारे।
सपदि चलिय वन भरतहि भावै, राम दरस व्रत धारे॥
उठि करजोरि कैकयी बोली, बचन अमिय जनु साने।
दुख-समुद्र बिच वीचि-वासना, रखत न मन थिर थाने॥

[२६]

लोक सुयश परलोक पुन्य बहु, तव पुनीत पद-सेवा।
तरनी भरि जल अंतर आवत, पार करहु प्रभु खेवा॥
राज्य भोग नहिं करैं भरत बरु, देहिं राम कहँ जाई।
लेइँ लौटि रघुनाथ हाथ निज, सासन-डोरि सुहाई॥

[२७]

सुनि वर वचन कहत गुरुवर हँसि, चलहु विपिन यहि काजा।
अवध-शशिहि, दुख-राहु ग्रस्यो तब, अब उग्रह सुख साजा॥
चलीं कोसिला संग केकयी, लीन्ह सुमित्रहु साथा।
पुत्र-बधुन सों कह्यो चलहु बन, देखन कौं रघुनाथा॥

वशिष्ठ-विज्ञप्ति

रूपकला छंद

[२८]

उच्च आसन खड़े गुरुवर, कहत भे अस बैन।
सुनहु पुरजन सुखद वार्ता, लहहु प्रिय हिय चैन॥
रानि केकयि राज दीन्हो, राम कहँ फिरि आप।
जाति कानन तिन मनावन, छूटिहै त्रय ताप॥

[२९]

गुरु-वचन सुनि सब मुदित भे जन, भयो अति जय सोर।
लगे बाजन बाजने बहु, घोष होत अथोर॥
चन्द राका देखि जलनिधि, हरषि उमड़त घोर।
राम-दरस-हुलास जन-मन, देखि जनु घन मोर॥

रघुवंशी वीर

[३०]

चतुरंग सेन उमंगमय, गज रथ पदाति सवार।
हुलसि सजि-बजि खड़े सब, रघुवंश के सरदार॥

अर्ध-आसन दीन्ह सुरपति, अवधपति कौं जौन।
इनकी बदौलत लह्यो अस, मरजाद नृपवर तौन॥

[३१]

कमल चक्र मयूर व्यूहहु, कीन्ह रचना सेन।
आमुक्त[१] वर्मित[२] सिद्धवर, करवाल[३] कर कटि लेन॥
गर्भही सों सीख लीन्हों, होन समर-सुजान।
अमर भरमत समर बिच लखि, वीर युद्ध-रिझान॥

[३२]

पाणितल[४] महँ प्राण लीन्हे, धीर साहस हीय।
सहज शांत सुभाव सरलहु, समर दृढ़ता जीय॥
शत्रु कौं नहिं शत्रु मानत, धर्म-युद्ध-प्रबीन।
लड़त प्रीतिहु करत तिन सँग, घटे अस्त्रहु दीन॥

[३३]

हाथ प्राण निकारि राखैं, धरत दाँव सुधीर।
अन्य कौं धन प्राण जीतत, द्यूत-समर प्रवीर॥

---

(१) कवचधारी, (२) मंत्रयुक्त कवच-भूषित वीर, (३) तलवार (४) हथेली।

बसत रच न वासना[1] अरु, आस ना मन माँहिं।
जियतही मरि जात योधा, समर सूर कराँहिं ॥

[३४]

वीर-कुल वर वृद्धि हित वे, करत वनिता साथ।
पूजि दम्पति विजय-लक्ष्मी, नमत ना रन माथ ॥
करत रच्छा दीन जन की, दुष्ट-दल कौं दाबि।
सदा जनपद सुखी विचरत, रचत कोविद काबि ॥

[२५]

सुर सराहत सूरता सुचि, शूर[2] सूर[3] समान।
प्रगट तेज प्रकास चहुँ दिसि, कीर्ति यश जग मान ॥
समर सोवत गोद-मृत्युहिं, सती-सुन्दरि संग।
जन्म मरनहु छूटि जातो, होइँ अमर अभंग ॥

ब्राह्मण

सार छंद

[३६]

जलज अलग जल सों जस रहतो, तस ब्राह्मण जग-त्यागी।
निरत सदा सतकरम भजन हरि, बुधि उपकार सुपागी ॥

(१) इच्छा (२) वीर, (३) सूर्य।

चिंतित चित्त दूसरन सुख हित, माया-वन मग कीन्हो।
मान-मूर्ति-नृप देखि उठत तिन्ह, तबहुँ न मानहिं चीन्हो॥

[३७]

धर्म-बुद्धि सों सदा बिचारत, कस होवै कल्याना।
जग-असि[1]-धार भार लै चलिबो, हृदय वासना नाना॥
सुख सबहिंन कौं मूल राजकुल, त्यहि हित रहत सचेता।
नृपहु धरत धन धरनि चरन-द्विज, लेत न तिनकौं नेता॥

[३८]

बहु प्रकार की अतर बनत भल, भिन्न सुगंधि सुहावनि।
मूल सबन कौं तैल सुचंदन, महँक महा मन-भावनि॥
सात्विक-हृदय अवध-वासिन-सर, विविध कमल-गुन सोहैं।
निज-निज धर्म निरत पुरवासी, तिन लखि तपसिहु मोहैं॥



(१) तलवार की धार।

पंचम सर्ग

चित्रकूट-यात्रा

सार छंद

[१]

बाल वृद्ध अरु युवा चले सब, नारि-वृन्द सँग लीन्हे ।
गज रथ हय तिमि सुखद, पालकी, चढ़ि-चढ़ि गमन सुकीन्हे ॥
मन पहुँच्यो ढिग प्रथम राम के, खींचत तनु निज ओरी ।
पार करत जनु नाव चढ़े जन, पकरि बँधी उत डोरी ॥

रूपकला छंद

[२]

प्रान सँग पुरयंष्टिका जस, चलत छोड़ि सुदेह ।
सग लागत ग्रामबासी, बद्ध राम-सनेह ॥

---

(१) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार ।

बढ़त जन जस बढ़त आगे, मिलन धावैं राम।
विस्तार सरि जिमि होत अति, निकट जलनिधि धाम॥

[३]

हाथिन अँबारी हरी भारी, मखमली बहु रंग।
जटित स्वर्ण अनेक बरनहु, छावती छवि अंग॥
उदित मघवा-धनुष जनु घन, दंत-दामिनि सोह।
सूँढ़ सोहत मेघ-रेखा, खड़ी नभ बिच जोह॥

[४]

गंड-मदकल[1] बहत मद जिमि, झरत झरना सैल।
हेम-हौदा-छत्र राजत, चलत मत्त सुगैल॥
स्वर्ण-मंदिर सोह ऊपर, गिरिहु कज्जल माँहिं।
सीख सिंधुर देत सुंदरि, लोल-चाल सुहाहिं॥

[५]

तुरँग चाहत शीघ्र चलिबो, नचत कूदत धाय।
खींचत सवार लगाम कर, तबहुँ चल अतुराय॥
परत पग पर पग जहाँ, द्रुत गति अनेकन बार।
रन-खेत जोति सुबीज बोवत, विजय वीर सवार॥

(१) मत्त हाथी।

[६]

सकट[1]-कटक[2] न अटक कहुँ अति, रेत जल मग कीच।
बली बैल विशाल वक्ष[3], कर न कबहूँ नीच॥
जुवा धारे उच्च-कंधहु, भार तूलहु[4] जान।
विपति-सागर पार करु जनु, सुकृत[5]-सुंदर-यान॥

[७]

ऊँट-अवली चलीं धवली, भूँरि[6] भूँरि अनेक।
चलत निसि-दिन तृषा नाहीं, मुरत ना कहुँ नेक॥
साठि बरु सत कोस जावैं, साँड़िया असवार।
भोंड़-देस कुभेस सँग मैं, सधत काम अवार॥

[८]

होत जन-रव घोर मग जनु, उमड़ उदधि अपार।
गज वाजि पदचर रथ चले बहु, बाँधि कोसन तार॥
निकट सुरसरि जाय पहुँचे, शृंगवेर बिराज।
सुखद दृश्य दिखात चहुँदिसि, छकित लखि मन साज॥

---

(१) गाड़ी, (२) समूह, (३) छाती, (४) रुई, (५) पुण्य, (६) भूरे रंग की, सुनहले रंग की; (७) बहुत।

निषाद का मार्ग रोकना

सार छंद

[९]

पहुँचे जबै निकट सुरसरि के देख्यो तहँ बनबासी।
अस्त्र-शस्त्र अँग धारन कीन्हें, आये समर हुलासी॥
"सावधान ह्वै युद्ध करहु तुम, बढ़हु न पग अब एका"।
घोष कीन्ह तिन्ह जाय तहाँ अस, लह्यो विवेक न नेका॥

हरिगीतिका छंद

[१०]

आमुक्त धनुधर सहित अभिचर, अमित सैनिक सोहते।
तहँ अस्त्र-शस्त्र-प्रबीन बीरहु, सतत रन हित जोहते॥
धनु हाथ बान चढ़ाय ठाढ़े, अवध-बासिन तकि रहे।
जनु षट-बिकार-अपार सेना, धर्म कौं चाहत गहे॥

वीरों का वशिष्ठजी से आज्ञा माँगना

[११]

रघुवंश-योद्धा जाय गुरु पहँ, कहत अस वर बैन भे।
बनबासि हमकौं घेरि लीन्हें, अरुन रन हित नैन भे॥

(१) कवचधारी, (२) सहायक।

प्रभु देहु आज्ञा समर की अब, इन सँहारै नेकु मैं।
कहुँ अरि-करिन[1] कौं हरिहुँ[2] भरमत, सहस देखत एकु मैं॥

वशिष्ठ-सम्मति

[१२]

सुनि बैन वीरन के तहाँ गुरु, धीर धरि कहत भये।
सरन सों जहँ जल मिले तहँ, कूप खोदहि क्यहि लये॥
काहे जरूरति बिजन[3] की जब, बहत वायु सुहावनी।
रम्य समथल सुलभ जब किमि, गिरिन डारहु छावनी॥

[१३]

पशु-भाव भाव अभाव ज्ञानहु, शील धीरज है नहीं।
परिनाम कारन कार्य कैं भल, करि विवेक सकैं नहीं॥
आनन्द-दायिनि शांति प्रीतिहु को, विचार नहीं जिन्हें।
लड़ि मरब सब सों निष्प्रयोजन, सहज भावत है तिन्हें॥

[१४]

तरु-छाल ऊपर होत रूखी, सरस राखत मध्य कौं।
नय-नीति भेद विभेद सामहु, दाम दाबहि युद्ध कौ॥

(१) हाथी, (२) सिंह, (३) पंखा।

बसन-मल अपहरत धोबी, करत स्वच्छ सुहावनो।
जब कुशल-मंत्री मंत्र करि कै, करहिं निश्चय धावनो॥

[१५]

तब समर करि हम अमर होवैं, जय अजय चिंता नहीं।
विजय यश अरु कीर्ति देवै, मरन अमर-सुराजहीं॥
नहिं हानि हार्‌यहु जीतिबे मैं, भाँति दुहुँ आनँद महा।
पर विधि-विधान निबाहिबो भल, मंत्र करिबो है यहाँ॥

निषाद की राम-भक्ति

रूपमाला छंद

[१६]

दूत पूछ्यो जाय गुह सों, करत काहे रारि।
करतब्य पालन करत हैं हम, कह निषाद विचारि॥
आत्म तन मन धन समर्प्यो, राम-चरनन माँहि।
जगत कौं हम शून्य देखत, प्रीति हरिपद चाहिं॥

[१७]

बाल वनिता वृद्ध की है, प्रीति प्रभु-पद माहिं।
मधुप-मन पद वास लीन्हो, कंज मंजु सुहाहिं॥

मसक-दंसहु राम-तनु लगि, सूल लागत मोहिं।
उनहिं हित हम युद्ध करिबे, कपट-केकयि जोहि॥

सार-छंद

[१८]

रघुकुल-कमल-बिमल सुरभित नित, अमल नवल नित सोहै।
सत-मकरन्द पराग-धर्म सुचि, रबि-हरि-कृपा सुजोहै॥
सुकृती-मधुकर लहत सरस मधु, चहुँदिसि आनँद छायो।
सदा समीर बहत सुरभित सुख, सौरभ सुरभि सुहायो॥

[१९]

केकयि-काई-कपट बढ़ी तहँ, स्वारथ-मल भल छायो।
मति दुरगँधि मधि अवध फैलि बहु, दशरथ भृंग भगायो॥
नवबल-कलभ सुलभ-सुख रामहु, पठयो वन दुखदाई।
तोष न भो ताहू पर मन मैं, लै सुत सेना धाई॥

[२०]

जानि लयो रघुवंशिन सटपट, कँटक किरातन केरो।
सुरसरि-तट जुटि भट जमघट ठट, अवघट घाटा घेरो॥

(१) मामूली, (२) फौज, (३) एकत्र होना, (४) जहाँ घाट न हो।

दौरे झटपट[1] आवत देखो, अटपट[2] मारग माहीं।
लटपटहू[3] नहिं अटकत भटकत[4], दपटत[5] झपटत जाहीं ॥

[२१]

वन बिच बाघ सिंह भालुन कौं, करि अहेर नित मारैं।
सहज सुभाव युद्ध करिबे कौं, नहि विचार कछु धारैं ॥
मधु मकरन्द कमल-मुख सुंदरि, ये मधुकर रस चाखैं।
करि करनी करि की हम इनकौं, मर्दि मेलि रन राखैं ॥

[२२]

तरुनी-तन त्रिबली अवली बिच, छिपे रहैं दिन राती।
बनि चकोर मुख-चन्द्र निहारत, बात न दूसरि भाती ॥
मृदुल-सेज बिच सोवत निसि-दिन, रन लौहा कस लैहैं।
भोजन भखत जौन षटरस कस, भूखे समर खड़े हैं ॥

[२३]

दशरथ-राउ सदा सनमान्यो, कर्‌यो छोह बहु भाँती।
राम-कृपा कौं कसक बखानौं, अधम निषाद कुजाती ॥

(१) बड़ी शीघ्रता के साथ, (२) कठिन, (३) कमजोर, (४) चिंता करना, डरना; (५) डाँटना।

सखा बनाय प्रीति बहु कीन्हो, नीचहिं अंक लगायो।
मसकहि विधि, अरु राउ रंक कौं, करि प्रभु सबै दिखायो ॥

[२४]

प्रभु दिसि जात बिपति बादर बहु, संग पौन बल रोकौं।
छितरि बितरि करि देउँ तिन्हन कौं, दै नभ-रन बड़ झोकौं ॥
धिक म्वहिं जाय पार सुरसरि के, प्रभु अरि लै निज सेना।
सहै कलंक कौन जग बिच तव, देवैं कवि जब ठेना ॥

निषाद के साथ स्नेह-प्रकाशन

[२५]

प्रभु-पद-प्रीति-रीति लखि गुह की, भाव दूत भल जान्यो।
मुनि वशिष्ठ सन कह्यो जाय तब, सुनतै सुख सरसान्यो ॥
उठे आपु लै भरत संग सुचि, चले निषादहि पाहीं।
जग-गुरु देखि दूरि गिरि भूमिहि, कीन्ह प्रनाम सुहाहीं ॥

[२६]

लीन्ह उठाय वशिष्ठ निषादहि, हिये लाय अपनायो।
जनु करि[1]-कर[2] धरि धूरि शीश निज, आनँद मोद मनायौ ॥

(१) हाथी, (२) सूँड़।

कीन्ह प्रशंसा बहुत भाँति सों, राम-प्रीति लखि नीकी ।
भाव-भरत-रत-राम-चरन-मति, बरन्यो प्रीति सुजीकी ॥

[२७]

लीन्ह अंक भरि भरत निषादहि, बहत नैन जलधारा ।
मनो मिल्यो नद जलनिधि-वारिधि, उमड़त बीचि अपारा ॥
सगरी सेना सन्मुख गुरु के, लाय निषाद जुहार्‍यो ।
आदर मान पाय बहुबिधि तिन, मुनि-आज्ञा गुह धार्‍यो ॥

[२८]

अगनित नाव एकत्रित कीन्हो, रच्यो सेतु तिन केरो ।
बुरो होत भल अनल सलिल सम, नेह जबै हरि केरो ॥
उतरन लगे अवधबासी तब, सुरसरि छबि अवलोके ।
निरमल-नीर पीर पापन की, मेटत नेकु बिलोके ॥

श्रीगंगा

सवैया

[२९]

धरनी सुत सेवक धान्य धरा धन देत सदा शिव शीश नवाये ।
विधि ब्रह्म-विचार प्रसन्न बड़े हरिहू हर पापिन पाप सवाये ॥

यक देव न तोष सकै करि कोउ त्रिदेवन के मन कैस सुहाये ।
गुन तीनहुँ के सुचि नीर बसैं त्रय-लोक मिलै जन गंग नहाये ।।

[३०]

ब्रह्म-कमंडल मंडल मंडित बावन के पग-धोवन थापी ।
शम्भु-जटान फिरी फिरकी बनि जन्हु-जँघा निकरी अति चापी ।।
वारि-प्रवाह बढ़ो बहु जोर जुटे तट आय महा परितापी ।
आप बहै धरनी-तल मैं कस स्वर्ग बसैं करि मज्जन पापी ।।

[३१]

मनसा बच कर्म कर्‍यो अघ पुंज अनेकन साप सिरे मँड़रावैं ।
सुचि साधुसमीप गयो न कबौं नहिं सत्य अचार न धर्म सुहावैं ।।
दुख देत सदा सब जीवन कौं जियतै त्यहि रौरव-नर्क घिनावैं ।
विधि की अनरीति दिखौ जहँ पापिहु गंग नहातहि पाप बहावैं ।।

[३२]

दौरि गजेन्द्र बचाये भले अरु द्रौपदि-चीर अनेक बढ़ाये ।
बाल-सरूप अनूप धरे बृज गाय चरावत धूरि चढ़ाये ।।
राम फिरे नितही वन को तब पावन की गति पावन गाये ।
आइ धरातल विष्णुपदी पद-विष्णु-महातम तूहि बढ़ाये ।।

---

(१) पाँव, पग; (२) पवित्र ।

घनाक्षरी

[३३]

कान पर्‌यो नाम "गंग" अघ-ओघ भग भये
भूतपति—भगति सुगति सरसात है।
कलमख[1] मख-हिये होमि दये दृष्टि करि
निरखि न रखि मल अमल जनात है।
परसत रज-कन राजत न षट-मल[2]
छाँड़्यो खाट खटमल जानो अधरात है।
पापिन के पाप बनि भाप आप भागि जात
साप जात ताप[3] जात जन्म-मृत्यु जात है।

[३४]

संतन कि संगति-म बैठि चित्त सांति होत
तिन उपदेस सुनि बुद्धि सुधरत है।
करै दूरि दारिद सुदान सतपात्र पाय
मधुर-बचन सों न काम बिगरत है।

(१) पाप, (२) काम-क्रोधादि, (३) तीनों ताप—दैहिक, दैविक और भौतिक।

तबौं उपचार ना उचार कीन्ह शास्त्र माँहिं
संचितादि कर्म-रासि जीव कचरत है।
बूँद के परत मुख सुकृत समीप दीसै
इत कंठ उतरत उत पाप उतरत है।

गंगा-पार

रूपमाला छंद

[३५]

उतरि सुरसरि सेन सँग सब, भरत मुनि ढिग जाय।
करजोरि बैन बिनीत गुरु सों, बदत भे शिर नाय॥
प्रभु कस बखानौं कर्म कौं, गुह कीन्ह जौन महान।
सेतु नावन को बनायो, सकत ना करि आन॥

निषाद और राम, दोनों केवट हैं

[३६]

बचन मुनिवर कहत हँसि गुह, राम कौं यक नाम।
अहैं केवट दोउ सब बिधि, तरनि-तारन काम॥
नाम-पोत बिठाइ भक्तहि, करत भव-निधि पार।
बूड़ते मँझधार जो जन, तिन्है लेइँ उबार॥

[३७]

मरु को बनावत सजल सुथलहु, उरबरा कौं रेत।
दीन दारिद धनी मानी, ऊसरहु कौं खेत॥
बुधिवंतहू कौं मूढ़मति अरु बूढ़ को करु ज्वान।
करत माटी रत्न मणि कौं, लोह होतो स्वान॥

[३८]

चढ़े ऊँचे गिरत नीचे, प्रेम-प्रभु-पद खोय।
बनत गूँगा सिद्ध गायक, कमल-चरनन जोय॥
तम प्रकास अकास महि बनु, नगर वन विपरीत।
बनत राका कुहू [1]दिन निसि, जहँ न प्रभु-पद-प्रीत॥

[३९]

मूढ़ जानत युक्ति नहिं कछु, कौन माया द्वार।
निकरि कैसे सकैं बाहर, जब न सँग सरकार॥
भक्त सँग प्रभु लगे घूमैं, करत रच्छा नित्त।
पाँव पाछे परै नाहीं, मुदित आनँद चित्त॥

[४०]

संसार-सिन्धु अपार जो, चह कीन्ह पार सयान।
शरन केवट जान चाहिय, होत मोद महान॥

(१) स्वर्ण।

कूच अस कहि गुरु करायो, चली सेन प्रयाग।
दिखत वापी बाग मग कहुँ, करत मुनि मख याग॥

षष्ठ सर्ग

अन्तर्वेद

सार छंद

[१]

पुन्य-थली अति भली-गली लग, रँजी पुँजी मनहारी।
पुष्पावली पली मालिन सों, फली फुली फुलवारी॥
कली खिली अँग धुली मनोहर, मली अली-गन धाई।
कल काकली कोकिला करतीं, वन उपवन सुखदाई॥

[२]

अन्तर्वेद-भूमि यह सोहै, पुन्य रूप यहि जानो।
अमित काल सों बसत संत जन, तप-निकेत शुचि मानो॥
दक्षिण यमुना उत्तर गंगा, गलबाहीं भल कीन्हे।
मनु दुइ दुहिता भेंटत जननी, छपटि अंग त्यहि लीन्हे॥

६

[३]

विधि विरच्यो यहि सुभग बाटिका, आर्यावर्त्त सुदेसै।
विविध रसाल बिसाल मधुब्रत, जम्बु निम्ब बट वेसै॥
सिरस सिंसुपा सेमल बदरी, बेल बहेरा सोहै।
फूले फले बिटप बहु बिलसत, मधुकर मधु हित जोहै॥

[४]

मनु बरन्यो यहि आदि काल सों, तपोभूमि भवहारी।
मांझा परो नदी-माया जनु, विरति सुथल सुखकारी॥
चारों वर्ण विचारशील सब, बसत बिषै मति नाहीं।
नित्यकर्म जप यज्ञ धर्म रत, सत्य शील मन माहीं॥

आदर्श दम्पति

[५]

ग्राम-तियन अवलोकहु कस ये, कुशल कुलीन विधानैं।
पग निरखत मग धरत लाज दबि, सकुचि चलब मन मानैं॥
पति-पद-दिवस फूलि पंकज-अँग, सुंदरता मधु सोहैं।
निसि-वियोग बंद करि कंजन, अंजन दृग नहिं जोहैं॥

[६]

महा तपस्विनि त्याग रूप तिय, मन न वासना कोई।
पूज्यो पति-पद तन मन दै ते, दयो अपनपन खोई॥
अर्ध-अंग बनि बस्यो बिलग तनु, तबौं एक मन दोनौं।
जलनिधि मिलि नदि मिलत न दूसर, द्वैत नस्यो रह जौनौं॥

[७]

※सरबस सौंपि दीन्ह पति कौं तिय, मिलि भईं धव अनरूपा।
उनहुँ मिलाय रूप निज लीन्हो, भयो आपु तिन रूपा॥
मधुर वारि लै मिली सिन्धु सरि, खारो सलिल बनायो।
जलधि छाँड़ि निज आनि मधुर किय, जब घन जल हित धायो॥

---

(१) पति।

※स्त्री ने अपना सर्वस्व पति को सौंप दिया और वह स्वयं पति-रूप हो गई। पति ने भी उसे अपने रूप में मिला लिया और खुद उसका रूप हो गया, अर्थात् दोनों एक हो गये। जैसे नदी मीठे जल के साथ समुद्र से मिलती है और सागर उसे अपने में मिलाने के लिये उसके मधुर जल को खारा बना डालता है। किन्तु जब मेघ जलनिधि से जल की याचना करते हैं, तब वह उन्हें नदी ही का मीठा जल देता है। ऐसा करने में वह नदी की मान-मर्यादा बढ़ाता है। उसी प्रकार पुरुष भी सदा स्त्री की मान-मर्यादा बढ़ाता है और ऐसा करने में वह अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि समझता है।

[८]

सदाचार-गिरि दाबि सुमन गति, अपने बस त्यहि कीन्हो ।
मति-कमलिनि वर नलिन-विचारहु, सत-सुगंध सुचि लीन्हो ॥
पति-मधुकर मधु-प्रेम पान कर, हिय-दल बंद सुहाये ।
आय सकत कस भ्रमर-अन्य-जन, छिद्र न कहूँ लखाये ॥

[९]

पुरुष-प्रवीन लीन हरि-पद सुचि, नित-नव मन अनुरागै ।
उपजत तासों सत बिचार भल, बुद्धि विवेक बिरागै ॥
कसक बिलग चहि रहव जगत सों, प्रभु-पद-जल, मन-मीना ।
सीख सिखावत सबकौं सब विधि, प्रभु-गुन-गान प्रवीना ॥

(१) निर्मल मन, (२) कमल ।

† सदाचार रूपी पर्वत के नीचे मन की चंचलता दाब दी गई है। बुद्धि रूपी कमल में उत्फुल्ल पुष्प रूपी विचार लगे हैं, जिसमें सात्विकी वृत्ति सुगंधि भरी है। पति रूपी भ्रमर हृदय-रूपी पुष्पदलों को बंद कर प्रेम-रूपी मधु का पान करता है। तब वहाँ अन्य पुरुष रूपी अन्य भ्रमर कैसे जा सकता है; क्योंकि वहाँ तो भीतर जाने के लिये मार्ग ही नहीं है। अर्थात् स्त्री में पर-पुरुष की वासना उत्पन्न ही नहीं होती।

[१०]

चितवत वीर एक रन कौं जस, तस निज पतिनिहि ताकैं ।
काम काम विपरीत करै कस, हिय मन-मोहन झाँकैं ॥
विगत क्रोध मद लोभ विषय सब, जगत-जाल रखि दूरी ।
जियत नेह लगि हरि-पद पंकज, धरत संत पग धूरी ॥

[११]

करहु प्रनाम भरत इन बिप्रन, द्रव्य भेंट बहु देवो ।
इन्द्र कुबेर बेर नहिं लावत, शिर धरि पद-रज सेवो ॥
सींचत मूल हरो पंचांगहु, फले फुले मधुमासा ।
भक्त प्रसन्न जबै हरि हेरैं, करैं पूर मन आसा ॥

[१२]

शुद्ध अहै तन मन तिनकौं तस, सदनहु स्वच्छ सँवारे ।
लीपि पोति सुचि चौक पुराये, सब बिधि द्वार सुधारे ॥
निज कर करति काम घर के तिय, छन छन भवन बहारैं ।
धूरि न देखि परै पग बिच जनु, बसन बिछे छिति झारैं ॥

[१३]

ईर्षा द्वेष न लेस परस्पर, एक दूसरहि मानैं ।
सकल विश्व निज कुटुँब बरोबरि, हिय न भाव कछु आनैं ॥

प्रभु-पद नेह खींचि मन बुधि कौं, रख्यो संग जगनाथा।
मुकता-माल पिरोय छेदि तन, बँध्यो सूत्र बल साथा॥

[१४]

मृत्यु-लोक मैं बसत मनुज-तनु, जीति स्वर्ग कौ लीन्हो।
सुरपति लै सँग रितुपति[1] रतिपति[2], हारि शीश पग दीन्हो॥
विषय-विकार राग रंजित मन, अमर लोक ललचावैं।
भोग-विलास सकल सुख-त्यागी, जगपति-पद इन भावैं॥

चन्द्रोदय

रूपमाला छंद

[१५]

भरत देखहु सूर्य अथयो, द्विजहु[3] लेइँ बसेर।
धेनु धाईं वत्स सुधि करि, करत ना वन बेर॥
राति निबसहु अहै थल सुचि, पुन्य-सुरभि सुहाय।
कुविचार दुरगँधि दूरि भागत, शांति आनँद छाय॥

[१६]

करजोरि बोले भरत गुरु सों, नीक है यह ठाम।
उतरि जन विश्राम करिहैं, थके बृद्धहु वाम॥

(१) वसन्त, (२) कामदेव, (३) चन्द्रमा।

उदय शशि नभ किरन फैलीं, अंधकार नसान।
उपज प्रभु पद प्रेम ज्यहि हिय, शुद्ध होत महान॥

[१७]

देखि शशधर उदधि उमड़त, उठत वीचि अनेक।
सुत-प्रभाव विलोकि पितु-सुख, बढ़त नित नव नेक॥
चमक छाया-चन्द्र सलिलहु, लहत सोभा दोउ।
पाव सुकृती सकुल सुख जब, प्रेम निज जन होउ॥

[१८]

तकत चन्द्र चकोर यकटक, यदपि दूरि बिसेस।
साथ लागे घुमत जनु जब, प्रेम दृढ़ हिय बेस॥
सुखद वस्तु न आन देखत, ध्यान दृष्टिहु एक।
भोग भूरि अनेक त्यागत, भक्ति प्रभु जब नेक॥

[१९]

बसत कैरव कमल सर दुहुँ, कार्य तिन बिपरीत।
दियत अंजलि पुष्प की यक, पाय हिमकर शीत॥
लखत दूसर चन्द्र मुख नहिं, करि न सक तम दूरि।
यदपि चाँदनि छहरि छिति पै, तिमिर तबहूँ भूरि॥

(१) चन्द्रमा।

[२०]

काम आवत कौन कुमुंदहु[1], और के निशि फूलि।
अन्य अर्थ न लखत स्वार्थी, रहत धन जन भूलि॥
होत भोर सरोज फूलत, द्वार भौंरन भीर।
उपकारि जन ढिग जात दुखिया, हरत सो त्यहि पीर॥

[२१]

चोर नाहिं सुहात चाँदनि, सबहि वस्तु दिखात।
संत संग न लगत नीको, दुष्ट करु नित घात॥
चन्द्र चिंता करु चकोरी, बसत दूरि अकास।
धारि मन मैं वासना बहु, फँसत माया फाँस॥

[२२]

दिखत छाया चन्द्र बिच त्यहि, कह कलंक सयान।
अल्प दोषहु बड़े जन के, प्रगट साथ प्रमान॥
उच्च मति के कलुषहू[2] सब, लहत शोभा संग।
बन्यो भूषण कालकूटहू[3], सदा शिव के अंग॥

[२३]

स्वच्छ श्वेत दिखात महि सब, किरन शशि की फैलि।
बाढ़ सुरसरि मनो आई, पहुँच घर बन गैलि॥

(१) कुईं का फूल, जो रात में फूलता है, (२) दोष, पाप, (३) विष।

सस्य तरु तृन फूल फल दल, अधिक शोभा पाव।
भाग्य पलटत जबै ज्यहि की, यश प्रतापहु छाव॥

[२४]

कितिक दूरि अकास बसि शशि, करत महि परकास।
प्रताप फैलो दिसा बिदिसा, जहँ प्रतापि न बास॥
संग हिमकर नखत नभ बिच, लगत द्युति तिन फीक।
जगत पावनि सुरसरी सम, नार[1] होत न नीक॥

[२५]

छिटिकि चाँदनि लखि चहूँ दिसि, हृदय उठत उमंग।
श्वेत चादरि ओढ़ि रजनी, रमत शशि के संग॥
अधराति मैं पपिहा पुकारत, सुनत जागत लोग।
सुजन दाया करत दुखियन, हरत सब दुख रोग॥

प्रभात

रोला छंद

[२६]

प्राँची[2] छितिज[3] दिखात, अरुन परकास प्रगट मग।
जनु दावा की ज्वाल, जरत तम तोम सकल जग॥

---

(१) पानी बहने का नाला, (२) पूर्व दिशा, (३) जहाँ आकाश और पृथ्वी मिली हुई दिखाई दें

बिकॅन-लम्प[1] जगमगित, सिन्धु जग ओर दिखावै।
जनु द्विज पशु नर यान, लखत निज राह सिधावै॥

[२७]

बोलन लगे विहंग, बिबिध बोली तरु डारन।
बंदीजन जनु गाव, द्वार-नृप नींद, निवारन॥
काँउ काँउ करि काग, उड़े कौरन के कारन।
अधम अपन हित चहत, मिलै चह चूरन-चारन॥

[२८]

* सीतल मंद समीर, चलत सुरभित बहु फूलन।
सिकता[2]-कन अति शीत, नीक लागत नदि कूलन॥
वैद्य-वायु जनु देत, सबहि जड़-चेतन औषधि।
तपन[3] तर्पन[4] चह होन, सहन करि सकै जौन विधि॥

(१) 'बीकन' (Beacon) नाविकों को पथ दिखाने के लिये समुद्र के किनारे ऊँचे स्थान पर बना हुआ विशेष-प्रकाश-शक्ति-सम्पन्न लैम्प, (२) बालू, (३) सूर्य, (४) गरमी।

* प्रातःकाल शीतल पवन चल रहा है, मानों पवनदेव उपकार-दृष्टि से सब जड़-चेतन पदार्थों के निकट शीतलता पहुँचा रहे हैं कि अभी थोड़ी देर में सूर्य प्रचंडतापूर्वक तपेगा, उसके सहन करने में उस समय यह शीतलता बहुत कुछ सहायता करेगी।

[२९]

छिति[1] छहरत छबि छकित, लखत त्यहि मुनि मन मोहैं।
वसन झीन तनु लसत, फूटि सुंदरि अँग जोवैं॥
प्रभा-प्रभात सुहात, चहत पंकज-दल खोलन।
नव-यौवन चह उठन, बरस रस तिय मृदु बोलन॥

[३०]

चहत चन्द्र नहि जान, यदपि त्यहि मुख मुरझायो।
छीन गयो अधिकार, तबहुँ शठ रहन लुभायो॥
प्रभुता जब नहिं हाथ, भला प्रभु तब को मानै।
होतो मानि मयंक, कसक सहतो अपमानै॥

[३१]

फूले कमल तड़ाग, भरे दल सरस मधुर मधु।
गुंजत कुंजन मंजु, पियत मकरंद मधुप-बधु॥
पुरइनि-पातन परै, बुंद-जल झलक मोति सम।
मूढ़ साधु सँग बैठि, करत साधन बहु शम दम॥

[३२]

पथिक चले उठि राह, कान कलरव पच्छिन पर।
चली चरन वन धेनु, श्वान-गन दौरि धूरि धर॥

---

(१) पृथ्वी।

डोलत पल्लव पात, करत जनु आगंत[1] स्वाँगत[2]।
गावहिं भैरवि-राग, सुनत सोये जन जागत॥

[३३]

पनिघट पानी भरन, चलीं तियगन अलसानी।
सरितट द्विजवर बैठि, करत सन्ध्या मुनि ज्ञानी॥
लगे बजन अब घंट, संख मंदिर देवन मैं।
पढ़त वेद वर-विप्र, मगन मन प्रभु सेवन मैं॥

[३४]

जाल लादि लघु-नाव, मीन मारन धीवर चल।
पापी पाप सुहात, करत ना कहुँ भूलिहु भल॥
जन-गन मग अब निकर, सून-थल सोभित लागै।
उदय होत जब भाग्य, करत अरिहू अनुरागै॥

वसंततिलका छंद

[३५]

सोये सुबाल मुख चूमति भोर माता।
जागो भयो अब प्रभात-प्रकाश ताता॥
लागे विहंग तरु बोलन मंजु बोली।
खेलैं सु द्वार बहु बालक बाँधि टोली॥

---

(१) आनेवाला, (२) सत्कार।

[३६]

जागीं तिया तजि दयो सुख-सेज भोरैं।
लागीं मथैं दधि कितीं घर-काज दौरैं॥
पूजैं नहाय तुलसी पति-प्रेम माँगै।
चाहै चकोरि यक चन्द्र-चितौनि जागै॥

[३७]

फूले सुफूल तरु-डारन नीक सोहैं।
सोभा लहैं जन जबै सतकर्म जोहैं॥
मोती समान कन-ओस लखात पात्रौ।
जो हैं पवित्र नर राखत शुद्ध गात्रौ॥

सप्तम सर्ग

वशिष्ठ-भरद्वाज-भेंट

सार छंद

[१]

देखहु दूरि भूरि अवली-तरु, मिलीं भली यक माहीं।
तीरथराज प्रयाग अहै ढिग, मुक्ति देत सब काहीं॥
विविध बतकही करत राह में, पहुँचि त्रिबेनी तीरा।
उतरे भरत समेत सेन गुरु, मुनि वशिष्ठ मतिधीरा॥

[२]

महा तपोधन भरद्वाज मुनि, बसत शिष्यगन साथा।
जाय वशिष्ठ मिले जब ऋषि सों, तिन उठि नायहु माथा॥
अर्घपाद्य दै पूँछि कुशल सब, जानि भरत की प्रीती।
कह्यो अतिथि सब होउ धाम मम, विनय कीन्ह बहु रीती॥

भरद्वाज-स्वागत

स्राग्विणी छंद

[३]

भागि जागी भली आजु मोरे घरै।
राम-भाई गुरु कर्म-दोषौ हरैं॥
का न जानै कन्यौं पुन्य कौनी कहा।
आय श्रीमान् दीन्ही बड़ाई महा॥

[४]

धन्य मैं हौं दयापात्र कीन्हो जिसे।
सीपि कौ मूल्य का मोति जो ना दिसे॥
कौन पायो बड़ाई बड़े साथ ना।
मुक्ति-तीर्थौं बसे का लग्यो हाथ न॥

[५]

रत्न खोदे मिले ना कहीं खानि में।
सो पड़ा भू-तले आ गयो छौनि में॥
कल्पवृक्षौ कहौं दीन का है सगा।
सो वहौ आय आनँद देने लगा॥

(१) छप्पर।

वशिष्ठ

मोतियदाम छंद

[६]

वशिष्ठ कह्यो मुनि सों अस बैन।
लह्यो दुख मैं सुख मानस-चैन ॥
बियोग-बिथा मन राम महान।
मिल्यो अवलंब तुम्ही भगवान ॥

[७]

करो अब पार पयोधि अपार।
रह्यौ नहिं धीरज यान सँभार ॥
छनै छन बीचि उठै नहिं थोर।
चलै बहु वायु घिरे घन-घोर ॥

भरद्वाज का उत्तर

सार छंद

[८]

तब सुनि गुनि मुनि कहत बचन मृदु, विधि-सुत सों करजोरे।
प्रभु-समर्थ दुख समन करन कौं, तम न रहत रबि ठौरे ॥

भरत-भक्ति भल विदित सकल जग, राम हितै सब त्याग्यो ।
भ्रात चरन शुचि पद्म प्रीति हित, अवध न बसि वन भाग्यो ॥

[९]

नृप दशरथ करि सत्य वचन निज, सुत बिछुरत तनु त्याग्यो ।
राज-तड़ाग कमल-सुख सरसत, मधुप राम नहिँ राग्यो ॥
भरत-त्याग त्यागी-ऋषि-मुनिहूँ, अचरज अरज करायो ।
लोक हेत हित हेरि हरषि सव, दुख गहि सुख दुरियायो ॥

[१०]

जल-विवेक सर-शांति हिये-महि, ज्ञान-पद्म भल राजै ।
मधुकर विमल सरस मकरंदहु, जीव आत्म-सुख साजै ॥
मधुर अधर लगि गयो जबै फिरि, कसक सकै को त्यागी ।
सोवत स्वप्न अनेकन देखत, लखत कहूँ उन जागी ॥

[११]

डोलन शक्ति न पल्लव पातहु, प्रबल पवन झकझोरै ।
गति-प्रवाह नहिं रज-कन होतो, बारि वेग बह जोरै ॥
विधि-गति अजित दिखति अति जग बिच,नर सुर शीश नवावैं ।
कसक केकयी भई दोष युत, कर्म शीश मँडरावैं ॥

[१२]

घनघन[1] करत रहत घन[2] घनरस[3], बरसत महि बहु लखिये ।
पवन चलत बिचलत इत-उत भग, नभँस[4] न नभ कहुँ दिखिये ॥
अनत घिरत गरजत घहरत भल, सतत लहत सुख रहिये ।
अवध तजत बिलखत पुरजन-गन, हरख सबँर[5] मुद लहिये ॥

[१३]

※हँसत कहत मुनि सरस वचन वर,
सुनहु भरत प्रिय मुद घन ।
उदधि-अवध उमड़त सुख-जलमय,
बरसत चहुँदिसि घर वन ॥
सिमिटि भरहि सर सरित हरित थल,
बहि पुनि मिलत जलधि कहँ ।

(१) मेघों का शब्द, (२) मेघ, (३) जल, (४) पक्षी, (५) कोल-भिल्ल ।

※ श्रीभरद्वाजजी हँस कर कहते हैं कि हे भरत, आप मेघ के समान हैं, आप सुख-रूपी जल को अवध-रूपी समुद्र से लेकर सर्वत्र बरसते फिरते हैं । वह सुखमय जल फिर बहकर अवध-सागर को लौट जावेगा और सीताराम एवं लक्ष्मण-रूपी रत्न वहीं फिर सबको मिलेंगे ।

सिय रघुवर वर लखन रत्न सब,
मिलहिं बहुरि सबहिंन तहँ ॥

[१४]

चलिय त्रिबेनी तीर भीर मुनि, ऋषिगन तहँ बहु सोहैं।
प्रभु-पद-पद्म-पराग पेखि जन, मधुकर मंजु सुजोहैं ॥
दिनकर-निकर प्रकास विगत लखि, चाहत तम महि छायो ।
सन्ध्या भई करन संध्या को, समय गयो अब आयो ॥

संगम

[१५]

कलकल करत भँवर बनि नाचत, जल जनु नरतक सोहै ।
चलत चलत रुकि झुकि घुमिरत मनु, पथिक साथ फिरि जोहै ॥
बहत सवेग घोर धारा बिच, मिलि आवर्त्त घुमावै ।
संग-दोष दूषित करि हिय कौं, बुद्धि विचार नसावै ॥

[१६]

उत जनु यमुना श्याम बरन लस, इत गंगा सित सौहै ।
विष्णु महेश संग दोउ राजत, भक्ति मुक्ति पद जोहै ॥

नील-मणिन की गच राजत जनु, श्वेत तुषार बिराजै।
नभ-छाया-माया-रबि-दुहिता, निरमल सुरसरि छाजै॥

[१७]

चलि सवेग सुरसरि यमुना बिच, श्वेत-धार भल सोहै।
शुभ-विचार हिय शुद्ध करत भल, विषय न त्यहि फिरि मोहै॥
निज दिसि आवत गंग विलोक्यो, भेंट्यो त्यहि गलबाहीं।
युग करजोरि बोरि मन प्रीतिहु, चली उदधि-पति पाहीं॥

[१८]

धार गँभीर सुता दिनकर की, मंद बहत सुचि नीरा।
जनु कुलीन तिय धरत सकुचि पद, अति मतिमान सुधीरा॥
तीव्र प्रवाह जन्हु-तनया कौं, ढाहत कूल कगारे।
अभिसारिका चली पिय पै जनु, प्रेम प्रीति उर धारे॥

[१९]

दिखत नीर अति नील मनोहर, कर-गत श्वेत सुहावे।
सन्मुख ज्ञान न माया दीसत, जग मिथ्या दरसावे॥
नील रत्न की खानि लसत जनु, झलकत रवि-कर पाये।
बुरो भलो अरु भलो बुरो कर, मति स्वारथ जब भाये॥

[२०]

❀ सौंपि अपनपन विष्णुपदी कौं, यमुन नाम यश त्याग्यो।
श्याम रूप बनि गंग आदर्‌यो, त्याग महातम जाग्यो॥
रूप एक कौं सोह दूसरहि, वहि भल नाम सुहायो।
दोउ भईँ नाम रूप एकै करि, जग यश चहुँ दिसि छायो॥

[२१]

अचरज महा लखिय संगम महँ, सरितन बिच कटि धारा।
अगम सुगम सब होत तुरत ही, सुमति प्रभाव अपारा॥
अंतर-धार वहत सरस्वति की, गंग-यमुन सँग सोहैं।
जनु नव-बधू सकुचि गुरुजन पहँ, निकसि न आँगन जोहै॥

❀ यमुना ने अपना सर्वस्व—अर्थात् नाम और यश—गंगा के लिये त्याग दिया, और श्वेत गंगा ने यमुना—श्यामसलिला—का रूप धारण कर अपने शुद्ध निर्मल श्वेत रूप का परित्याग किया। अर्थात् यमुना अपने नाम को छोड़ गंगा के नाम और रूप में समा गई, और गंगा ने अपने धवल रूप की बलि करके श्याम वर्ण को धारण किया। ऐसा होने से दोनों एक-रूप हो गई। अतः त्याग से वह पदार्थ अधिक रूप में प्राप्त होता है, जिसकी चाहना ग्रहण करने में होती है।

[२२]

तरनि-तीर बहु तरनी राजति, तिनपर तरि[3] जन जावैं।
बुद्धिमान जस देखत तहँ तस, करत सपदि सुख पावैं॥
सहसन मज्जन करत नारि-नर, अल्पन के मन सीझैं।
अंतर बाहर एक होत जब, तब कहुँ रघुपति रीझैं॥

[२३]

कच्छप मीन मकर नाकहु बहु, मुख दिखाय छिपि जावैं।
कपटी धूर्त भूलि कहुँ सच भखि, पुनि त्यहि झूठ बतावैं॥
सारस हंस कराकुल कलरव, करहिं बिहँग बहु वृन्दा।
प्रगटत निज गुन गुनिजन जस ढिग, गुनगाहक सानंदा॥

[२४]

फूले-फले हरित तरुवर सब, सरि-तट सुंदर सोहैं।
मधुकर-निकर[4] निकरैं[5] इत-उत तहँ, मधु-सुगंध मन मोहैं॥
छाया सुखद पथिक बिरमत बहु, बहत वायु सुखदाई।
संत निकट दुरजन सज्जन बन, चंदन निम्ब सुहाई॥

---

(१) नदी, (२) नाव, (३) पार करना, (४) झुंड, समूह; (५) निकलना।

[२५]

चरत पुलिन[1] मुनि धेनु वृन्द जँह, पियत गग-जल दीसैं।
छोट बनत बड़ संग प्रभावहि, सुमन-कीट सुर सीसैं॥
सूखि गयो जल उड़त रेनु तहँ, झाउ जवासा जामें।
संपति नास भई जब घर की, तृन पतवार सु तामें॥

[२६]

※कोउ मुनि बैठि निकट यमुना के, दिनकर कौं जल देवैं।
चमकत किरनि वारि अंजलि-गत, जनु रवि कह कस लेवैं॥
सुता-धान्य कौं ग्रहण करत पितु, स्वर्ग न वह फिरि पावै।
दुहिता दूसर-कुल कौं दै पुनि, लेत्र न त्यहि सों भावै॥

[२७]

ठाम ठाम बैठे मुनि-जन जहँ, करत विचार विधाना।
भक्ति ज्ञान के गूढ़ रहस्यहु, प्रगट करत विधि नाना॥

---

(१) नदी के तट के जल से बाहर निकली हुई भूमि।

※ सूर्य की किरणों की चमक से अंजलिगत जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब हिलता है, मानों सूर्य निषेध-सूचक शिर हिलाकर यमुना के जल को स्वीकार करने में 'नाहीं' करते हुए कह रहे हैं—'यमुना मेरी पुत्री है, इसकी वस्तु मैं नहीं लूँगा।'

राज-समाज-नीति बरनत बहु, धरम-नींव रचि राखैं।
कुशल लोक परलोक सिद्ध मुनि, नित जन हित भल भाखैं ॥

[२८]

कबहुँ दाबि कालिंदि सुरसरि कौं, ठेलि देति बहु दूरी।
कबहुँ त्रिपथगा यमुनहि रेलति, जात घुसी भरपूरी ॥
सतत रहत कोलाहल कलकल, छायो मोद अनंदा।
संघर्षण जनु बनि बड़वानल, नासत जन-अघ-वृन्दा ॥

दोहा

[२९]

भरत सेन गुरु मातु लै, संगम मज्जन कीन्ह।
भरद्वाज अतिथिन हितै, प्रभु-स्तुति मन दीन्ह ॥

भरद्वाज-स्तुति

द्रुतविलंबित छंद

[३०]

मुनि यकांत बिनै कर जोरि कै।
करत प्रेम हिये जल बोरि कै ॥

सतत नाथ तुम्हारिहि आस है।
तव-प्रभाव महान सुपास है॥

[३१]

अतिथि आय टिके मम द्वार हैं।
भरत के सँग सेन सवार हैं॥
कनहुँ ना कहुँ देखि परै जहाँ।
कसक मैं कहि दीन्ह 'टिको यहाँ'॥

[३२]

अब सँभार करो प्रभु आपही।
रहि सके जन की कस बात ही॥
तुम दयाल दया करते तिसे।
नहिं कहीं अवलंब रह्यो जिसे॥

[३३]

सकट-संकट व्याकुलता भरी।
मति प्रमत्त न चक्र चले धुरी॥
जतन ना चलती बढ़ती बिथा।
छनक हेरि हरो दुख की कथा॥

[३४]

अब गरीब-निवाज निवाजिये।
करुन छोह छमा जन छाजिये॥
विरति ज्ञान न साधन सिद्धि से।
रहि न चाह कबौं नव-निद्धि से॥

[३५]

सतत प्रेम रह्यो पग-पंकजे।
जग न जानत भूपति रंक जे॥
तुमहिं में रत चित्त बस्यो नितै।
दुख परो जन जाय कहौ कितै॥

[३६]

नियम को जन के हित तोड़ते।
विषम को सम संग जु जोड़ते॥
रहत दास सदा जग दूर ही।
धरत माथ प्रभो-पग-धूर ही॥

[३७]

दरिद दीन मलीन अहौं प्रभो।
पर भरोस सदा तुम्हरो विभो॥

न्यवति दीन्ह सबै मतिमंद मैं।
चहत होन कुरंग अनंद मैं।

[३८]

विधि बनावत बात बनै नहीं।
तुम दयालु दया करते तहीं॥
जब न भिन्न अहौ जन सों कबौं।
कस न लाज रखौ त्यहि की तबौं॥

[३९]

पतित-पावन पावन मैं पर्‌यों।
कस अपावन ही रहि ना तर्‌यों॥
दुखित आरत गारत गात है।
कहँ अहौ हरि लाज जु जात है॥

[४०]

चरन मैं रत आरत दीन है।
मधुप बंद परो लवलीन है॥
विकल हौं कस देर लगावते।
परत भीर तबै प्रभु धावते॥

[४१]

कसक आजु समाज सुमान हो ।
जतन कौनि करौं ज्यहि ध्यान हो ॥
दिवस राति त्रिकाल सदा अहौ ।
फिरि सुनो नहिं तौ प्रभु का कहौं ॥

[४२]

जय रमापति श्रीपति धी विधे ।
जगत-जीवन श्री करुनानिधे ॥
जन न जानत ताप-त्रयी कहाँ ।
सतत रक्षत आप खड़े तहाँ ॥

[४३]

तब कहौ कस लोभ मदादि की ।
चलि सकै छल-नीति विषाद की ॥
रवि उदै तम देखि कहाँ परै ।
तुम जहाँ तहँ काम बिजै करै ॥

[४४]

शशक शावक-सिंह हनै नहीं ।
सरप जीति लयो गरुडौ कहीं ॥

लखत सेन लवा लवमात्र में।
छिपत झारि भरी भय गात्र में॥

[४५]

सरित मध्य दवागि कहूँ लगै।
सलिल-सीतल ज्वाल नहीं जगै॥
सुत सहै कहुँ पीर पिता लगे।
तब बिषै कस दासन को ठगे॥

[४६]

नृपति-पुत्र दरिद्र सतावही।
वन मृगेन्द्र मृगा-भय धावही॥
बुध न बुद्धि विवेक लखात है।
हरि समीपहु त्रास जनात है॥

[४७]

कठिनता न ठनी मन मैं कबौं।
पतित पापि पतीन रह्यो जबौं॥
सतत नीचन कीच निकारते।
दुखित दीन गरीब उबारते॥

[४८]

बस, करो न करो तव काम है।
जन परो प्रभु-पौरि अकाम है॥
मधुरता मधु की बिधु की कला।
बिलग ह्वै सकती उनसों भला॥

रिद्धि-सिद्धि का आगमन

सार छंद

[४९]

मूँदे नयन विनय-रत मुनि अति, प्रेम-विकल सुधि नाहीं।
शिष्य-मंडली दौरि गई ढिग, अचरज अरज कराहीं॥
श्री गुरुवर वर वदन बिलोकहु, सहसन नारि ललामा।
द्वार-कुटी सब जुटीं जोहतीं, सुकृती सुकृत सुधामा॥

[५०]

विविध सदन मुनि-मन मोहति जे, बिलसति सुचि रुचि मोहैं।
राजप्रसाद अगार अनेकन, सुपथ चतुष्पंथ[1] सोहैं॥

(१) चौराहा।

मणिन प्रकास प्रकासित गृह सब, हिये ज्ञान जिमि सोहैं ।
बटु[1]गन उटज[2] बैठि अचरज-युत, स्वप्न साँच मन टोहैं ॥

[५१]

सुनि मुनि हरषि निरषि सुंदरि गन, रिधि-सिधि सब लै आई ।
पुनि करजोरि बोरि रस मधु मैं, बोलीं विनय सुनाई ॥
आज्ञा देहु तपोधन जौनहिं, करैं ताहि शिर नाई ।
हँसि कह जाउ जुड़ावहु अतिथिन, मेटि विरह बिकलाई ॥

[५२]

[3]तपन-तपित तनु तरजत[4] लरजत[5], मुरछित मंद सुखाने ।
अवध नगर वर वासी मग चलि, थकि थल पौढ़ि रिझाने ॥
वचन-चतुर तुरतै चलि तिन पहँ, विनय बहुत विधि कीन्हो ।
सदन विलोकि मदन मन मोहत, सकल सुपास जु दीन्हो ॥



(१) ब्रह्मचारी, (२) कुटी, (३) सूर्य, (४) इधर-उधर भागना, क्रोध करना; (५) काँपना, हाँफना ।

अष्टम सर्ग

भरद्वाज का तपःप्रभाव

सार छंद

[१]

वन बनि नगर डगर मग बीथी, रम्य[1] हर्म्य[2] बहु सोहैं ।
अवध राम राजा जनु सोहत, अस विचार मन मोहैं ॥
जनम अनेक कठिन तप करि जन, लहत स्वर्ग सुख अंतै ।
सुलभ सबै सो विविध भोग पगि, सेवत मनु तिय कंतै ॥

[२]

सेज सजी भल बिछी स्वच्छ अति, राजप्रसाद ललामा ।
संग सखिन चलि द्वार मिलति प्रिय, बिहँसि पकरि कर बामा ॥

---

(१) सुंदर, मनोहर; (२) उत्तम राजमहल ।

मनो सची सचिपति सँग बिहरत, अमरलोक अभिरामा।
सुखद विलास निवास स्वर्ग सुख, लह्यो सबै मन कामा॥

[३]

वनंज-वदन वन चले अवध ते, अलि-जन सर-घर त्याग्यो।
पुरवासी-हिय अम्बुंज-हरि जनु, रवि-मुनि लखि सब जाग्यो॥
राम मिलत सुख मिलत आपु सों, जतन करन नहिं जाहीं।
चन्द्र-उदय चाँदनि कस छिपि सकि, कपट-मेघ जहँ नाहीं॥

[४]

*कौशिक रचत स्वर्ग दूसर जब, सुरन रोकि तिन दीन्हो।
व्याज सहित श्री भरद्वाज मुनि, आजु अछत त्यहि लीन्हों॥
धनि धनि मुनिवर औध-लोग धनि, जिन हित सुर-सुख छायो।
कहत प्रयाग-निवासी धनि हम, राम-लखन गुन गायो॥

---

(१) उत्तम महल, धनिकों का गृह-विशेष; (२) कमल।

* जब देवतों से रुष्ट हो कर विश्वामित्रजी दूसरे स्वर्ग की रचना करने लगे, तब देवतों ने उनसे ऐसा न करने के लिये बिवेदन किया, और वह मान गये। उसी प्रकार मानों भरद्वाजजी ने आज उसीके उपलक्ष में सव्याज स्वर्गीय सुख भेंट-स्वरूप देवतों से प्राप्त किया है।

नृत्य-गान

भुजंगप्रयात छंद

[५]

*कहीं गान होवै बजैं वाद्य नाना।
सुरौ ताल लै शब्द साधैं प्रधाना॥
ध्वनी मध्य मन्द्रौ सुतारौ बिभेदै।
उठै कंठ हीं माथ नादौ बिनोदै॥

[६]

†मिलीं मूर्च्छना औ श्रुती जो स्वरों में।
भई रागिनी राग तीनों तरों में॥

* (क) षडज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सप्तस्वर हैं। (ख) किसी प्रकार के बाजे से या ताली और कंठ से जो शब्द उत्पन्न हो उसे 'ध्वनि' कहते हैं। (ग) 'ध्वनि' तीन प्रकार की होती है—शरीर में नाभि से हृदय तक सञ्चार करनेवाली ध्वनि का नाम 'मन्द्र' है, हृदय से कंठ तक शब्द उत्पन्न करनेवाली का नाम 'मध्य' है; और कंठ से कपाल (तालू) तक सञ्चार करनेवाली का नाम 'तार' है।

† (क) 'मूर्च्छना' दो स्वरों के बीच बोलती है—जैसे षडज से चल कर ऋषभ पर आवे तो इसके बीच में मूर्च्छना होती है। यह 'मूर्च्छना' २१ हैं। (ख) श्रुतियाँ २२ होती हैं। (ग) प्रधान

अलापैं सुआलाप आपैं सुबाला ।
सुनै मोहि जावैं ऋषी हों बिहाला ॥

[७]

लिये पद्मिनी पद्म सोहैं करों में ।
नचैं अप्सरा ताल बाँधे स्वरों में ॥
बजैं बीन ढोलौ सितारौ मँजीरा ।
मृदङ्गौ चिकारौ सुझाँझौ गँभीरा ॥

[८]

तिरीछे निहारैं करैं वार भारी ।
हृदै छेदि लेतीं रती रूप वारी ॥
हँसी फाँस फाँसे मुनी मौन धारी ।
हिले कंचुकी के हिले बुद्धि सारी ॥

[९]

अनेकों करैं नृत्य भावै लुभावैं ।
मनो धीर आचार धर्मौ लजावैं ॥

रागिनी ३० हैं। (घ) राग ६ हैं—भैरव, मालकोस, हिंडोल, दीपक, श्री, और—मेघ । (च) आलाप में राग-रागिनी के खास स्वर लगाये जाते हैं; इसे 'आलाप' या 'प्रकाश' कहते हैं ।

इन्हैं देखि कोई न होवै विरागी।
भला माखनौ ना गले देखि आगी॥

[१०]

महा झीन वस्त्रों धरे अङ्ग माहीं।
जनो मेघ ढाँप्यो निशानाथ काहीं॥
छबी के छिपे ही छबीली छकावै।
ढँपे बारिदौ वारि-आभा दिखावै॥

[११]

सुहासौ बिनोदौ बिदूषानि भाखैं।
हँसावैं रिझावैं सुझावैं मँजाखैं॥
सुबस्रौ लसै फूहरौ भेस धारे।
मनो पंडितौ मूर्ख साथै सिधारे॥

[१२]

उठाये भुजा भाव नीके बतावैं।
कपोती समानौ सुग्रीवो[1] लचावैं॥
अनेकौं गँती[2] सों गती[3] नाचती हैं।
सुअंगौ दिखाये यती फाँसती हैं॥

---

(१) गरदन, (२) चाल, (३) एक विशेष प्रकार का नाच।

[१३]

हँसैं मंद मानीनि[1] मानौं[2] दिखावैं ।
निहारैं युवा-यूथ मानो मनावैं ॥
तिरीछे झुकीं नाचती कामिनी हैं ।
बड़े जोर घूमैं जनो दामिनी हैं ॥

[१४]

त्वरा[3] सो धरैं पाँव साधे धरा मैं ।
बजैं नूपुरौ अंग हाले जरा मैं ॥
सभा जीति मानो बिजै को मनावैं ।
तपी योगि ध्यानी सुसीसौं नवावैं ॥

[१५]

हियो बेधि डारैं तकै जौन नेकौ ।
हँसैं तौ बचै ना महाबीर एकौ ॥
धरैं हाथ काँधे बिना पास[4] बाँधैं ।
ऋषी औ मुनीहू इन्हीकौं अराधैं ॥

---

(१) मान करनेवाली स्त्री, (२) मान, (३) बड़ी जल्दी, (४) बंधन ।

नख-शिख-वर्णन

द्रुतविलम्बित छंद

[१६]

पगतल—कमल रंग न रंगहु लावतो ।
मदन-केत[1] समान दिखावतो ।।
मलय[2]-पात कहाँ उपमा सरे ।
जिन पिया करि मान शिरौ धरे ।।

[१७]

एँड़ी—अरुण एँड़िन की उपमा कहें ।
दुपहरी-सुम ईंगुर का लहैं ।।
कमल विद्रुम[3] और अनार हैं ।
कवि कहौ कस ये समता लहैं ।।

[१८]

पिंडुरी—करभ[4] सों चिकनी पिंडुरी बनीं ।
ललित गोल भरीं सुषमा घनी ।।

---

(१) कामदेव की ध्वजा, (२) चन्दन के पत्ते । (३) मूँगा, (४) हाथी का बच्चा ।

दिपति दीपसिखा सम अंग में।
दिखत ही मन हों रतिरंग में॥

[१९]

<u>जंघा</u>—जुगल जानु अरोम सुगौर हैं।
कदलि-खंभ मनो सिरमौर हैं।
द्विरद[1]-शुंड कि काम-निषंग[2] हैं
लसत कामिनि-कंचन-अंग हैं।

[२०]

<u>कटि</u>—उत बढ़ें कटि को कुच खींचते।
इत नितंब उठे बहु खींचते॥
रबर ज्यों खिचि हो पतरी भली।
कमर त्यों तिय की घटती चली॥

[२१]

<u>नितम्ब</u>—युग नितम्ब[3] उतंग[4] उरू[5] तटे।
अति कसे कटि काटि उँचे जुटे।

(१) हाथी, (२) वाण, (३) कटि का निचला भाग, चूतड़; (४) ऊँचे, (५) जंघा।

यशः पट्ट मनो उलटे परे।
छबि छबीलि बटोरि यहीं धरे॥

[२२]

पीठ—कदलि-पात नये अति कोमलौ।
कनक[2]-पत्र भले अवलोक लौ॥
विजय-पाटि लगी जनु काम की।
लसत तापर बेनि सयानि की॥

[२३]

उदर—उदर की उपमा सप्रमान है।
मृदुल पीपर-पात समान है॥
कमल कोमलता समता अहै।
कनक[3]-मानस-ताल प्रभा लहै॥

[२४]

त्रिबली—उदर की त्रिबली अवली भली।
सुरथ-चक्र मनो सरिता-तली॥
बिछलती जनु सीढ़ि सुहावनी।
सर सुमानस पास लुभावनी॥

---

(१) नगाड़ा, (२) स्वर्णपत्र, (३) स्वर्ण-मानस-सरोवर।

[२५]

रोम-लता—ललित रोम-लता लग धूम-सी ।
उदर-सीवनि सोह सुरम्य-सी ॥
जनु पिपीलिकि पंक्ति घनी महा ।
कनक के घट पै रमती तहाँ ॥

[२६]

कुच-संधि—कुचन के बिच संधि सुथोरि है ।
अति उँचाइ दिखै दुहुँ ओरि है ।
गिरिन के बिच राह लगै भली
पथिक भूलु नहीं सँकरी गली

[२७]

कुच—कुच उतंग मतंगिनि कुंभ से ।
कठिन पीन नवीनहु शम्भु से ॥
सुघर गुम्बज अम्बुज के बने ।
सुमन-गुच्छ घने चहुँघा तने ॥

[२८]

शिव-स्वरूप उभै जनु सोहते ।
कनक के घट सुंदर जोहते ॥

द्विरद-कुंभ उठे दुहुँ ओर हैं।
शिखर-शैल उतंग अथोर हैं॥

[२९]

भुजा—भुज भरी भल गोल अरोम है।
लसत हेम-लता अनुलोम है॥
जनु मृनाल बिसाल बिलोकती।
मदन-पासहु पास परोसती॥

[३०]

करतल—मृदुल पल्लव सों मृदु लालिमा।
रुचिर रेखन में नहिं कालिमा॥
कमल-पाँखुरि वा उपमा लहैं।
सकुचि कंज निशा दबि कै रहैं॥

[३१]

अंगुली—अति सुकोमल कामिनि आँगुरी।
मदन-बाण समान उजागरी॥
जनु लगी सुर-पादप-मंजरी।
लसत चम्पकली कर कंज री॥

[३२]

कर-नख—नखन कौं अरुनै कवि का कहै।
रतन तारहु ना समता लहै॥
अरुन दीप्ति लगै भल नीकि है।
जहँ सबै उपमा कह फीकि है॥

[३३]

कंठ—सुघर कम्बु सुचिक्कण सोह ज्यों।
अति मनोहर कंठ कपोत त्यों॥
मृदुल मंजुल रेख सुहावनी।
लखत मोहति काम सुकामिनी॥

[३४]

कपोल—मृदु कपोल गुलाब सुपाँखुरी।
शरद-इन्दु-प्रभा प्रमदा-पुरी॥
मुकुर मैं न लखें नहिं चैन री।
हिय जरें झगरें दिन-रैन री॥

(१) शंख।

[३५]

अधर—अधर बाल प्रबाल सुलालिमा ।
अरुन बिम्ब[1] लगावति कालिमा ॥
मृदुल पल्लव पीन[2]-पयोधरी ।
बदत बैन प्रबीन [3]कृसोदरी ॥

[३६]

दंत—दसन हैं कि सुश्वेत अनार हैं ।
लखु कि कुंदकली यकतार हैं ॥
लसत हीरन की अवली जनो ।
दिखत मोतिन की लड़ि-सी मनो ॥

[३७]

नासिका—ललित लोनि लसै भल नासिका ।
तिल-सुफूल समान प्रकासिका ॥
शुक सुचोंचहु पोच लगे दिखे ।
कवि कहो उपमा कहि की लिखे ॥

---

(१) कुंदरू, (२) कठोर मोटे स्तनोंवाली स्त्री, (३) पतली कमर वाली स्त्री ।

[३८]

नेत्र—कमल की पँखुरी अँखुरी बनी।
मधुकरी अरविंद लसी घनी ॥
जनु चकोर कुरंग प्रमानता।
नयन खंजन मीन समानता ॥

[३९]

केश—सुघर बार अपार सिवार से।
नलिनि-नील-नवांकुर-तार से ॥
भुजग[१]-बाल कुहू-तम[२] छावते।
शिखिनि[३]-पिच्छ[४] घने घन भावते ॥

[४०]

यमुन-नीर समान सुहावते।
गुँथि सुबेनि मुनीन लुभावते ॥
अलक[५] कैश्य[६] अलंकृत सुंदरी।
चिकुर[७]-चोटि बँधी मणिफंदरी ॥

[४१]

दोहा—चहिय जौन सुख जाहिकों, पायो सतगुन तौन।
राम-मिलन-मग सब मिल्यो, जो न मिल्यो तिन भौन ॥

(१) सर्प के बच्चे, (२) अमावस्या का अंधकार, (३) मोर, (४) पंख, (५) टेढ़े घुँघराले बाल, (६) बालों का गुच्छ वा समूह, (७) बाल।

नवम सर्ग

प्रयाग से प्रस्थान

सार छंद

[१]

भोर भये मुनि-भरद्वाज ढिग, जाय भरत शिर नायो।
पुनि कर जोरि विनय बहु कीन्हो, सहित सेन सुख पायो ॥
आज्ञा देहु गमन करिबे कौं, राम दरस सब चाहैं।
जनु वन-कमल प्रभात खुलत दल, दिनकर-कर गुन गाहैं ॥

[२]

भोग-विलास-विषय-वश जन जग, तकत अनत नहिं भूले।
तिनकौं देत तौन सुख राउर, आपु रहत प्रतिकूले ॥

(१) सूर्य की किरणें।

देखि तपोधन की करनी निसि, इन्द्र-विभव लजि जावै।
दिग-अम्बर-शंकर त्यागी रहि, धन जन देव सुभावै॥

वन-वर्णन

[३]

करि प्रनाम मुनि के तब सब जन, चले राम हिय लाये।
भूरि प्रशंसा करत परस्पर, ऋषि-तप-अचरज गाये॥
कछुक दूरि पश्चिम दिशि चलि फिरि, यमुना उतरि नहाये।
चित्रकूट-पथ-पथिक बने वन, देखि ताहि मन भाये॥

[४]

कहूँ ऊँच कहुँ नीच भूमि है, घास जमी बहु भारी।
महिषी[1] धेनु अजा[2] गन चरतीं, सबहिन कौं सुखकारी॥
है पशव्य[3] यह देश, वरन घर, घृत दधि दूध अपारा।
भरो परो पथ पथिकन देतीं, बिन-माँगे पुर-दारा॥

[५]

चहुँ-दिसि भूमि भरी तृन सों मनु, सागर जल लहराहीं।
धूम सूचना देत ग्राम की, जनु जहाज दरसाहीं॥

(१) भैंस, (२) बकरी, (३) पशुओं को सुख देने वाला, पशुओं से पूर्ण।

पवन प्रचंड चलत तरु डोलैं, लहर उठैं रव घोरा।
पशु कीटादिक नाक मकर सम, देखि परैं चहुँ ओरा॥

[६]

बालक दौरि आय देखत गज, हय रथ सेन सवारा।
थकित खड़े निरखत तिन कहँ सब, जनु मरु-थल-जल-धारा॥
कसे लँगोटी कटि-तट केवल, नगन श्याम तनु सोहैं॥
शुद्ध-हृदय मन निरमल तिन कहँ, नारिकेल सम जोहैं॥

[७]

नदी नार वन पार करत पुनि, नगर कहूँ मिल जातो।
वापी कूप तड़ाग बाग वर, सुपथ प्रसाद लखातो॥
देखि सेन भयभीत नारि नर, मिलि आनंद मनावैं।
गिर्‍यो महीतल सपने गिरि सों, जागे सुख जनु पावैं॥

[८]

पूछत चतुर चौंकि कारन कहँ, जात सेन बड़ भारी।
साथ पालकी नारि अनेकन, रन हित नाहिं तयारी॥
भरत-प्रेम सुनि कहत परस्पर, त्यागी यती लजायो।
जगंत जगंत स्वारथ सबहिन बिच, इन परमारथ भायो॥

(१) संसार, (२) प्रगट।

[९]

ज्यहि दिसि निकरि जात सेना वन, मृगराजहु दबि जावैं ।
संघ-शक्ति जुरि प्रबल बनत अति, नृप-बल अबल बनावैं ।।
मृग बराह[1] वृक[2] बाघ शिवा[3] शश[4], इत-उत भागि लुकाने ।
दुरजन दबत दंड भय देखत, नीच निकाइ न जाने ।।

[१०]

पथिक जात कोउ चित्रकूट दिसि, मग-श्रम थकि चलु धीमैं ।
देखि भरत त्यहि देत सवारी, दया दीन हित जी मैं ।।
दुखियन के दुख बाँटि लेत जो, दुखी न वह फिरि होवै ।
❀ सजल करत सरि नारन कौं जब, उमड़ि बहत सुख जोवै ।।

[११]

विविध भाँति के फूल फुले वन, मधुकर मधु-मद माते ।
बहत समीर सुगंध सुहावनि, मुदित सबै सुख राते ।।

---

(१) सुअर, (२) भेड़िया, (३) सियार, गीदड़, (४) खरगोश, चौगड़ा ।

❀ जब नदी पहिले अपने निकट के नालों को भर देती है, तब वह उमड़कर बहने में सुख पाती है—अर्थात् जो मनुष्य निकट आये हुए दुखियों का दुःख दूर करते हैं, वही सुख भोग करने में समर्थ होते हैं ।

बोली-मधुर-विहंग भाँति बहु, बोलि पथिक मन मोहैं।
करन अतिथि आदर चाहिय भल, सीख देत जनु जोहैं॥

[१२]

गुल्म[1] लता वन विटप हरित कहुँ, सोभित बहु छिति[2] छावैं।
भूषन वसन मनोहर पहिरे, सुंदरि अंग सुहावैं॥
लपटी विविधि बेलि वृच्छन बिच, जनु वितान[3] तनि ठाढ़े।
निकर[4] न रविकर-निकर[5] सकत थल, सघन सुपल्लव बाढ़े॥

[१३]

बक सारस[6] सारस[7] सर सोहत, विटप-पंक्ति चहुँ ओरा।
छाया सुखद सुपास पथिक लखि, विरमत[8] आतप[9] घोरा॥
सघन कुंज बिच आश्रम मुनि के, स्वच्छ दिव्य थल सोहैं।
जीति स्वर्ग-सुख निवसत जँह ये, यहि सम जग अब को हैं॥

[१४]

अति उतंग बहु वृच्छ लतावलि, भाँति-भाँति की सोहैं।
शाखा सघन फैलि चहुँ दिसि वन, पत्र छत्र सम जोहैं॥

---

(१) झाड़ी, (२) पृथ्वी, (३) तम्बू, (४) निकलना, (५) समूह, झुंड; (६) सारस पक्षी, (७) कमल, (८) विश्राम करना, (९) घाम, गरमी।

फल युत कौनहुँ भूमि रहे तरु, तप-फल।मुनि मनु पाये।
महँकत फूल लगे बौरन बिच, जनु यश फैलि सुहाये ॥

[१५]

सूखि ठूँठ कहुँ खड़े न डोलत, पवन प्रचंडहु लागे।
साधन-हीन न कछु करि पावत, रबिहु अथव निशि आगे ॥
मूल-विटप-वट[1] बढ़ीं अनेकन, लै वरोह निज साथा।
लघु बड़ बँधे विधान संग जब, तब समाज उठ माथा ॥

सन्ध्या-वर्णन

रूपमाला छंद

[१६]

उतरि नभ ते छितिज[2] ढिग रवि, अरुन रँग दरसात।
किरन चमकत शिखर तरुबर, विहँग इत-उत जात ॥
धेनु धाईं धूरि-धूसरि, वत्स हित बम्बात।
पवन की गति मंद भइ अब, सुखद साँझ जनात ॥

[१७]

द्विज बसेरा लेत सब मिलि, सघन तरु पर जाय।
मुदित बोलत मधुर बोली, चहचहाव सुहाय ॥

(१) बरगद का पेड़, (२) जहाँ आकाश और पृथ्वी दोनों मिले हुए देख पड़ते हैं।

कुदृत इत-उत हिलत पल्लव, मिलत सबहिंन धाय।
संघ देत समाज शक्तिहि, रहत सुख नित छाय॥

[१८]

धाम ऊपर धूम सोहत, ग्राम चारों ओर।
सुकृत-जन की कीर्ति छाई, दिसा बिदिसा जोर॥
घोर आतप दिखत नाहीं, छत्र छिति जनु छाव।
नसत शासन-क्रूर-नृप जब, स्वतः शांति सुहाव॥

[१९]

तम प्रकास दिखात यक सँग, द्योत[1] जाय नसाय।
भेद-बुद्धि-सुभाव युत हिय, हानि होत बनाय॥
हिलत ना तरु पात कहुँ जनु, करत सन्ध्या मौन।
बिहँग बोलत बाल[2] घर मनु, करत चाचरि तौन॥

[२०]

विना दिनकर कमल-बन सर, लगे सब सकुचान।
प्रिय-प्रवास-पयान सुनतै, प्रिया-मन-मुरझान॥
जरत आतप-ताप दिन बिच, शीत निशि महँ पाय।
तवौं रबि सों नेह राखत, दुख न प्रेम लखाय॥

---

(१) धूप, (२) बालक।

[२१]

मुदित मन अब कुमुद[1] वृन्दहु, निशामुख[2] अवलोकि ।
खोलन लगे निज पाँखुरी सब, लखत ऊपर कोकि[3] ॥
चन्द्रमुखि नभ चन्द्र देखत, रूपता निज जानि ।
लखत शशि सुधि करत प्रीतम, मोरि छाया मानि ॥

[२२]

उदय रवि भे भोर पूरब, तम तहाँ दरसात ।
जँह प्रतापी सिंह नाहीं, स्यार धरि धरि खात ॥
दिवस विकसे पद्म पुंजहु, भये अब बदरंग ।
सदा बदलत समय सबकर, रहत नहिं यकरंग ॥

स्त्रियों का शोक-प्रकाश

सखी छंद

[२३]

निसि जागि कहतिं तिय रोई ।
कस राम बिना । गति होई ॥
रघुनंदन कौं कब देखैं ।
सुख-शांति हिये निज लेखैं ॥

---

(१) कुई जो रात्रि में फूलती है, (२) सन्ध्या, (३) चकोरी ।

[२४]

कहँ कौशलराज मराला।
नर-नारिन कीन्ह बिहाला॥
वन बीहड़ बाघ चिघारैं।
बसि राम तहाँ दुख धारैं॥

[२५]

मणि लोह न संग सुहावै।
गिरि कंज कहूँ जमि जावै॥
अनरीति नहीं लखि जाती।
सिय सोहति सबरि सँघाती॥

[२६]

गति-कर्म कही नहिं जावै।
सुचि पुन्यहि पाप दबावै॥
बिधि बाँधि जौन बिधि दीन्हा।
त्यहि जीव विवश शिर लीन्हा॥

चित्रकूट-दर्शन

शोभन छंद

[२७]

करि प्रनाम निषाद गुरु सों, विनय बदत विनीत।
चित्रकूट नगीच आयो, दिखत गिरि सुपुनीत॥
शिखर उच्च विशाल सोहत, हरित तरुवर पुंज।
राम सीता लखन युत तहुँ, बसत प्रमुदित कुंज॥

[२८]

मुनि-तिया सिय कौं पुत्रि मानत, करति प्रीति प्रमान।
सीखपन नित देति पति ढिग, नारि-नीति-अमान॥
कोल-भिल्लिनि विनय बरनत, देवि भेंट हमारि।
लेहु लाई मधुर फल हम, टहल करब सम्हारि॥

[२९]

पाय हरषित रंक धन ज्यों, तिमि राम लखि वनवासि।
शबरि कोल किरातिनी सब, बनीं सिय की दासि॥
विटप जड़ पशु वृत्त चेतन, सबहि मोद महान।
कंज विकसे लखत रवि, अलि करत भैरवि-गान॥

हर्ष-ध्वनि

[३०]

सुखद बैन निषाद सों सुनि, कीन्ह जय-जयकार।
लखन जय जय राम सीता, जियहिं वर्ष हजार ॥
करजोरि सन्मुख भरत-जननी, कहत हैं अस बैन।
मातु प्रभु अब दूरि नाहीं, देखिबै इन नैन ॥

वशिष्ठजी का सेनादि टिकाना

[३१]

निकट अंचल-अंचल पहुँचे, कहत भे मुनिराय।
विरति-रत रघुवीर वन विच, सेन-साज न भाय ॥
सब सुपास परोस परबत, ठाम यहि विश्राम।
करैं पुरजन जननि द्विजवर, जाब हम ढिग राम ॥

वशिष्ठजी का श्रीरामजी के निकट जाना

[३२]

सौंपि सचिवन सेन जन सब, कह निषाद बुलाय।
देहु मार्ग बताय हमकौं, दरस हित अकुलाय ॥

(१) किनारे, (२) पर्वत।

बसत सीताराम वन जहँ, देहु ठाम दिखाय।
भरत भाय लिवाय सँग गुह, धरत पग मुनि धाय ॥

लक्ष्मण का अनुमान

विष्णुपद छंद

[३३]

तरु पर चढ़ि लख लखन लाल कह, कहँ अति शोर मच्यो।
निरजन जन-समूह आयो कस, अब विधि काह रच्यो ॥
पहिचान्यो शत्रुंजय चिघरत, भरत-गमन निहचै।
बिन राजा सेना कस आवत, वन नृप कसक रुचै ॥

[३४]

प्रेम होत तौ अकसर आवत, दुख लहि दुखी बनै।
सेन साथ सब भाँति युद्ध हित, कीन्ह तयारि घनै ॥
कौन बन्यो पितु मरत शत्रु नृप, त्यहि पर भरत चढ्यो।
पै भूपति इत बसत नहीं क्वउ, निरजन वनहिं कढ्यो ॥

[३५]

सेन समूह दूरि नहिं दीसत, हींसत अश्व सुनैं।
जात नहीं कहुँ उतरि टिके सब, थिर ह्वै काह गुनैं ॥

यद्यपि भरत-महामति-पंकज, जग-जल बिलग रहै ।
तदपि लोभ-घन राज्य-वारि सों, बोरि ताहि उमहै ॥

[३६]

कस अस भूल भरत बड़ि कीन्ही, आये लरन इतै ।
वमन-राज्य कौं त्यागि दीन्ह हम, लखव न भूलि उतै ॥
शांति न शासन महँ वरु साँसति[1], शासित[2] हेत रहै ।
चिंता चित्त चढ़ी रह निसिदिन, मन भय सोक दहै ॥

[३७]

लोलुप-प्रकृति-हीन-संयम मन, धन पद हित ललचैं ।
स्वारथ अरथ पिता माता गुरु, करन न बध सकुचैं ॥
जगत बड़ाई बूड़ि गयो जो, अस वह चहै करै ।
भटकत फिरत मोह-तम दारुण, उठि फिरि गर्त्त गिरै ॥

[३८]

मनि न काँच कंचन कस पीतरि, सुमन न वज्र बनै ।
अमृत होत न विष-प्रभाव जग, तम न तमारि जगै ॥
दया निठुर कस विनय न नम्रहु, झूठ न संत डरै ।
रघुबर-भाय सुवन दशरथ कौं, भूलि न द्वेष करै ॥

---

(१) कष्ट, चिंता, (२) जिसके ऊपर हुकूमत की जाय ।

[३९]

फिरिहु प्रबल माया बड़ि भारी, विधिहु महेश डरैं।
भरत न रत कस होंय तासु के मुनिजन कुगति करैं॥
राज्य रही सो त्यागि दीन्ह हम, बसत अनंद वनैं।
तबौं तोष नहिं होत उन्हैं जो, प्रगटैं काह मनैं॥

[४०]

नित नव भोग भूप विषयनि कहँ, आतम सुख न लहैं।
सदा करैं वह राज निरंतर, राम न ताहि चहैं॥
फिरिहु रारि हठि ठानि करैं जो, राम बैर बिसहैं।
सम्हरि समर करिबे हम उन सँग, भरत न प्रान रहैं॥

बंधु-प्रबोध

[४१]

जाय राम सों कह्यो बात सब, कर धनु तुरत धर्‌यो।
शंका समाधान रघुबर सुनि, बंधु बड़ाइ कर्‌यो॥
जहँ जगपति-माया-वसंत लहि, सुरपति-दल सरस्यो।
तहँ करील-मति-भरत विरत लखि, अतिसय मन हरस्यो॥

[४२]

* जब हम चहत न राज लोक-त्रय, लखि परपंच घनै।
भ्रात-भरत विपरीत करै कस, हेम न लोह बनै॥
कहुँ कण-रतन बनत रज कबहूँ, संत विवेक तजै।
वृक्ष उगत तदरूप बीज के, दूसर गुन न रजै॥

[४३]

सेन समाज संग लै आयो, धरि मन भाव यहै।
देइ सौंपि सब हाथ हमारे, भरत न ताहि चहै॥
फिरहु बंधु कछु चहत अहै जो, करब वहै तुरतै।
प्रान चहैं तो प्रान देब हम, दै असीस मरतै॥

[४४]

† बुरे-भाव जो भये भरत-मन, मम हिय उपज गुनौ।
उड़त विहंग जौन नभ ऊपर, महि-तरु-अंड बनो॥

---

* रत्न का कण मिट्टी नहीं हो जाता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। बीज के अनुसार ही वृक्ष की उत्पत्ति होती है। भरत मेरा भाई है, मेरे ही समान उसमें भी त्याग है।

† यदि भरत के मन में बुरे भाव हैं, ऐसा मान लिया जाय, तो उनका उत्पत्ति-स्थान मेरा मन हो सकता है; क्योंकि जब तक मेरे मन में प्रतिकूलता न होगी, तब तक भरत के मन में विरुद्धता हो

नदी उदधि दिसि बहत निरंतर, ज्वार कबौं पलटै।
उलटी धार लखौ छन यक फिरि, जलनिधि पहँ झपटै॥

[४५]

यदपि कठिन अति मोह-पाश भव, जतन न कछु चलिहै।
तदपि भरत-मति परे जगत के, देखि दौरि मिलिहै॥
सिरस-सुमन की चोट गिनत कस, हीरा घन सलिहै।
सन्मुख रखि रवि आतसि-सीसा, आगि वसन जलिहै॥

[४६]

दृढ़ बिश्वास प्रीति अपनी पर, जाइ भरत अरझै।
उन समुझाइ बुझाइ लाय ढिग, मिलत गाँठि सुलझै॥
सबल-द्वेष निरबल बर-प्रेमहु, अन्तर बड़ तिनमैं।
महा प्रचंड अग्नि-ज्वाला कौं, जल बुझाव छिन मैं॥

नहीं सकती। पक्षी उड़ते तो आकाश में हैं; किन्तु उनके अंडे पृथ्वी में वृक्ष पर रहते हैं और वही उनका आश्रय-स्थान है। समुद्र के निकट ज्वार-भाटा कभी-कभी नदी के प्रवाह को उल्टा कर देता है; किन्तु यह होता कितनी देर के लिये है? अर्थात् घड़ी-दो-घड़ी के लिये; फिर नदी समुद्र ही की ओर बहने लगती है। अस्तु, जब मेरे विचार भरत के लिये उदार हैं, तो उनकी बुद्धि कैसे विरुद्ध हो सकती है?

[४७]

होत न भरत प्रीति मन मैं जो, बदलत भाव इतै।
सुमिरि नेह कच्छप शिशु पालत, कस नहिं प्रेम उतै ॥
शीश नवाय जोरि कर लक्ष्मण, वचन विनीत कह्यो।
धनि धनि नाथ उदार महामति, सांच न आँच दह्यो ॥

वृद्ध वशिष्ठजी का पर्वत पर चढ़ना

रूपमाला छंद

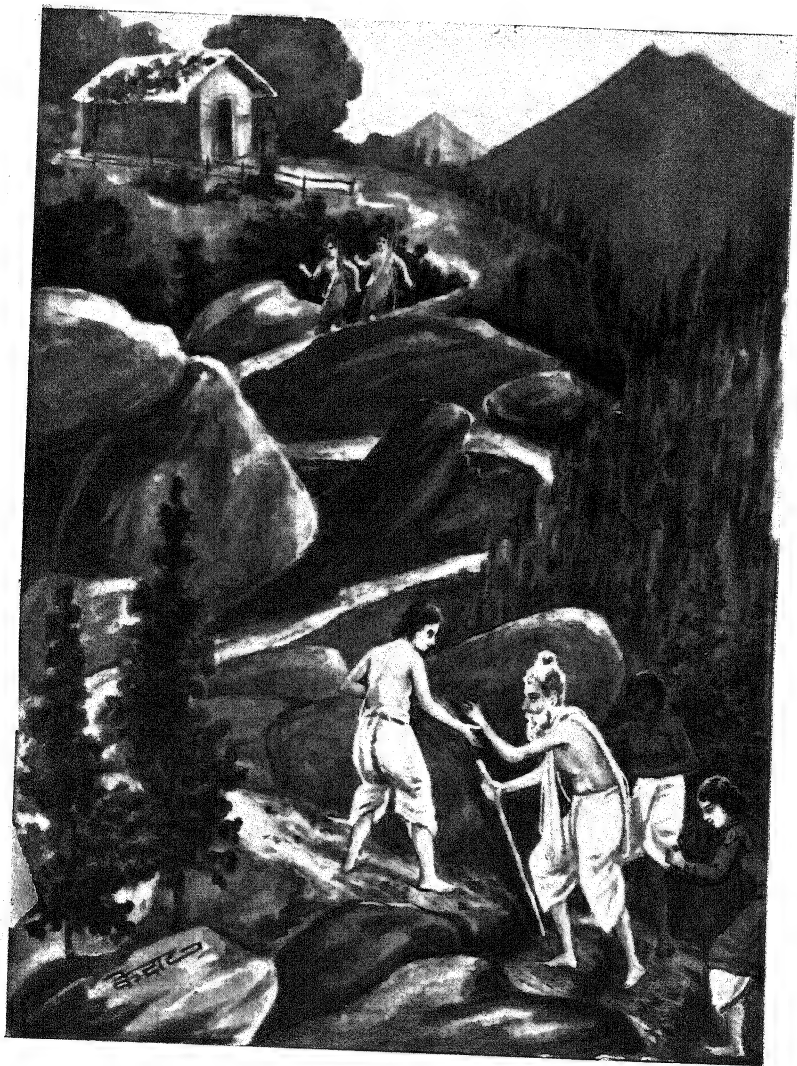
[४८]

देखु गुरु की ओर कवि तू, भरत बंधु निषाद।
चले जावैं चढ़े परबत, मन न नेकु विषाद ॥
स्वेद-बुंद लखात मस्तक, हँफत पाँव बढ़ाव।
सिद्ध कारज दिखत जब जन, बढ़त मन त्यहि चाव ॥

[४९]

कबहुँ पकरि निषाद थाम्हत, गुरुहि हाथ बढ़ाय।
कबहुँ भरत टिकाय चलते, थकित लखि मुनिराय ॥
वृद्ध-तनु कर लसत लकुटी, प्रेम-बल मन जोर।
पाँव आगे धरत सबके, दरस लगि जनु होर[1] ॥

(१) बदाबदी, होड़।



वशिष्ठ का शिखरारोहण

श्रीराम-भेंट

[५०]

गुह साथ आवत देखि गुरु को, कहत सिय करजोर।
प्रभु जाइ आगे मिलहु मुनिवर, कीन्ह कष्ट न थोर॥
उठ्यो हरबर[1] बैन सुनि अस, कहत कहँ ऋषिनाथ।
तिन लखायो ओट तरु के, दिखत नायो माथ॥

[५१]

दौरि चरनन परे गुरु के, राम बंधु समेत।
स्रवत दृग जल कंठ गद्गद, रह्यो ना मन चेत॥
ऋषि उठाय लगाय हिय लिय, बहत नैनन धार।
कह्यो व्याकुल भरत बिन तुम, कीन्ह सरि वन पार॥

[५२]

लखहु आवत दोउ भाई, थके बहुतै लाल।
भरत भेंट्यो झपटि तब प्रभु, बहुरि चूमत भाल॥
कंज-दल पर ओस-कन जनु, अश्रु-रंजित देह।
श्याम-घन मनु मिले दोनौं, उमड़ि बरसत नेह॥

(१) बड़ी जल्दी।

[५३]

पुनि मिले सबहिंन राम लक्ष्मण, जाय जननी तीर ।
शीश नाय प्रणाम करि बहु, धरत अंब न धीर ॥
लाय हिय मुख चूमि सुत के, फेरि पीठिहि हाथ ।
जियहु लाखन बरस लालन, दुखै कबहुँ न माथ ॥

[५४]

साथ सबहिंन लीन्ह अरु तिन, दीन्ह सुथल सुवास ।
विविध फल-तरु लगे सोहैं, झरत झरना पास ॥
बिहँग बोली मृदु सुनावैं, करि अतिथि सतकार ।
सुमन-गंध समीर दिय जनु, अतर लागति बार ॥

सार छंद

[५५]

जनक साथ नृप और अनेकन, चित्रकूट चलि आये ।
कानन आवन सुनि वशिष्ठ कौं, मुनिवर निकर लखाये ॥
सब कर जोरि वचन बोले मृदु, राम शील गुनवाना ।
अमित कृपा कीन्ही मों पै प्रभु, सह्यो कष्ट विधि नाना ॥

[५६]

सदन मनोहर मन नहिं भावैं, सुखद शैल लखि बासा ।
शीतल मंद सुगंध सुहावनि, बहति समीर सुबासा ॥
बोलत बिहँग अनेक बोल मृदु, मोल लेत बिनु दामा ।
विविध स्वाद के फल लागे तरु, लहत सबै सब सामाँ[१] ॥

[५७]

बहुत भाँति समुझाय कह्यो मुनि, तव पितु स्वर्ग सिधारे ।
सुनत गिरे महि राम लखन सिय, दृग-जल बहत पनारे ॥
गुरु वशिष्ठ निज अग्नि-ज्ञान सों, मोह-शीत हरि लीन्हो ।
जीव बाल सम चंद-मोह चहि, मन विकार करि लीन्हो ॥



(१) सामान, सामग्री ।

दशम सर्ग

चित्रकूट

द्रुतविलंबित छंद

[१]

सघन वृक्षन की अवली भली ।
हरित श्यामल पत्र रँगी थली ॥
तरु धरे नभ को शिर में जनो ।
वर वितान लतान तनी मनो ॥

[२]

अभिनवोद्भिद पल्लव[1] जालिका[2] ।
वृतति[3] वीरुत[4] सोह सुशालिका[5] ॥

---

(१) अंकुर, (२) नई कली, (३) बेलि, (४) लंबी बेलि, (५) शाखा ।

वट-पलोस[1] पलास[2] हरीतिमा[3] ।
विकच[4] वल्लरि[5] मंजुल पीतिमा[6] ॥

[३]

वकुल[7] वंजुल[8] चंपक[9] नीलिका[10] ।
कमल कुंद कनेर करीलिका[11] ॥
पनस[12] दाड़िम दारु[13] हरीतिका ।
लसत मालति[14] माधवि[15] पीतिका ॥

[४]

कुटज[16] औषधि[17] मंजु प्रयाल[18] हैं ।
बड़ बहेर सुतूत बिसाल हैं ॥
बहु रसालन[19] की, अवली[20] घनी ।
बह समीर-सुगंध-सुहावनी ॥

(१) पत्ते, (२) ढूल, ढाक, (३) हरापन, (४) फूल से युक्त वृक्ष, (५) मंजरी, (६) पीलापन, (७) मौलिसिरी, (८) अशोक, (९) चंपा, (१०) निवारी, (११) करील, (१२) कटहल, (१३) देवदारु, (१४) चमेली, (१५) बसंती, बेला, पीली; (१६) कुरैया, (१७) फल पकने पर नष्ट होनेवाले क्षुप, (१८) चिरौंजी, (१९) आम, (२०) पंक्ति, कतार ।

[५]

अगम-बीथि[2] अनेकन हैं जहाँ।
मिलि परस्पर एक, भई तहाँ॥
मुकुल[3] पुष्प पराग पराभृता[4]।
मधुकरी[5] मधु संग लतामृता[6]॥

[६]

मधुप माधव[7] मार्धवि मल्लिका[8]।
मधुमती रमती मधु-मक्षिका॥
मगन मोद मयूर मरालिका।
मदन-मत्त मतंगिनि मालिका॥

[७]

कपि विडाल शिवा[10] करि[11] भल्लुकी[12]।
लखि मृगेन्द्र[13] न भागत [14]शल्लकी॥
शश[15] कुरंग[16] महांग[17] अजादि[18] जो।
विचरते चरते तृन धान्य सो॥

(१) वृक्ष, (२) कतार, (३) अधफुली कली, (४) कोयल, (५) भौंरी, (६) अमृतफला, दाख, अंगूर; (७) बैसाख, (८) चमेली, (९) बेला, (१०) सियारनी, (११) बड़ैल, सुअर; (१२) भालुनी, (१३) सिंह, (१४) साही, (१५) खरगोश, (१६) हिरन, (१७) ऊँट, (१८) बकरी।

[८]

लखहु चित्रसुकूट बिसाल हैं।
शिखर सानु[1] निकुंज कमाल हैं॥
अचल[2]-आकर धातुमयी महा।
शबर[3]-घोष निकेत दरी तहाँ॥

[९]

शिर-[4]धरा जनु भूषित मंजु है।
हरि बसे जिमि पुष्पित कंजु है॥
जल वहे परिप्लाव[5] अधोगमी[6]।
सतत शब्द सुनात जलोद्भमी[7]॥

[१०]

हरित रोहित[8] पीत सुपाटला[9]।
कपिश[10] पिङ्गल[11] पाण्डुर[12] धूमला[13]॥

(१) पर्वत का किनारा, (२) पर्वत की खानि, (३) वनवासी कोल-भिल्लों का शब्द, (४) पृथ्वी का शिर, (५) कंपनयुक्त, (६) नीचे की ओर जाने वाला, (७) जल से उत्पन्न (८) लाल वर्ण, (९) सफेद और लाल मिला हुआ रंग, (१०) काला और पीला मिला हुआ रंग, (११) वानर के रंग का, (१२) कुछ पीलापन मिला हुआ सफेद रंग, (१३) काला अ र लाल रंग मिला हुआ।

अरुण शोण[1] सुश्वेत सुरंग हैं।
सुम-सुगंध सने अलि संग हैं॥

[११]

सघन पुंज निकुंज अनेक हैं।
तहँ न रश्मि[2] गमागम नेक हैं॥
तरनि[3]-ताप न तापस तापते।
बरु निदाघ[4] दरी वसि काँपते॥

[१२]

सुमन भेंट लिये तरु-डार में।
बिहँसते फँसते अलि भार में॥
अतिथि दै मकरंद सुपूजते।
मधुप-घोष अशीशनि गूँजते॥

[१३]

नव-कली निकली रँग लालिमा।
नव-बधू मुख खोलति जालिमा॥

---

(१) लाल कमल के समान, (२) सूर्य-किरण, (३) सूर्य, (४) ग्रीष्म।

मृदुल-पत्र हरे भल सोहते ।
ललित मंजु लताननि जोहते ॥

[१४]

शशि उदै सित सोहत शर्वरी[1] ।
नव-तिया पति संगति गर्वरी ॥
पुहुमि चन्द्र छटा अनमोलिका ।
अँग धरे निशि श्वेत निचोलिका[2] ॥

[१५]

मलय[3] पौन प्रवाह मनोदिता ।
मदन-मोह महा-अजिता जिता ॥
मधुर बोलत व्यंग पिकावली ।
मनु मनोज बनी उदयाचली ॥

[१६]

सुरभि[4] सौरभ[5] संग समीर है ।
अमरता रमती बन तीर है ॥
बिहरतीं सुख सों सुर-अप्सरा ।
मुदित गावन नाचन तत्परा ॥

(१) रात्रि, (२) डुपट्टा, (३) चंदन, (४) सुगंध, (५) आम ।

[१७]

शिखर-शैल घिरी सरि सोहती।
नव-लता झुकि कै जल जोहती॥
बसत सारस क्रौंच[1] कराकुला।
मिथुन[2] संग समोद न आकुला॥

[१८]

शिखिनि[3] सोहत शैल उतंग पै।
जनु धरे तिय भूषन अंग पै॥
रजत[4] स्वर्ण सुधातु भरी तहाँ।
निकर[5] रत्नमयी पुहुमी तहाँ॥

[१९]

शबर-आलय पूर्ण सुपात हैं।
नकल तापस की तिन भात है॥
प्रविसि अंतर जो रँग ना लगा।
उपर-पोत कहूँ थिर ह्वै जगा॥

---

(१) पक्षी-विशेष जो जल के पास रहता है; (२) जोड़ा, (३) मोरनी, (४) चाँदी, (५) धन, वित्त।

[२०]

पिक कपोत रथांग[1] मयूरनी।
निकर-चातक चाष[2] चकोरनी॥
बसत सेन[3] लवा[4] सब संग हैं।
कहु प्रभाव न का सतसंग है॥

[२१]

मरुत[5] पत्रित[6] चंचु[7] खुजावते।
चलि प्रडीन[8]-उडीन[9] सुहावते॥
मिथुन-मोद कुलाय[10] रमे निसा।
मुदित बोलत भोर चहूँ दिसा॥

[२२]

सरि मँदाकिनि-कूल-उतंग हैं।
पुलिन[11] कुंज बड़े बहु तंग हैं॥
सघन सारस[12] सारस[13] सोहते।
मधुप केसर-बेसर मोहते॥

(१) चकई, (२) नीलकंठ, (३) बाज, (४) बटेर, (५) पक्षी के पर, (६) पक्षियों के परों का मूल, (७) चोंच, (८-९) पक्षियों की चाल, (१०) घोंसला, (११) पानी से निकला हुआ भूमि- भाग, (१२) कमल, (१३) सारस पक्षी।

[२३]

द्विरद[1] यूथ वसा[2] करि-शावके[3]।
बिहरते वश काम सुभाव के ॥
करत केलि बहै मद कुंभ से।
अलि भगावत कान-कुसंभ से ॥

[२४]

मुनि-बधू धर्व[4]-धूरि सुधोवतीं।
उदर हेत किरातिनि जोवतीं ॥
नयन कान सुएकहि ठौर हैं।
करम का तिनके नहिं और हैं ॥

चित्रकूट के ऋषि-मुनि

[२५]

मुनि मनोज मनो मन में नहीं।
सरसता रसता बसती कहीं ॥
विषय कामिनि काम न वासना।
धन धरा सुख भोग कि आस ना ॥

---

(१) हाथी, (२) हथिनी, (३) हाथी के पट्ठे, (४) पति।

[२६]

विधि-विधान निधान प्रबीनता ।
निगम नीति निदेस नवीनता ॥
सत अचार विचार विवेक हैं ।
विरति धर्म दया सुनिकेत हैं ॥

[२७]

सतत शांत अमानहु मान को ।
सम लखें निरखें भगवान को ॥
दम दया शम शील बिसाल हैं ।
जपत गोविंद-नाम निहाल हैं ॥

[२८]

दुरित[1] दूरि विमोह न द्रोह है ।
करत भूलि नहीं मन कोह हैं ॥
सरल धीर सुभाव सुरूप हैं ।
हिय छमा बस छोह अनूप है ॥

[२९]

जगत-सिन्धु भये खुद पार हैं ।
पर-सहाय हितै मँझधार हैं ॥

(१) पाप ।

दुखिन के दुख देखि नहीं सकैं।
तप सुताप तपाय तिन्हे तकैं॥

[३०]

प्रकृति-तामसि जीवन की जहाँ।
जिन लखे दिखती न रती तहाँ॥
सकल सानँद संग समीप में।
बिहरते रमते वन-दीप[1] में॥

[३१]

दुरि दरी दुरितान दुरावते।
विरति की रति कीरति गावते॥
जगत-जाल फँसे अकुलात ते।
करि अनेक उपाय उबारते॥

[३२]

मनन सों मन-मान मनावते।
लहि विवेक विचार रिझावते॥
जब न मानत मारहु[2] मारते।
धरत ध्यान सुप्रान प्रचारते॥

---

(१) गुफा, (२) कामदेव।

[३३]

कृतिमें साधु[2] सहिष्णु[3] प्रियंवदे[4] ।
यतिनें[5] वर्णिन[6] कृच्छ्र[7] स्वयंवदे ।।
नियमें[8] औ यम[9] नीति-उपासना ।
भव-विवेक उदै हिय आस ना ।।

[३४]

सवत वाग्मिन[10] तूष्णि[11] च्युतेवृते[12] ।
मुदित निभृत[13] भूति[14] समाहिते[15] ।।
जगत वृत्र[16] न, देह निरामये[17] ।
अनय[18] प्रत्यय[19] द्वापर ना भये ।।

[३५]

जगत-द्वंद विफंदहु पार हैं ।
मति विवेक विचार अपार हैं ।।

---

(१) पंडित, (२) सज्जन, (३) सहनशील, (४) मधुरभाषी, (५) इन्द्रियजित्, (६) ब्रह्मचारी, (७) उपवासादि, (८) शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्यायादि कर्म, (९) अहिंसादि, (१०) शास्त्रानुसार बोलने वाला, (११) मौन, (१२) जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट न हो, (१३) नम्र, (१४) अष्ट ऐश्वर्यादि, (१५) समाधि लगाये हुए, (१६) शत्रु, (१७) दुर्व्यसन, (१८) छिद्र, (१९) संशय ।

विरति-भीति[1] घिरी हिय धाम में ।
विषय भीत[2] न चित्त निकाम में ।।

[३६]

करत होमहु पर्ण सुशाल में ।
जनु जरैं हिय काम त्रिकाल में ।।
धरि कमंडल हाथ नदी-तटे ।
बिचरते जपते अघता घटे ।।

[३७]

कहुँ सभा बिच बैठि बिचारते ।
यम अचार सुनीति सुधारते ।।
निरत धर्म सयान सुखी सभी ।
जग रहे नहिँ कष्ट कहीं कभी ।।

[३८]

अन[3] अरंभ अजीत-प्रपंचना[4] ।
सुमति प्रौढ़ करैं हरि-अर्चना ।।

(१) दीवाल, (२) भय, (३) हृदय में वासना नहीं उठती, (४) जगत्प्रपंच से न जीते जाने योग्य ।

छिति-छमा छिपती दिखती छमा ।
निरत त्याग खड़ी लजती रमा ॥

[३९]

गिरगिरा[1]-गुरु-गौरव सूनृता[2] ।
यजुस[3] सामन[4] ऋच[5] पुरावृता[6] ॥
सुत्र[7]नुयोग तथा प्रति[8]वाक्य में ।
कुशल सत्त्व[9] सुशील सुवाक्य[10] में ॥

अवध-वासियों का वन-भ्रमण

सार छंद

[४०]

बिहरत पुरजन प्रमुदित बन विच, छन छन नव अनुरागे ।
पल्लव फूल फलादि लदे तरु, खड़े भेंट लै आगे ॥
जहँ जहँ जात तहाँ तहँ देखत , राम-प्रेम सब पागे ।
निज प्रभु के पग परसि कौन जन, होत न जगत सभागे ॥

---

(१) सरस्वती, (२) प्रिय सत्य वचन, (३) यजुर्वेद, (४) साम-वेद, (५) ऋगवेद, (६) इतिहास, (७) प्रश्न, (८) उत्तर, (९) अति मिष्ट, (१०) योग्य वचन ।

[४१]

गिरि वन विजन भयावन बहु दुख, अवध बैठि अस सोच्यो।
आय दीख निज आँखिन औरै, सुख सरबस भरि खोंच्यो॥
कहत जनम भरि रहब सुखद बन, बसि रघुनन्दन साथै।
बिनवति देवि देवतन सब मिलि, फिरि-फिरि धरि महि माथै॥

[४२]

घूमत रवि जस किरनि घुमति तस, घाम छाँह परिमानै।
पवन चलत ज्यहि दिसि कौ तरु लगि, डोलि पात[1] तस तानै॥
जस प्रभु की मरजी जब होवति, तस अरजी जन देतो।
बसत न बन इत आय राम जो, विपिनि नाम को लेतो॥



(1) जिस ओर को पवन बहता है, पत्ते उसी ओर को पलट जाते हैं।

एकादश सर्ग

चित्रकूट में सभा

सार छन्द

श्रीरामजी का नगर से वन को श्रेष्ठ कहना

[१]

पुरजन जनक सिद्ध ऋषि मुनि गन, सहित भरत गिरि सोहैं।
शवर किरात भिल्ल वनवासी, मौन बैठि तिन जोहैं ॥
उठे राम कर जोरि कहत अस, कीन्ह कष्ट क्यहि हेतू।
आज्ञा देहु तौन प्रतिपालैं, आप धर्म-श्रुति-सेतू ॥

[२]

पिता-वचन वनवास दीन्ह म्वहिँ, करहुँ ताहि प्रतिपाला।
सुत-सनेह-सुख समुझ जनक भल, करत हितै सब काला ॥

वन-दुख सुख बहु नगर निकेतन, अस न सुवन-नृप सोचै ।
प्रजा प्रमोद लहत ज्यहि सासन, त्यहि विधि कष्ट विमोचै ॥

[३]

*निर्जन वन अरु नगर सजन दोउ, हैं अधीन नृप केरे ।
रक्षा करन चहिय दोउन की, समता दृष्टि सुहेरे ॥
कानन विन न पूर पुर माहीं, विपिन पुरी दिसि देखै ।
कबहुँ न विलग अहैं यक दूसर नीच ऊँच नहिं लेखै ॥

[४]

फल मेवा मधु मूल मधुर तहँ, औषधि नाना भाँती ।
गज-मुक्ता चामीकर[1] हीरा, धातु अनेकन जाती ॥
प्रस्तर[2] पुष्प दारु[3] शाकादिक, दूध-दही घृत छानो ।
नगर लखात डगर बीथी घर, सब वन वैभव जानो ॥

[५]

सुंदर सदन धवल विलसित पुर, मग बीथी रचि नाना ।
गोपुर द्वार शिखर वर भीतिहु, खंभ पषाण प्रधाना ॥

---

(१) सोना, कंचन; (२) पत्थर, (३) लकड़ी ।

* नगर में वन की वस्तुओं के बिना निर्वाह नहीं हो सकता और वन के पदार्थों को नगर में जाकर बेचे बिना वनवासियों का भी निर्वाह नहीं होता; अस्तु, दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है ।

साल बिसाल सिंसुपा चंदन, सरलद्रव[1] सहकारा[2] ।
समिध[3] पलास जँभीर बेर बहु, पनँस[4] निंब वट भारा ॥

[६]

कोविदार[5] मन्दार[6] मधुद्रुम[7], बेल आमला भावैं ।
नारिकेल इमली अरु खिन्नी, नगर कहाँ ये पावैं ॥
मृगमद केसर खैर पूगफल[8], लौंग इलाची सोहैं ।
वन-सम्पति लै पुरी बसी भल, कस कम त्यहि हम जोहैं ॥

[७]

नहिँ अहेर[9] करि सकत बिना वन, जहाँ मृगन कर वासा ।
बाघ सिंह वृक[10] हिंस्र[11] जीव सब, करैं जाय पुर नासा ॥
उपजत वस्तु विपिन बहु विधि की, नास सबन कर होवै ।
बन विनसत सँग नगर नसत तहँ, जल न सोत बिनु जोवै ॥

[८]

सीतल मंद सुगंध पौन बहि, बिन औषधि रुज नासै ।
वास यकांत विवेक बढ़ावत, आतम बुद्धि विकासै ॥

(१) देवदारु, (२) मीठे आम, (३) ईंधन, (४) कटहल, (५) कचनार, (६) बकायन, (७) महुआ, (८) सुपारी, (९) शिकार, (१०) भेड़िया, (११) हिंसक ।

शिक्षा शबर कोल-भिल्लन दै, सभ्य तिन्हैं करि देवैं।
बृद्धि न देइ होन बाघन की प्रान अनेकन लेवैं॥

[९]

बिन श्रम धन जहँ मिलत असन भल, कस न बास तहँ नीको।
षट-रस सरस लगे तरु फल बहु, खात अन्न लग फीको॥
कंदमूल भखि कलाकंद को, लोग बहावत दूरी।
गुफा दरी अरु पर्णशाल बसि, बुद्धि बृद्धि करु भूरी॥

[१०]

लोक और परलोक बनत वन, मुनि-जन करत अनंदा।
हैं सहवासि-कुरंग विहँग बहु, मन न रखत छल छंदा॥
निर्झर[1] झरत नीर[2] अमृत सम, उदर पचै सब देवै।
जनु वर-वैद्य बनो वन को वन, नाम न कोउ रुज लेवै॥

[११]

बन-कलेस गुनि बेस प्रीति करि, आपु गमन इत कीन्हो।
देखहु कौन कष्ट कानन महँ, विपिन सबै सुख दीन्हो॥
बिहँसत बाल हँसैं बाला सब, वृद्ध युवा बतरावैं।
"परम रम्य थल रहब सदा हम, नगर बसब नहिं भावै॥"

(१) झरना, (२) जल।

[१२]

जो सुख नहिं सो मानि लेत सुख, भाव यहै मन धारे।
श्वान तालु-गत-रुधिर पियत निज, चूसि अस्थि हिय हारे॥
नगर-निवास वायु निरमल कहँ, दुरगँधि गलि मग माहीं।
पवन भवन अति सकुचति आवत, मंगन सूम न जाहीं॥

[१३]

उपज वस्तु जहँ भूलि नहीं कहुँ, बाहर सों सब आवै।
अरजन धन जन करत दुसर थल, बैठि तहाँ त्यहि खावै॥
प्रकृति देत बिन दाम सबै वन, माटिहु नगर बिकावै।
पुर निरमान न होत जगत तब, कस को दरिद कहावै॥

[१४]

विषय-विलास वढ़ाय नारि नर, जीवन-सरल न भावैं।
देखि दूसरन धनी धनिक वन, पर-धन जाय चुरावैं॥
माँग वस्तु की बढ़ी नगर विच, सबहिंन संग्रह भायो।
भेद भयो जग राज रंक कौं, छीना-झपटि सुहायो॥

[१५]

ताँबा लोह पितरि चाँदी अरु, स्वर्ण सबै हैं माटी।
भेद बढ़ाय दाम दर धरि तिन, खोजत अवघट घाटी॥

मनि अरु काँच झलक दोऊ सम, रज जननी तिन केरी।
रत्न मूल्य अति अधिक बढ़ायो, पावत दुरलभ हेरी ॥

[१६]

रुपिया मोहर बनाय वस्तु सँग, बदलत हाट सुहावैं।
सुघर सुधारि सहज माटी हित, प्रानौ बाजि लगावैं ॥
पूछनहार हेम को होतो, बिकत न कौड़िहु दामा।
पान करत को शिव-निरमायल, यदपि शंभु सुखधामा ॥

[१७]

*आविष्कार करत नित जन जग, यन्त्र अस्त्र विधि नाना।
नास होत वे समय पाय सब, कृतिम न रहत ठिकाना ॥
प्रकृति रबर सम बढ़त अवसि बहु, शक्ति ताहि बँटि जावै।
अधिक खिंचत जब टूटि जात पुनि, पूरब दसा सुहावै ॥

---

* नये-नये पदार्थों का निर्माण—जैसे बिजली, गैस, बेतार के तार, सिनेमा, फोनोग्राफ, वायुयान, रेल, मोटर आदि—समय-समय पर किया जाता है और कारण पाकर इनका नाश भी हो जाता है। प्रकृति के पदार्थों की दशा रबर के समान है—वे बढ़ाने से बढ़ जाते हैं। किन्तु बढ़ने में ठोसपन तथा घनत्व की कमी पड़ जाती है और ऐसा होने से अधिक प्रादुर्भाव भी नहीं हो पाता, तब पदार्थ अपनी पूर्व दशा को पुनः प्राप्त करते हैं।

[१८]

बनत नसत नित नगर अनेकन, नर निरमित इन जानो।
मग बीथी जहँ झलकत गच भल, खँडहर तहाँ लखानो॥
प्रकृति रच्यो वन सुखद मनोहर, कृतिम वस्तु जहँ नाहीं।
रोक-टोक नहिँ बिना दाम जन, चीज लहत हरषाहीं॥

[१९]

सुनि वनवास निरास प्रजाजन, सुख न लहत कहुँ लेसू।
जननी बंधु मीत पुरजन मुनि, परिजन जनक कलेसू॥
लखहुँ न दुख इत भूलि कहूँ प्रिय, चहुँ दिसि आँनद छायो।
बंदी छूट बन्दिगृह सों जब, तबहुँ न का सुख पायो॥

[२०]

जेठे सुत को राज्य देत सब, रघुकुल नृप भे जेते।
पितु-बल अबल प्रबल विधि-विधिता, कर्म गढ्यो मजबूते॥
चह्यो सबै कुछ करि नहिँ पायो, कर मींजत तनु त्याग्यो।
जीव रहत प्रारब्ध-नींद-वश, सकत न निज बल जाग्यो॥

भाग्य की प्रबलता

[२१]

बुरे करत भल, भले बुरो चह, निज स्वभाव विपरीती।
कठिन लोह गलि तरल बहत अरु, जमत वारि हिम रीती॥

नव पलास किसलय लै तरुवर, रितुपति संग सुहावैं ।
चंदन बाँस करील न कोंपल, भाग्य-दोष दुख पावैं ॥

[२२]

जियत पिता बन-बसन कह्यो म्वहिं, मरे न ताको त्यागो ।
तकत न चातक महि-जल तबहूँ, जब न मेघ नभ जागो ॥
बरसत बारि गिरत वज्रहु छिति, दुख-सुख संग सिधारैं ।
कबहूँ ऊपर कबहूँ नीचे, करु जग रहँट बिहारैं ॥

[२३]

तरुवर पात आपु नहिं डोलत, वायु तिन्है झकझोरै ।
गति न गमन तृन की सरिता बिच, परि धारा बह जोरै ॥
जपाकुसुम प्रतिबिम्ब श्वेत मनि, अरुन रंग दरसावै ।
बोलन शक्ति नहीं जड़ यन्त्रहु, तदपि गीत बहु गावै ॥

[२४]

तरु-सों खग मल नृप-शिर त्याग्यो, वृक्षहि दोष न लागै ।
सूख सलिल सरसिज मुरझायो, कस कलंक सर जागै ॥
कबहुँ न पल्लव चह्यो सुमन कौं, बिलग होय सँग त्यागै ।
पवन प्रचंड गिराय भूमि त्यहि, नीच करनि करि भागै ॥

[२५]

लवण गलत बरषा ऋतु माहीं, शुष्क निदाघ सुहावै ।
करत शीत जल पवन प्रतीची, बहि प्राची गरमावै ॥
शरद ओस-कन नभ घन पावस, गरमी धूरि उड़ावै ।
समय-प्रभाव प्रबल चारों युग, जीव न कछु करि पावै ॥

[२६]

सुर-तिय मोह काम तिनकौं तजि, इन्द्र अहिल्या मान्यो ।
नृप त्रिशंकु कस सतनु अमरपुर, गमन हेत ललचान्यो ॥
जस सीसी कौं रूप रहत तस, स्वच्छ सलिल लखि लेवै ।
कर्म-प्रभाव बुद्धि विमलहु कौं, रँगि अपने रँग देवै ॥

[२७]

लगी क्षुधा ज्यहि उदर माहिं कस, अन्न अजीर्ण लखावै ।
चारा चोंच देत द्विज बचन, सो न बधिक पकरावै ॥
संचित धन नित करत जौन जन, का वहि दरिद बखानै ।
को कहि सकै काक कोकिल कौं, मधुर बोल कटु मानै ॥

[२८]

पौन हिलाय शब्द मरमर करु, तरु जड़ आपु न बोलै ।
शैल शिला त्यागत नहिं रज-कन, जल अघात बहि डोलै ॥

लखहु चलत चेतन सम यन्त्रहु, गमन शक्ति नहिं तामें ।
दैव नचावत जीव नाच नच, करि न सकत कछु जामें ॥

माता कैकेयी निर्दोष है

वसंत-तिलका छंद

[२९]

देखो बिचारि मन मातु न दोष यामें ।
जो जो बुरो जग भयो बल-दैव तामें ॥
ढाँचा बनाय विधि पूरब कार्य केरे ।
बाजा बन्यो जस, बजै तस तान छेरे ॥

[३०]

माता सदैव मम प्रेम पुनीत पागी ।
कैसे सुधा विष बने सँग चन्द्र लागी ॥
भूल्यो न प्रीति जननी ज्यहि भाँति कीन्ही ।
खायो न आपु भल वस्तु सु मोहिँ दीन्ही ॥

[३१]

आँधी चले तरु गिरैं भहराय भारी ।
आवै विपत्ति तब बुद्धि नसात सारी ॥

ब्रह्मा सकाम दुहिता सँग लागि पीछे।
मोहे महेस लखि मोहिनि नैन तीछे॥

[३२]

साँचे सुधीर द्विज शील सरूप सोहैं।
भूले न क्रोध कहुँ कीन्ह न चित्त मोहैं॥
दाया छमा-निधि विचार न शांति धार्यो।
श्रीविष्णु के कुपित ह्वै भृगु लात मार्यो॥

विकार-प्रभाव

[३३]

मोती प्रदीप्त दरसात न धूरि लागे।
चन्द्रौ छिपै नभ घिरे घनघोर आगे॥
बुद्धी-विकार वश कर्म-विमूढ़ होवै।
नीको बुरो बन, बुरो सत पंथ जोवै॥

[३४]

ज्वारो-भटा लहर जोर बहात भूमी।
रोके नहीं रुकि सके फिरि जात घूमी॥
आपत्ति आय गरजे बिजुरी उदंडा।
जावे नसाय छनहीं पवनौ प्रचंडा॥

[३५]

हीरा धरो वसन श्याम लपेटि भारी ।
का जात रत्न रँग छोड़ि सुश्वेत धारी ॥
माता वही मति वही ममता वही है ।
भ्राता वही अब वहै बिपदा नहीं है ॥

[३६]

सोना सुअग्नि तपि कै रज मैल खोवै ।
आभा बढ़ै अधिक औ बहुमूल्य होवै ॥
आपत्ति-रोग नसिगो डर काह मानैं ।
माता-महान-हिय मैं ममता प्रमानैं ॥

[३७]

है मार्ग मैं रज्जु परी त्यहि सर्प जानै ।
भागे डरै गिरि परै अँग चोट आनै ॥
देखै बहोरि त्यहि कौ मन शंक नाहीं ।
जो लागि चोट भ्रम सों तन पीर दाहीं ॥

[३८]

होनी रही दुखद सो सब हो चुकी है ।
साखा सनेह-तरु की मन मैं झुकी है ॥

पालैं प्रजा भरत भोगि वसुंधरा को ।
जाते रहै जनक-गौरव की गिरा को ॥

[३९]

देखो न कष्ट दुख व्यक्ति विशेष के जो ।
पै धर्म-मारग चलो सुख हीं करै सो ॥
कार्पण्य-दोष ममता-जननी कहावै ।
नाहीं लखो त्यहि भले धर्मों नसावै ॥

[४०]

संसार-चक्र चल ऊपर नीचु आवै ।
जो भूप आज, कल रंक गली लखावै ॥
ताते रहौ निरत सत्य सुपंथ भ्राता ।
होवै मनोरथ सबै तव पूर ताता ॥

तरल-नयन छंद

[४१]

सुनि रघुवर वचन मधुर ।
भरत प्रभु-पग लखि सुघर ॥
कर जुरि मृदु विनय करत ।
जनु अमिय शशिकर झरत ॥

भरत-स्तुति

शोक-हर छंद

[४२]

जय सुखदाता, भाग्य-विधाता, आरत-त्राता पाहि प्रभो ।
जन मन भावै, सो सुख पावै, जग यश छावै, सेइ बिभो ॥
दीनदयाला, औध नृपाला, जयति कृपाला, कीन्ह दया ।
अति भय माना, शिशु सम जाना, हृदय महाना, करी मया ॥

[४३]

विषय-विलासा, मन अति आसा, अधरम-त्रासा चित्त सदा ।
सब विधि पापी, दुष्ट प्रलापी, महा सुरापी, मोह लदा ॥
मैं अति नीचा, अघ-जल सींचा, मति मल कीचा रहति परी ।
सहज सुशीला, अकथ जु लीला, भव-भय-कीला, कृपा करी ॥

[४४]

अवगुन कैसे, निशि-दिन जैसे, करत सु तैसे, कहत बनै ।
गुनि निज करनी, सकत न बरनी, भय-भव-तरनी, रहत मनै ॥
अवगुन लावो, मन नहिं भावों, कस अपनाओ, नीच अहौं ।
लखि निज ओरी, नाम निहोरी, करु सुधि मोरी, चरन गहौं ॥

[४५]

क्षमा-सरूपा, बुद्धि अनूपा, जन-मन-भूपा, जगतपते।
करत न बारो, दास सुधारो, ताहि उबारो, महामते ॥
भव-भय नासो, मोह बिनासो, भगति प्रकासो दास-हिये।
भक्तन भावो, तिन अपनावो, पाप भुलावो, जौन भये ॥

[४६]

नीति तिहारी, दीन उबारी, मम अघ भारी, नास करो।
मन अनुरागै, प्रभु-पद लागै, विषय बिरागै, शांति धरो ॥
अब नहिं बाकी, सब दुख छाकी, करौ बेबाकी करम-बही।
मम मन आसा, तव पद बासा, रहै हुलासा हिये यही ॥

जनता में संतोष

रूपमाला छंद

[४७]

सब्रन के मुख सों भले निकऱ्यो, 'साधु' शब्द सुहात।
बहु बड़ाई करत मुनि-जन, धन्य बंधु कहात ॥
नारि नर सबही प्रशंसत, प्रेम प्रीति सिहात।
कंज बिकसत उदय-रवि जिमि, भरत राम लखात ॥

[४८]

लागीं तिया सब हँसन सुनि, विनय बानि पुनीत।
कली बिकसी सुमन की जनु, पाय पानी-सीत॥
प्रजा मुनि-गन जनक-मन मैं, भयो आनँद भूरि।
भरत बोले जोरि कर पुनि, वचन जीवन-मूरि॥

भरत का वन से नगर को श्रेष्ठ बताना

[४६]

घिरत जहँ घन घटा नभ बिच, होत तहँ बरसात।
बोल कोकिल मधुर बोली, चैत माधव रात॥
कस न खंजन दौरि आवैं, शरद आगम देखि।
विपिन वन भल सुघर नगरहु, प्रभु प्रतापी लेखि॥

[५०]

सफल वृक्ष विहंग सेवत, मधुर फल जहँ खात।
कमल-दल नित रमत मधुकर, मोर घन छबि भात॥
रहत सारस सर समीपहु, पिक वसंत सुहात।
नवल नागर नगर निबसत, बसब वन कस भात॥

(१) वैसाख।

[५१]

फूल फल साखा सुपल्लव, सरस रख यक मूल।
महि समानी अंग खरखर, त्यहि न सेवत भूल॥
होट हाट[१]क दाम लागत, खानि रज सम जान।
नगर समता वन न राखत, बसत नृप सह मान॥

[५२]

गिरि-गुफा अरु दरी माहीं, सरप अजगर सोव।
बाघ चीता भालु भारी, मिलत प्रानहु खोव॥
घाम शीत सताव वहुतै, कँपत बरखा देह।
विपिन कष्ट अनेक छन छन, रखत ना जन नेह॥

[५३]

दंत नख विष सींघ डंकहु, कीट पशु मृग साथ।
अस्त्र शस्त्र समान जानहु, झपटि मारत हाथ॥
मांस माटी वायु तृन भख, ज्ञान बुद्धि विहीन।
जीव ऐसे बसत वन सब, यही विधि विधि कीन॥

(१) बाजार, (२) स्वर्ण।

[५४]

रोम बल नहिँ अंग कोमल, अन्नगत रह प्रान।
दीन अस्त्र न हाथ कछु विधि, दुःख मानुष खान ॥
सकत ना सहि घाम सीतहु, जरत काँपत काय।
धाम संपति असन बसनहु, रच्यो निज हित लाय ॥

[५५]

ज्ञान बुद्धि प्रभाव वश जन, सबन कौं बस कीन्ह।
प्रकृति-धेनुहि लीन दुहि पय, रत्न कंचन लीन्ह ॥
सदन सुंदर नगर रचि कै, स्वर्ग सोभा छीन।
जनक-विधि जग-गुरू मानुष, योग्य शिक्षा दीन ॥

राम-वन-गमन के लिये पिता की अनिच्छा

[५६]

होत इच्छा फुरत फुरना, मनन मन करि लेत।
करत निश्चय वुद्धि कारज, कर्म इन्द्रिन देत ॥
पिता-हिय नहि भाव आयो, राम वन कौं जाँय।
सुघर-केश सुहात सिर पै, धूरि तिन लग धाय ॥

[५७]

※ कहै कस पितु-वचन वन-हित, पाव कौन प्रमान ।
विटप-कोटर जमत बिरवा, बदल तरु का आन ?
लवन-कनिका सिन्धु डार्‌यो, दिखत वारि सरूप ।
शब्द मिलि हिय प्रेम सँग मैं, भयो त्यहि अनरूप ॥

[५८]

† वचन पितु-मुख ते कढ़े अस, कहत जो यह लोग ।
कीन्ह बाहर हिय न राख्यो, जल न पुरइनि योग ॥

※ भला पिता कैसे कहते कि 'राम' वन को जायँ ! ऐसा कहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि एक वृक्ष के कोटर में दूसरा अन्य प्रकार का वृक्ष जमता है, तो क्या वह अपने गुण को छोड़ कोटर वाले वृक्ष के अनुसार हो जाता है ? वरन् उसमें उसके गुण के अनुसार ही पत्र-फल-फूल लगते हैं । लवण का टुकड़ा समुद्र में गिरने से जल-रूप हो जाता है । पिता का हृदय प्रेम से भरा था, उसमें अन्य वस्तुएँ भी सब प्रेम-रूप हो गईं ।

† कोई-कोई मनुष्य कहते हैं कि पिताजी के मुख से ऐसे शब्द तो जरूर निकले, सो उनके निकलने का मर्म यह है कि जब ऐसे असह्य वचन कान से सुने, तो मुख से निकाल दिये; हृदय में नहीं रक्खा । कमल के पत्तों में जल प्रवेश नहीं करता, समुद्र अपने पास कुछ नहीं रखता । चूँकि पिता के कान में ऐसा दुखद शब्द पड़ा; इसलिये उन्होंने शरीर त्याग दिया ।

सागर न राखत पास कछु, सब बहावत तीर।
कान सुनि वन-गमन-वार्ता, देह त्याग्यो धीर॥

कर्म-दोष

[५६]

मातु कीन्ह बिचार नहिं अस, राम कानन जाँय।
कुबरि भरि कै कान-जननी, दीन्ह मति पलटाय॥
ताहु को का दोष यामें, लिख्यो विधि अस भाल।
बदलि दीन्हो राग गायक, वाद्य भो बेताल॥

[६०]

तपत सूरज ताप महि पुनि, छनहिँ बरखा होय।
भूमि-दोष न नेकु यामें, ऋतु-प्रभावित सोय॥
कर्म हमरे विधि खिझायो, कहैं क्यहि की लाग॥
बनत अपना सों नहीं जब, उदय होत अभाग॥

[६१]

*तदपि दिय जो दोष कोऊ, तात जननी कांहिँ।
बचन निकरत प्रान त्याग्यो, राम-प्रेम सुहाहिँ॥

* यदि कोई माता-पिता को दोष देवे तो उसके समाधानार्थ कथन है कि पिता ने दुखद शब्द सुनते ही प्राण त्याग दिये और

सीख देत वशिष्ठ जननी, पति सुधर्म-धुरीन।
बदल भृंगी रूप सँग गहि, करत कस न कुलीन॥

[६२]

†सुनत हम यह कहत मानुष, कर्म-करन स्वतन्त्र।
अभिन्न अन्तःकरन करमहु, बुद्धि रख परतन्त्र॥
नभ निहारत छितिज सीमा, और आगे नाहिँ।
वन्दि-गृह मैं पर्‌यो जो जन, दिखत भितरहि माहिँ॥

माता के लिये इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि जगद्गुरु श्रीवशिष्ठजी उसको नित्य शिक्षा देते थे और उसके पति धर्मधुरीण थे। इतना होते हुए भी वह महापाप कैसे कर सकती थी। जब साधारण कीट संग रहकर भृंगी-कीट का रूप धारण कर लेता है, तब माता तो सज्ञान मनुष्य-जाति के उत्तम कुल में उत्पन्न हुई है।

†सुनते हैं कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु अन्तःकरण से तो बुद्धि भिन्न है नहीं, और विना उसके निश्चय के कर्म होता नहीं। फिर स्वतन्त्रता कहाँ रहती है? आकाश की ओर दृष्टि दीजिये, तो क्षितिज (जहाँ आकाश और पृथ्वी मिले देख पड़ते हैं) तक उसे देख सकियेगा, आगे नहीं देख सकते। जेल में पड़ा कैदी जेल की दीवारों ही तक देख सकता है। अस्तु; कर्मवद्ध जीव प्रारब्धानुसार कर्म करता है।

[६३]

जो भयो सो ह्वै चुक्यो सब, त्यागि तनु पितु दीन्ह ।
मातु माथे लग कलंकहु, लोक-अपयश लीन्ह ॥
मूल बिन नहिं वृक्ष बाढ़त, सोतु बिनु जिमि वारि ।
अहौं कारन मैं सबै विधि, होन कौं अस रारि ॥

[६४]

विमल रघुकुल-कमल-धवलहि, धूरि-धूसर कीन्ह ।
जनक जननी जन्मि जार्यौं, भ्रात वन-दुख दीन्ह ॥
प्रजा बिलखत नृपति बिनु बहु, वत्स बिनु जिमि धेनु ।
चरन प्रभु के शरन आयों, नाथ-जल, मैं-रेनु ॥

दासत्व

[६५]

सरस-संग अगाध उथलहु, बह्यों धार प्रचंड ।
नेकु बिलगत कर्म-रेती, रोकि देवै दंड ॥

❀ भरत ने श्रीरामजी को जल और अपने-आप को बालू की उपमा दी है। जब तक जलधारा में बालू बहती है, तब तक वह जल-रूप देख पड़ती है और पृथक् होने से रेती-रूप में शुष्क हो पवन-प्रभाव से इधर-उधर मारी-मारी फिरती है। अर्थात् जब जीव प्रभु से बिलग होता है, तब उसको अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है।

सुकृत विनु नहिँ सकत रहि कहुँ, सबनि नीच जनाउँ।
विपति-वायु उड़ाव इत-उत, महि अकास लखाउँ॥

[६६]

तव-कृपा-घन जव कृपा करि, बरसि लेहिँ उबारि।
संग-प्रभु के मिलि चलौं फिरि, दीन देहु सुधारि॥
लोक अरु परलोक-सुख सब, नाथ जब नहिँ दूरि।
मातु-अंक अनंद बालक, लगत ना त्यहि धूरि॥

[६७]

सदा नेह सम्हारि राख्यो, जानि सेवक मोहिँ।
गति न दूसर करम वच मन, छाँड़ि कै प्रभु तोहिँ॥
मुकुट जो प्रभु शीश सोहत, सो धरौं कस अंग।
एकादशी में अन्न खावै, होत त्यहि व्रत भंग॥

[६८]

सेवक सदा ते नाथ कौं, अब स्वामि कैसे होउँ।
प्रभु-पद्म-पद-रज जुगै पूँजी, त्यहि न कबहूँ खोउँ॥
स्वामि सचराचरहु मानत, राम सेवक होत।
खेत उत्तम छाँड़ि खेतिहर, कसक ऊसर जोत॥

राजा और सेवक की तुलना

[६९]

* एक स्वामी सेइ सेवक, रहत मन आनंद।
करत नृप बहु जनन सेवा, परत चिंता फंद॥
उभय सेवा निरत जानो, पै न दोउ समान।
लहै कस जल-राशि समता, स्वाति-बुंद महान॥

[७०]

† प्रजा पालन रहत चिंता, नृप न बात सुहात।
बहत घाट अनेक सरि जल, बहु थपेड़न खात॥
सदा स्थिर सलिल सर महँ, अति गँभीर लखात।
यक स्वामि-सेवा-निरत सेवक, चित्त अंत न जात॥

---

* राजा और सेवक दोनों अनुचर हैं। राजा सारे राष्ट्र का सेवक है और सेवक तो केवल एक व्यक्ति की सेवा करता है।

† जो जल अनेक घाटों से होकर बहता है उसे अनेक थपेड़े खाने पड़ते हैं; किंतु तालाब का जल सदा स्थिर रहता है। अस्तु, राजा को तो अनेक मनुष्यों की चिंता रखनी पड़ती है; और जो सेवक एक स्वामी की सेवा में निरत है, उसका चित्त शांत रहता है।

[७१]

ॐ मिलत बहुतन सों, हिये जो, बदल भिन्नहु भाव ।
पंथ-पाथ न रहत निरमल, विपुल लोग मँझाव ॥
एक व्रत रत सकत कस रहि, अन्य जन जब आव ।
चरन-सेवा नाथ की करि, दीन आनँद पाव ॥

राजा के लक्षण

[७२]

भूप होय गँभीर-मति अति, विविध विद्या-ज्ञान ।
कला-कौशल-शिल्प-पंडित, नाव-नीति-निधान ॥
सेना सँवारन कुशल अति, समर-शूर सुधीर ।
प्रसाद कोप प्रभाव राखत, सुधा विष कर वीर ॥

[७३]

साम दाम विभेद दंडहु, करत नीक प्रयोग ।
प्रजा-पालन-निरत निशिदिन, करत मन-बुधि-योग ॥
आँखि राखत सबन पर नृप, सचिव सेनप सेन ।
करत रक्षक नेकु आलस, चरत खेतहिं धेन ॥

ॐ मार्ग में भरा जल सदा गँदला रहता है; क्योंकि एक-न-एक कोई आया-जाया करता है ।

७४

स्वप्नहू मैं सजग सोवत, सावधान हमेस।
वाकपटु गंभीर-मति अति, सुलभ-वसन सुभेस ॥
घुमत बुद्धि अनेक कारज, सविधि साधत आप।
किरन फैलीं महि चहूँ दिसि, देत सूरज ताप ॥

७५

प्रजा-जनता उच्च-पद-जन, अन्य वीर नरेस।
भ्रातृ परिजन जाति-भाई, बसत देस बिदेस ॥
जानि इन जल-बाढ़ सम बुध, डार बुद्धि-सुबाँध।
रहत ये अनकूल तबहीं, धर न नृप जब काँध ॥

[७६

करत चिंता सदन सोवत, परो झोपड़ि दीन।
देत निरबल कौं अपन बल, प्रबल करु बल-हीन ॥
दुखिन के दुख नित बँटावत, सगे साथी जानि।
राष्ट्र-परिजन भूप-मुखिया, होत तब सुख-खानि ॥

[७७]

दास की सामर्थ्य नहिँ अस, करै शासन जाय।
सकत जल बिच पैरि नहिँ तब, कसक गहिरे धाय ॥

बद्ध-पिंजर उड़ न सक द्विज, भयो बाहर सोय।
सदा पद-पंकज विलोक्यो, और काम न कोय॥

[७८]

मीन कैसे चढ़ै तरु पर, कमल जामहिँ शैल।
सिंह सम कहुँ ससक-सावक, देत वालू तैल॥
बृद्ध लखि कहुँ युवति मोहति, मूर्ख कस पढ़ वेद।
करत बनिकहि सेन-नायक, होत नृप रन खेद॥

[७९]

योग्य जो ज्यहि कार्य हित त्यहि, देइ सोई काम।
लहत सुख सब भाँति नृपवर, बढत यश बल नाम॥
लगी बाजी बाजि पँगु की, तुरँग लेतो जीत।
परत काँजी दूध बिच जब, नसत पय-परतीत॥

[८०]

मोर जाय अकास उड़ि तहँ, मिलै मेघन धाय।
पति वसंत बनाय कोकिल, सकुच लाज न गाय॥
टेक छाँड़ि जु पिवैं चातक, पानि पेट अघाय।
कौनि सोभा लहैं तब वे, देहु नाथ बताय॥

[८१]

कार्य भल जो जाहि लाग्यो, प्रकृति निज अनकूल ।
त्यहि सफलता मिलत तामें, कर न कबहूँ भूल ॥
मधुप-मति, पद-कंज सेवत, प्रेम-रस-लवलीन ।
सकत राज सम्हारि नहिं जन, लेइ कोऊ छीन ॥

[८२]

देब उत्तर काह प्रभु तब, भई जो अस बात ।
युद्ध-शिक्षा-कुशल हौं भल, डरत ना अरि-घात ॥
तदपि मन बस चरन-पकज, दिखत राज न भूलि ।
अंग पूर कपूर महँकत, गह न दुरगँधि धूलि ॥

[८३]

सचिव मंत्री कोष रक्षक, सेन-नायक सेन ।
तुरँग हाथी आदि वाहन, समर कबहुँ मुरे न ॥
गुरु सदा रघुवंश पालैं, जननि जिमि शिशु काँहि ।
आये इतै सब साथ लैकै, कहहिँ जो मन माहिँ ॥

अभिषेक के लिये आग्रह

[८४]

पितु-वचन वन-वास-हित जो, वर्ष चौदह हेत।
कीन्ह पालन तासु व्रत भल, पौढ़ि तृन कुस रेत॥
चहत कानन रहन तौ करु, पूरि औधि अनंद।
लेहु तिलक कराय अबहीं, सुनहु रघुकुल-चंद॥

[८५]

जनक जननी कब कह्यो अस, करहु कबहुँ न राज।
अभिषेक सानँद होय जब, तब सधैं सबहीं साज॥
ये मित्र नृप-गन इतै आये, प्रजा-जन लै साथ।
कहत बारहिं बार मोसों, करहिं राम सनाथ॥

[८६]

प्रभु बिलोकहु ऋषि-मुनिन कहँ, कर कमंडल सोह।
सरित सागर कूप सर सब, सलिल तिन महँ जोह॥
लखत हैं भल नाथ ही कौं, सुनै कब अस बात।
अभिषेक आरज-सुवन कौं, होन अबहीं जात॥

[८७]

दीन पालन करै आज्ञा, शीश प्रभु-पद नाय।
छाँड़ि धनु ज्यौं धाव बानहु, जाउँ त्यों रघुराय॥
रबि न आवत दौरि महि ढिग, तपत किरनै ताप।
विदित जग मैं नाथ वैभव, बल प्रभाव प्रताप॥

वसंत-तिलका छंद

[८८]

जावै नहीं अवध औधि बिताय देवैं।
धारे सुभेस तपसी वन भ्रात सेवैं॥
सोवै दरी हरि[1] तबौं वन-जीव भाजैं।
जो नाथ कानन बसैं, रहिहै सुराजैं॥

[८९]

शत्रुघ्न औ लखन-लाल सुवीर भ्राता।
मंत्री सुमंत मति-धीर सुमंत्र-दाता॥
खेवैं जहाज गुरुराज सदा सम्हारे।
है कौन शत्रु रन साथ करै हमारे॥

(१) सिंह।

[९०]

मीठो खवाय अब ना कड़ुवा खवाओ ।
ऊँचे चढ़ाय गिरि पै फिरि ना गिराओ ॥
कैसे वियोग जल मीन कहो निबाहै ।
माता बिना शिशु ह्वै दिन-रैनि दाहै ॥

[९१]

राजा बनैं हम सुभोग-विलास भोगैं ।
डारे कुटी प्रभु सहैं दुख-दैन्य-रोगै ॥
चींटी चढ़ाय गिरि कौं कहुँ शीश लेवै ।
का काक कोकिल ह्वै रितुराज सेवै ?

वशिष्ठ

छप्पय

[९२]

सुनत वचन वर भरत, कहत गुरु गुरुतर बानी ।
मधुर मंजु मृदु शब्द, गँभीर सुअरथहु सानी ॥
राम-भरत-संबाद, समुझि कहु वाद करै को ।
दुइ सागर जनु मिलत, उमड़ि इन बीच परै को ॥

जलनिधि-सुप्रेम भर भरत हिय, तरनी-मति नहिं तरत तहँ ।
इत अचल नेम प्रन अचल बनु, पार सकब करि कठिन जहँ ॥

[६३]

जग पतंग जरि मरत, टरत नहिं दीपक परसै ।
प्रान प्रेम-हित खोय, चिता तिय पति-सँग झरसै ॥
चातक टेक निबाहि, तकत महि-जल दिसि नाहीं ।
लखत चकोर न अनत, दिखै शशि कहँ निशि माहीं ॥
नव नीति प्रीति परतीत जग, प्रगट करत सहि दुख महत ।
लहि सकल कष्ट स्वारथ अरथ, भरत रामहित जिय चहत ॥

[६४]

राज बाजि धन धाम, धरा सब भरत न चाहैं ।
छुईमुई बनि आपु, तापु भव-रोग बिसाहैं ॥
भोगत भोग-विलास, भोगि भोगिहिं जावै तन ।
बूड़त शोक वियोग, न पावत सुख कबहूँ जन ॥
निज नैन देखि दुख-गर्त्त को, भरत पछरि पग धरत तहँ ।
कहुँ चतुर करत अस बनिज जग, मूलहु देइ गँवाय जहँ ॥

---

(१) पर्वत ।

[९५]

कौन काम बिन काम, कीन्ह नहिं तिय तनु देखे।
क्यहि न दह्यो हिय आगि, क्रोध की बुध बुधि झेंखे ॥
लै गुमान कौं भार, गिर्‌यो बड़ पद सों नीचे।
अगिनि आस परि लोभ, लोह गहि जर जन जीतै ॥
इन पार कीन्ह सब दुख भरत, दिखत न उन तन भूलि अब।
अरि घेरि लीन्ह चहुँ दिसि जबै, चतुर भगै तब छाँड़ि सब ॥

[९६]

सरित बहत दिन-राति, चहत जलनिधि मिलि जावैं।
पशुगन तृन नित चरत, भरन पेटहि वन धावैं ॥
शशि रवि भ्रमत अकास, प्रकास जगत जगि छावै।
आसा-पास बँधाय, जीव जग जनम गँवावै ॥
मन बसत वासना सबन के, एक गहत लुकि पर छिनत।
तव रूप समानहु भरत मन, भूलि न आनहु कछु गिनत ॥

[९७]

सुचि विराग मन प्रीति, योग मख करम धरम तप।
शील सत्य आचार, छमा सतगुन शम दम जप ॥
दान दया उपकार, ध्यान आसन समाधि सब।
सधंत तबहिं तक भले, रहत भय इच्छा हिय जब ॥

नहिं मुक्ति-वासना भरत-मन, नरक-सरग-डर का दहत।
'पितु-वचब चहिय पालन करन', राम काह तुम अस कहत ?

[९८]

युग तुरंग रथ चलत, करत बल द्वउ यक साथै।
विषम बिगारत गतिहु, गिरत फाटत सिर माथै॥
दम्पति समता नेह, होत यक बलि दूसर पर।
जहाँ नहीं अस हाल, तहाँ दोहुँन हिय नित जर॥
जग छाँड़ि एक तुमकौं भज्यो, प्रिय भरत भयो अद्वैत।
बढ़ि चलहु राम सँग बंधु के, अब लखब न चाहिय द्वैत॥

श्रीरामचन्द्र

छप्पय

[९९]

धन्य भरत धनि पिता, धन्य जननी रघुकुल धनि।
धन्य अवधपुर लोग धन्य, सब भ्रात वधू धनि॥
धन्य राह पग धरत, धन्य नर निरखत थल धनि।
धन्य प्रीति वर प्रेम, धन्य मैं चित्रकूट धनि॥
सुनि बंधु बड़ाई गुरु-वदन, हरष महा अचरज मनत।
उठि सपन दिखत जो जगत जस, अपनि दसा तस मैं लखत॥

[१००]

नदी उतर चढ़ि नाव, धाव वाहन थल नाना।
पच्छी परबत उड़त, पहुँचि लखु शिखर महाना ॥
दरिद धनिक ढिग जात, आस रखि हिय धन के हित।
खोजत आकर शैल, रतन करि यतन जितै तित ॥
यक गमनत सबनि विमान लै, पारसहू त्यहि हाथ लग।
गुरु कृपा, त्याग किय भरत तस, मरजादहु कौं जीति जग ॥

[१०१]

जल-प्लावन के बीच, बीचि उठि अति ऊँचे लगि।
तरनी निबहत तहाँ, कहाँ कैसे इत-उत भगि ॥
कसक उड़े नभ नभग, पवन अति जोर बहै तहँ।
भूमिहु तरुवर गिरहिँ, धूरि-धूसर सब जन जहँ ॥
पितु-वचन पाल सुत जग सदा, धरम-नीति मरजाद अस।
मैं करत रह्यों वन वसि भले, देखि भरत-गति करहुँ कस ?

[१०२]

त्याग आम तरु डार, तबै त्यहि लहत सबै जन।
त्याग मेघ जल जबै, भरै महि सरि सर थल वन ॥
सागर त्यागत तटहु, जगत हित रतनन कौं बहु।
त्याग पाट पट कीट, बनत सुंदर वर बसनहु ॥

जग-माया त्यागत जीव जब, पावत तबहीं ब्रह्म-पद ।
अब त्यागि लोक-परलोक-हू, भरत बढ़े रहि कछु न हद ॥

[१०३]

प्रेम हिये भरपूर, भरत जग-यम-भय नहिं मन ।
चहत न सुख परलोक, लोक भोगन कौं का गन ॥
ब्रह्म-पदहु नहिँ चाह, डाह नहिँ जग मैं कोउ सन ।
भेद खोय अरि मीत, सीत तापहु सह मृदु तन ॥
अब 'त्याग' नाम निज भरत धर, विरत न कोऊ बंधु सम ।
बलि करत आजु सब भ्रात हित, भरत कहैं सो करैं हम ॥

[१०४]

धन्य धन्य की गूँज, सभा गूँजी चहुँ ओरी ।
बरसत सुरहु प्रसून, प्रसंसत भ्रातन जोरी ॥
प्रेम-अश्रु बहि रहे, जननि गुरु गद-गद कंठौ ।
उमग हिये अनुराग, बिहँग पशु वनचर लंठौ ॥
धरि धीरज तब उठि भरत तहँ, वचन कहत करजोरि कै ।
कहुँ मेघ बरस महि लाभ कहुँ, डारत बारिहु बोरि कै ॥

भरत

छप्पय

[१०५]

पितु-सेवा सुत सोह, सकल सुख जग त्यहि पदतल ।
पशुपति सँग पशु रहत, लहत वन तृन जल सब भल ।।
जल गँभीर बसि मीन, रहै भय-रहित सुखी जहँ ।
प्रबल कृपालु नृपाल, प्रजा चिंतित कस रह तहँ ।।
मैं रह्यों सरन प्रभु-चरन हित, आज्ञा-पालन गुन सिखन ।
भल सुखद जानि अबहूँ भले, चहत नाथ प्रमुदित दिखन ।।

[१०६]

वन बसि अवधि व्यतीत, करन चाहत जो प्रभुवर ।
धरम नीति मरजाद, थापि सब विधि जग सुखकर ।।
करैं वहै जो रुचै, जँचै मन रघुवर हितकर ।
मैं न चहत हित-अपन, न कर संकोच कृपाकर ।।
तिय सहै अनेकन आपु दुख, सुखी करन प्रिय-पति भले ।
तस करहुँ करम मन वच सदा, राज-कष्ट चह जस खले ।।

[१०७]

बूढ़ चलत बलहीन, टेक लकुठी धर कर विच ।
शकट-भार धुरि धरत, सकत वाहन तब त्यहि खिंच ।।

बकी बैठि घर रहत, दौरि चारा लावत बक।
कच्छप रहि बहु दूरि, लेत सुधि-बल अंडन ढक ॥
प्रभु राखहु अवध जो मोंहिं तौ, देहु अपन अवलम्ब अब।
सम्पुट-वियोग तिय प्रीति धर, चलत पीव परदेस जब ॥

श्रीरामचन्द्र

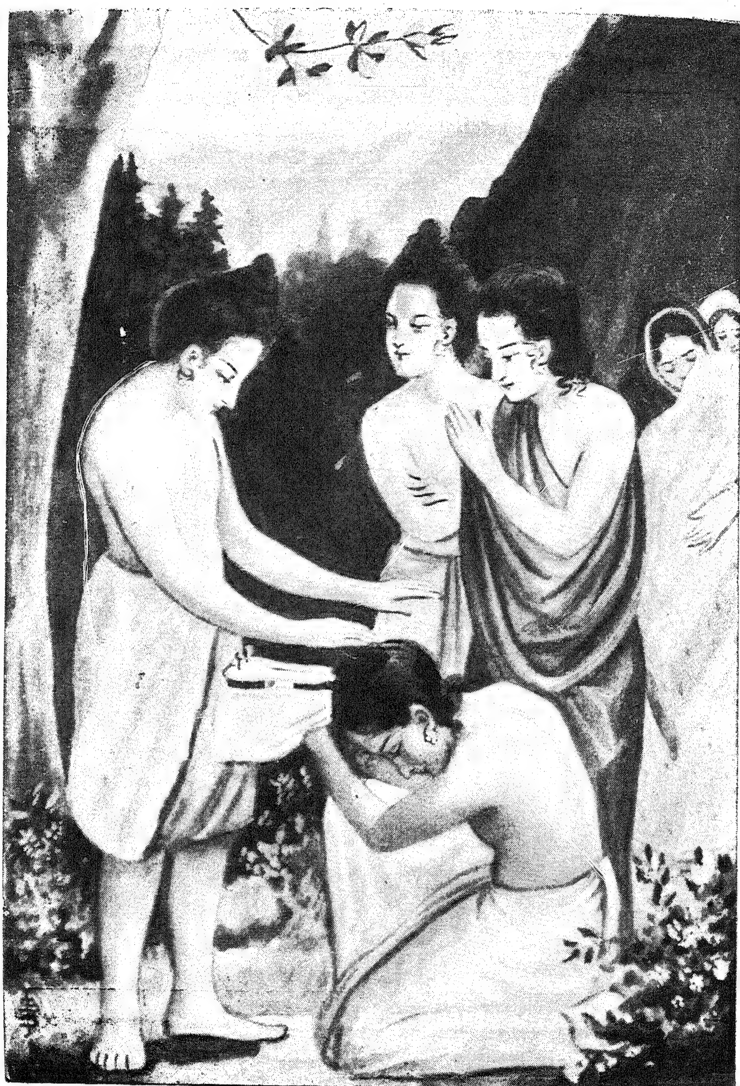
रोला छंद

[१०८]

धन्य पुरुष जग वहै, लेइ सिर पर को दुख जो।
धन्य त्याग वहि केर, हिये आसा नहिं रख जो ॥
रखै बड़न बड़ मान, शील संकोची धनि नर।
धन्य भूप परबीन, लेत नहिं कर कुकरम कर ॥

[१०९]

अहौ गुणन सब पूर, बंधु कस करौं बड़ाई।
चहौ जौन सो करौ, नेकु संशय नहिं लाई ॥
अवध लौटि मैं चलौं, करौं शासन जहँ सब विधि।
काह चहत तुम कहहु, लाल मम भरत प्राननिधि ॥



भरतको पादुका-प्रदान

भरत

[११०]

चरन जात वन धेनु, वत्स संतोष करत घर।
मिलिहि मातु फिरि साँझ, सुखी सँग रहिबे निशि भर ॥
सत्य धर्म मरजाद, पालि प्रभु लौटहिं पुर को।
चाह यही शिर-तिलक, करत देखैं गुरुवार को ॥

श्रीरामचन्द्र

रोला छंद

[१११]

चन्द्र चन्द्रिका प्रेरि, चकोरी हिय शीतल करु।
कमल उठत खिलि प्रात, पठै रबि-किरनन दल भरु ॥
लेहु पादुका लाल, कालहू कौं नहिं अब डर।
मोर सुकृत सब समय, तोहिं रचै मग वन घर ॥

श्रीभरत

[११२]

लीन्ह पादुका धारि, भरत निज शिर हरषित चित।
लह्यो बड़ो अवलम्ब, नाथ दीन्हो जनु बहु वित ॥

निज सेवक स्वीकार, कीन्ह प्रभु, रह नहिं भय मन ।
आज्ञा पालन करत, स्वामि की बसि दूरिहु जन ॥

श्रीवशिष्ठ

[११३]

उठि वशिष्ठ तब कह्यो, भरत सम त्यागी नहिं जग ।
दिखत न राम समान, सौंप सर्वस्व-सुकृत-सग ॥
वृत्त ऊँच जस होय, मूल पैठत महि बिच तस ।
गुन पदार्थ नहिं बिलग, भरत रामहुँ हैं यकरस ॥

[११४]

जहँ जो तहँ रहि गयो, भयो सुख आनँद दुहुँ दिसि ।
नभ सुर बरसत फूल, उठे तब सब जन लखि निसि ॥
जात बड़ाई करत, भाइ दोहुँन की मुनिजन ।
मातन मन संतोष, सुतन बिच बस प्रेमहु घन ॥



द्वादश सर्ग

राम-कैकेयी-संवाद

[१]

राम गये रनिवास, केकयी के कर जोरे।
बोले वचन विनीत, मृदुल सुचि मधुरस बोरे॥
तैं न सोच करु मातु, तोर नहिं कछु अपराधा।
विधि-विधान जस रचत, नचत तस जगत अगाधा॥

[२]

*जो कुछ चाहत करन, बीज पहिले सों बोवत।
सूर्य-ताप खिंचि वाष्प, वायु मिलि सँग नभ जोवत॥

---

* पृथ्वी पर जलवृष्टि होने के लिये सूर्य को अपनी किरणों द्वारा जल खींचना पड़ता है, और वह वायुमंडल में वाष्प-रूप के पश्चात् घनत्व को प्राप्त हो मेघ-रूप में परिणत होता है। इतना सब होने पर तब जल की वर्षा होती है।

मेघ रूप कौं धारि, गगन घिरि चहुँ दिसि गरजत।
चपला चमकत प्रथम फेरि, तब महि जल बरसत॥

[३]

†रजत हेम अरु लोह, रहे सब रजकन रूपा।
लाय योग अनरूप, सहे अति सीतहु धूपा॥
मृदुल मृत्तिका बनत, कठिन कंकर रहि ठौरव।
लाखन बरस बिताय, रंग बदलत गुन गौरव॥

[४]

❀ जननि प्रसव जब करत, कहत शिशु जनम्यो आजै।
कितिक दिनन तक रह्यो, गर्भ बिच करि सब साजै॥
कारन प्रगटत नहीं, लखत सबही यक काजै।
आनँद प्रथम दिखात, लगैं तब बाजन बाजै॥

---

† स्वर्ण, चाँदी तथा लोहा—ये सब धातु मिट्टी से उत्पन्न हैं; किन्तु इनके रूप-रँग बदलने में हजारों बरस लग जाते हैं।

❀ जिस दिन लड़का उत्पन्न होता है, लोग उसी दिन से उसकी आयु की गणना करते हैं; लेकिन इसका ध्यान नहीं रखते कि जन्म के पूर्व वह गर्भ में भी तो रहा है। अतः कारण प्रगट न होने से मनुष्य उसकी ओर ध्यान नहीं देते। श्रीरामजी का कथन माता से है कि तू तो कार्य-रूप है और कारण तो कोई दूसरा ही है, अतः तू निष्पाप है।

[५]

† नदी-नीर नित बहत, रचि मरजाद कूल निज।
बाहर सों जल आव, प्रबल धारा बहि तट छिज॥
उमड़ि चलत चहुँ ओर, बोरि बारी गृह खेतन।
कौन दोष सरि केर, लहत दुख बहु जड़ चेतन॥

[६]

❀ निरमल किसलय चमक, मनोहर रवि-कर लागे।
वायु झोंकि बहु धूरि, मुँदत दल छबि रज रागे॥
दोष देत को पात, पवन बहि तिन धुरियाये।
तैसे तू निष्पाप, विधाता प्रेरि भखाये॥

---

† स्वयं नदी का जल उसके तटों का नाश नहीं करता, वरन् अगल-बगल से बहकर जो पानी उसमें आता है, वही उस के कूलों को नष्ट करता है। अर्थात् जिस विचार के वश हो कैकेयी ने रामजी को बनवास दिया था, वह स्वयं उसका विचार न था, वरन् ऐसा करने के लिए दैव ही की प्रेरणा थी।

❀ वृक्ष के नये कोंपल कैसे सुहावने और चमकदार होते हैं! लेकिन प्रचण्ड पवन द्वारा उनपर इतनी धूलि जम जाती है कि वे धूमिल पड़ जाते हैं। इसमें उन पत्रों का क्या दोष है? उसी भाँति हे माता! तेरे इस कार्य में दैव का दोष है, न कि तेरा।

[७]

❀ महि भीतर जड़ रहत, वृत्त रत्तत सब विधि सों ।
प्रबल धार जल काटि, बहावत त्यहि माटी सों ॥
नीक लगत नहिं निकरि, सींचि सकि नहिं तरु कौं तब ।
दोष मूल कौं काह, भई गति वाकी असि जब ॥

[८]

† दूब हरित लहलहित, फैलि महि बिच भल सोहत ।
भूमि पहिरि जनु बसन, हरो जग मुनि मन मोहत ॥
त्यहि कौं चरि पशु लीन्ह, कीन्ह सूनो थल सब बिधि ।
दुख न लेत क्वउ आप, देत सापहु दूसर सिधि ॥

❀ वृक्ष की जड़ पृथ्वी के भीतर से जल तथा खाद्य पदार्थ खींचती रहती है। जब जल की बाढ़ से उसके ऊपर की मिट्टी कट-कर बह जाती है, तब वह बाहर दीख पड़ने लगती है। उस समय वह वृक्ष को सहायता नहीं दे सकती। ऐसी दशा में उसका क्या दोष है जो उसे ऐसा कष्ट मिला? संसार में अपनी जान में कोई भी दुःख के पास नहीं जाता, किंतु उसको कोई दूसरा ही दुःख पहुँचाता है।

† दूब खूब हरी-भरी रहती है। क्या वह चाहती है कि उसे कोई नष्ट करे? किन्तु पशु उसे चर जाते हैं। अस्तु, जानबूझ कर कोई स्वयं दुःख नहीं बुलाता, वरन् दूसरों ही द्वारा दुःख मिलता है।

कैकेयी

[९]

†लखत पताका लोग, पवन सँग ऊपर फहरत।
करत न कोउ विचार, कसर अंबर मँह ठहरत॥
नाम लियत नहिं खंभ, थाम्हि त्यहि कौं दृढ़ ठाढ़ो।
अग्र लखत ज्यहि जगत, करत अचरज तकि बाढ़ो॥

[१०]

※पात फूल फल डार, सुपल्लव तरुवर सोहत।
बदत विहंग सुविरद, सुनत पथिकन मन मोहत॥
प्रान रूप जो मूल, कोउ नहिं ताहि सराहै।
यश अपयश वहि मिलत, परत आगे जो राहै॥

---

† वायु-मंडल में पताका फहराती है, इसे लोग देखते हैं। लेकिन इसका विचार नहीं करते कि किसके आधार पर वह वायु के साथ हिल रही है। वास्तव में वह बाँस, जिसमें पताका बाँधी गई है, मुख्य कारण है; किंतु उसका कोई नाम तक नहीं लेता। यह संसार जिसको आगे देखता है, उसीको उत्तरदायी बनाता है। मुझे सब दोष देते हैं। परंतु जो दोष का कारण है, उसे कोई कुछ नहीं कहता।

※ वृक्ष के फूल-फल आदि की प्रशंसा होती है, किन्तु इस प्रशंसा का कारण वृक्षकी जड़ है, पर उसको कोई नही सराहता। यदि दैव ही कारण है, तो मेरे शिर पर कलंक क्यों मढ़ा जाता है?

[११]

† अमृत विष कस होत, कसक मीठो कटु लागै ।
शुचि प्रकास तम बनत, यती विषयनि अनुरागै ॥
अगिनि बनत जल सीत, भीत भय ज्ञानिहु मानत ।
श्वेत परै लखि कृष्ण, नगर वन को जन जानत ॥

[१२]

* बिज्जु-शक्ति-गृह भेद, होत तम सकल नगर महँ ।
घर के दीपक बुझत यदपि, सब ठीक रहत तहँ ॥
दैव कीन्ह जो काम, दोष मम सिर सब थापत ।
करत राम अन्धेर, जाल-जग बिच तुम झाँपत ॥

---

† अमृत विष नहीं होता। मीठा पदार्थ कड़ुआ नहीं हो सकता—अर्थात् सब वस्तुओं का प्रभाव उनके अनुसार ही होता है। फिर बात क्या है कि उल्टा दृश्य देख पड़ता है। मैं माता हूँ और तुम पुत्र, फिर मेरे द्वारा तुम्हें क्यों कष्ट मिला ?

* जिस नगर में बिजली द्वारा प्रकाश होता है, वहाँ जब शक्ति-भाण्डार (पावर-हाउस, Power-house) के यन्त्र बिगड़ जाते हैं, तब नगर के सारे घरों के दीपक बुझ जाते हैं। अतः कर्म तो करे दैव और दोष मेरे सिर मढ़ा जावे ! राम भला ऐसा अंधेर तुमने क्यों संसार में फैला रक्खा है ?

[१३]

फिरिहु तोष मम हृदय, भयो तू मेरो ही सुत ।
पुष्प गुलाब प्रभाव, न कोउ कंटक सन रुसत ॥
अगिनि हेम[1] संयोग, जात जरि कंचन-मल तहँ ।
दोष मोर जो रह्यो, नस्यो सब तुम निरमल पहँ ॥

[१४]

तुमहिं अछ्रत मैं भइउँ कलंकिनि, पति सुत दिय दुख ।
कल्पवृक्ष कौं पाय, तबहुँ पायों नहिं कस सुख ॥
राम जहाँ तुम रहत, तहाँ सब आनँद पातो ।
रवि-प्रकास जब होत, कहौ तम कहँ रहि जातो ?

[१५]

*विधि-शिर सब कस मढ़ौ, काह करि सक वह जग जन ।
करम-लकुटि गहि चलत, छुँवड़त ना त्यहि कौनिउ छन ॥
बँध्यो आपु जो पाँश[2], कसक दूसर कौं छोड़ै ।
भीख भखत मग फिरत, दान कस कर वह घोड़ै ॥

---

(१) स्वर्ण, सोना; (२) बंधन ।

* दैव के हाथ में क्या शक्ति है ? वह तो कर्म-लकुटी के सहारे चलता है । जो स्वयं कर्म-फल देने के लिये बद्ध है, वह दूसरों को क्या लाभ-हानि पहुँचा सकता है ?

[१६]

† बिधिहु विधाता जौन, बाँधि सोई त्यहि राख्यो।
न्याउ करत जो बैठि, दया कैसे चह भाख्यो॥
दैव करम आधीन, सकत ना घटि बढ़ाव करि।
जमा-खरच जस करत, पाप-पुन्यहु तस गुन धरि॥

[१७]

* करम भयो आरम्भ, प्रथम कब कसक जीव गह।
निरमल-नीरद[1]-नीर, पंक[2] आकास कसक लह॥
जैस सँवारत नारि, तैस कच[3] सुंदर देखिय।
जो स्वर छेंड्यो सोइ, सब्द बाजा अवरेखिय[4]॥

---

(१) मेघ, (२) कीचड़, (३) बाल, (४) देखना-सुनना।

† दैव तो निरा मुनीम है। वह जीव के पाप-पुण्य का जमा-खर्च रखता है और उसी भाँति उसे सुख-दुख देता है। तुम उस विधाता के भी विधाता हो, केवल तुम्हीं में यह शक्ति है कि तुम कर्म को घटा-बढ़ा सकते हो। तब तुम मुझसे ऐसी बहलानेवाली बातें क्यों करते हो?

* यह निश्चय करना कठिन है कि कब और कैसे कर्म आरम्भ हुआ; क्योंकि कर्म करने की प्रवृत्ति बिना कर्म के कैसे हुई और आदि-काल में बिना कर्म किये ही जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ? जैसे निर्मल मेघ-जल में कीचड़ नहीं होता वैसे ही शुद्ध आत्मा में कर्मविकार कैसे हो सकता है?

[१८]

गंधी बैठि दुकान, कहौ दुरगँधि कस सहतो।
जहाँ राम यश-मूल, कलंकिनि मोहिं जग कहतो॥
तम अरु परम-प्रकाश, रहै कैसे एकहि सँग।
सुर-पादप[1] जहँ रहत, चहिय कछुहू नहिं तहँ खँग[2]॥

[१९]

बुरो ठौर चह बुरो, भलो परिछाहीं नहिं पर।
नहिं तो जात नसाय, मद्य-घट जस गँग-जल-घर॥
हीरा धरि सँग काँच, साँच दामहुँ होवै कम।
जहाँ राम तुम सूर्य, तहाँ मैं बनत अधम-तम॥

[२०]

नीच नीच-थल सोह, सृष्टि-क्रम यह निर्मल भल।
ताल रहत जल-सरप, वड़ो अजगर परवत-तल॥
रघुकुल-रवि की नारि, राम-माता गौरव वड़।
त्यहि सों भो अस काम, करत न कोउ जीवहु जड़॥

[२१]

भरत भले तुम भले, सबै जन भल बनि बैठे।
मैंहि अभागिनि अहौं, करम त्यहि के भल ऐंठे॥

---

(१) कल्पवृक्ष, (२) कमी।

चह्यो त्याग मरजाद, भाइ द्वउ यक दूसर लगि ।
जस की तस रखि मोहिं, काह लीन्हो तुम ना ठगि ॥

[२२]

हृदय-उदधि मम उमड़, वीचि-अनुराग प्रेम-जल ।
राम-मीन तुम बसत, मुदित आनँद चहुँदिसि भल ॥
कसक बन्यो छन एक, मरुस्थल जलनिधि यक थल ।
सोवत सब लखु सपन, दिखत हम जागत विधि-बल ॥

राम

सार छंद

[२३]

* नित्य रहत जो एक एक रस, बहुत होन पुनि चाहै ।
अहि-कुंडलि जिमि फैलि चलत तिमि, ब्रह्म जगत बिच आहै ॥

* ब्रह्म एक-रस रहनेवाला बहुत रूप में होता है । जैसे साँप चलने के समय कुण्डली (गेडुरी) को त्याग कर अपने शरीर का विस्तार करता है, उसी भाँति 'ब्रह्म' संसार में अपना विकास प्रगट करता है । ब्रह्मरूपी निर्मल सघन बर्फ में किसी प्रकार की मलरूपी उपाधि नहीं रहती । जब इच्छारूपी सूर्य का ताप लगा, तब वह गला और जल बनकर बहने लगा । उस समय विकार-रूपी रज भी उसके साथ हो गई ।

सघन-तुषार जु एक ठाम रह, मल उपाधि नहिं भावै ।
इच्छा-ताप तप्यो तब जल बनि, रज-विकार लै धावै ॥

[२४]

† जलनिधि-तरल न नास होत मल, वीचि-विकार सुहावै ।
बढ़त बनत हिम-अचल अचल ढिग, तब कहुँ समता भावै ॥
ध्रुव प्रभाव बस पवन चलत जिमि, तिमि जग कारज जानो ।
स्रष्टा स्रष्टिन भेद, गिनत कछु, सो समता सुख मानो ॥

[२५]

लीन्ह परीक्षा हरिश्चन्द्र की, कष्ट बहुत विधि दीन्हो ।
दया-निकेत निरत सात्विकि मति, क्रूर-कार्य मुनि कीन्हो ॥
विष्णु बड़ाई करत कौन नहिं, विधि शिव शीश नवावैं ।
कच्छप रूप पीठ मन्दर लै, सिन्धु मथत दुख पावैं ॥

---

† समुद्र के जल में भी रज रहती है; क्योंकि वहाँ लहर-रूपी विकार वर्तमान है। उसे स्थिरता और निर्मलता वहाँ मिलती है, जहाँ पर अगाध समुद्र का जल जमकर बर्फ हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म में मिल जाता है। वायु का प्रवाह दक्षिणी तथा उत्तरी ध्रुवों के आधार पर है। उसी प्रकार संसार के भी कार्य ईश्वर ही के हाथ में हैं।

[२६]

अक्षय कीर्ति फैलि हरिचँद की, सत्य श्रेष्ठ जग कीन्हो।
क्षीर-सिन्धु मथि रतन निकार्‍यो, विष्णु सृष्टि सुख दीन्हो॥
तैं माता सुत-प्रेम करति अति, मम हित सहि दुख नाना।
थापि अचल यश जगत सुमेरो, लीन्ह कलंक महाना॥

[२७]

जो अपकीरति फैलि मातु तव, सो सब मम लगि जानो।
ऊपर सजल तरे खाली घट, रहँट भाँति तिमि मानो॥
स्वाती सलिल सीपि धरि उर मैं, मोतिन लरि उपजाई।
जस अनमोल जँचत पारिख कौं, तस लह अधिक बड़ाई॥

[२८]

जो दुख सहत अन्य हित जग बिच, पुन्य पुरुष अस थोरे।
सुर कारज करि कष्ट लह्यो शशि, ग्रसत राहु रिस घोरे॥
संत पुरान बखानत कीरति, पर उपकारी भायो।
निज स्वारथ बलि कीन्ह मातु तैं, अन्य हेतु दुख पायो॥

[२९]

सुनु सुर करत प्रशंसा तोरी, बरसि रहे बहु फूलौ।
मुनिहु असीसत तोहिं बहुत विधि, मिटी सबनि की सूलौ॥

वनवासी सब आय जुहारैं, मातु देखु सब ठाढ़े।
कहत राम वन पाइब हम कब, तव प्रसाद सुख बाढ़े ॥

[३०]

चरित तोर गइहैं जो जन जग, करि विचार मन लाई।
छोंड़त अश्रु छूटिहैं अघ सब, करुना कथा सुनाई ॥
पितु को मरन गमन वन मेरो, तोरि विकलता भारी।
सुनि गुनि समुझि द्रवै हिय जाको, नासै चिंता सारी ॥

[३१]

गज रथ वाजि न काम देत जल, काष्ट-नाव करु पारै।
अति बलवान सिंह उड़ि नहिं सक, नभ लघु-विहँग सिधारै ॥
स्वाद-हीन कटु औषधि सब विधि, खात रोग सब नासै।
तस तव कथा दुखद दुख नासत, भक्ति ज्ञान परकासै ॥

कैकेयी

सार छंद

[३२]

बड़ अभिमान लाल यह मोरे, तू सुत हौ मैं माता।
यद्यपि दोष मढ्यो मम सिर सब, छुटिहिं न तबहूँ नाता ॥
ऐंठनि परी उबटि रजु बिच बहु, जरे न वह त्यहि छोड़ै।
मंगल मूल कलंक राम सँग, भव दुख दुरि सुख मोड़ै ॥



त्रयोदश सर्ग

मंदाकिनी

रूपमाला छंद

[१]

चित्रकूट सुरम्य थल, मंदाकिनी बह बीच।
सघन तरु-तट लगे सोहैं, हरित दल भल सींच॥
पुत्र पालित प्रेमयुत जनु, रहत जननी साथ।
सुखद छाया तीर सुत धरु, छत्र मानों हाथ॥

[२]

नीर निरमल नाक[1]-नारी, निकर[2] नित्त नहात।
करत मज्जन बनत सज्जन, भक्ति भाव लहात॥
कहुँ पियत मृग जल मुदित मन, सुधि न मृग-जल काँहि।
करिनि[3] करि[4] करु कहुँ कलोलहु, करन[5] वारि भराँहि॥

---

(१) अप्सरा, (२) झुंड, (३) हथिनी, (४) हाथी, (५) सूँड़।

[३]

कहुँ बहत टेढ़ी शैल बिच, कहुँ करत कलकल सोर।
नचत नरतकि कटि तिरछि करि, बजत किंकिनि जोर॥
सरल-गति-जल वक्र मारग, तनिक भेद न नेक।
परि कुसंग न रंग लागत, संत जन रस-एक॥

[४]

पथिक पैठत उथल घाटहु, करत पार निसंक।
सुलभ सबहिंन सरल-हिय-जन, रहत ना छल-पंक॥
नाव लागत गहिरि सरि कहुँ, बहत जल गंभीर।
भेद-भाव न मिलत बुध के, शांत-मन मति धीर॥

[५]

चमक रज-कन रजत[1] सम सरि, सूर्य किरननि लागि।
तनिक गुन गुनवान सँग मैं, लहत शोभा जागि॥
स्वल्प[2] प्रस्तर[3] परे जल बिच, गलत रंच न नेक।
होत शुद्धांतःकरण जब, उठत वृत्ति[4] न एक॥

(१) चाँदी, (२) थोड़ा, (३) पत्थर, (४) वासना।

[६]

तरनि[1]-तट-तरु बिहँग बोलत, मृदुल माधुरि बोल ।
सुखद-छाया खात फल सब, पियत जल अनमोल ॥
करत मोद अनंद छन-छन, विगत मन भय शोक ।
पाव निरवल सबल सँग सुख, लहत भल यश लोक ॥

[७]

हंसावली[2] सरि वीच बिलसति, पैरि काटत धार ।
उलटि देइँ सुअरथ बुध जन, बुद्धि-कौसल सार ॥
युगुल सारस तीर ताकत, दूरि भय को देखि ।
दीर्घदरसी[3] करत संयम, पूर्व लच्छण पेखि ॥

[८]

करत जल-कुँक्कुटहु[4] कलरव, निबसि सरि तट पास ।
द्वार याचक वृन्द बिनवत, दानि सों रखि आस ॥
पियत पच्छी नीर निरमल, करत मोद अनंद ।
मातु ढिग जस मुदित बालक, पाय पायस कंद ॥

(१) नदी, (२) हंसों का झुंड, (३) दूरदर्शी, (४) जलमुर्गी ।

[६]

कहुँ बहत दच्छिन ओर कहुँ, घूमि पूरब जात।
दिसा उत्तर निकरि सोहत, मंदगति दरसात॥
कार्य साधत बुद्धिमान जु, वक्र¹ सीधे धाय।
पकरि कटि कर पिय तिया जनु, हँसत दंत दिखाय॥

[१०]

कहुँ संग वहतो वारि सिकता², विमलता³ न दिखात।
नीच-संग पुनीत नीचहु, मति विवेक भुलात॥
शिला-स्वच्छहु शैल त्रिच जहँ, सोह निरमल नीर।
रहत शुद्ध सुसंग मैं बुधि, लहत शांति सुधीर॥

[११]

सरित-तट-तरु वैठि चातक, दिखत ना जल ओर।
मेघ-दिसि मुख खोलि जाँचत, बुंद हित करु सोर॥
शम-दम-परायन संयमी, रखत वृत्तिंनि⁴ बाँधि।
छँाड़ि सब यक प्रभुहि बिनवत, जगत जाल उपाधि॥

---

(१) तिरछा, (२) बालू, (३) निर्मलता, (४) वासनाएँ।

[१२]

पानि पीवैं आय पक्षी, जात फिरि उड़ि डार।
स्वार्थ अरथी दिखत ना पुनि, सधि गयो जब कार॥
यक पाँव ठाढ़ो बक[१] बरोबरि, बनो ध्यानी सिद्ध।
त्याग-रूप बनाव कपटी, मन धरा[२] धन बिद्ध[३]॥

[१३]

नदी बीच सिवार राजत, जात ना बहि धार।
रोग जीरन भयो तनु जनु, नसत नहिं उपचार[४]॥
चिकनि माटी पंकहू[५] जहँ, जमत जल बिच जोर।
बुद्धि जिनकी दोषयुत तहँ, दुष्ट पावत ठोर॥

[१४]

कहुँ झरत झरना शैल बिच, करत शब्दहु घोर।
बोल बोलत ऊँच तबहीं, मान मन महँ जोर॥
मिलत सरि गंभीर बहि जल, होत नहि रव[६] सोर।
शांति पावत जगत महँ जन, चलत जब प्रभु ओर॥

---

(१) बगुला, (२) पृथ्वी, (३) फँसा हुआ, (४) दवा, (५) कीचड़, (६) शब्द।

[१५]

परस वारि सपुष्प पल्लव, लगे तरुवर फूल।
शिष्यगण सिर नवत गुरु कौं, सुखद मंगल मूल॥
बैठि पशुगण छदनें-छाया, लहत सुख सब भाँति।
सुकृत-जन ढिग मुदित सबही, होत चित्त प्रशांति॥

[१६]

पुष्प झरि तरु बहत जल महँ, निकरि जात सुदूरि।
दान देत सुपात्र जन लह, पुन्य जन्मन भूरि॥
काष्ठ तृन बहि परत धारा, लगत तीरहु जाय।
साधु-संगति त्यागि पापी, दौर विषयनि धाय॥

[१७]

बसत मुनि गिरि-शिखर पै जो, अति उतंग महान।
जल हेत उतरत निम्नें-तल-सरि, करत प्रभु का ध्यान॥
धन धरा अरु धनों जन जो, त्यागि दीन्हो धाम।
असनें बसनहु उनहु चाहिय, यदपि मति निष्कांम॥

(१) वृक्ष, (२) नीचे, (३) स्त्री, (४) भोजन, (५) कपड़ा, (६) इच्छा-रहित।

[१८]

मीन जल गंभीर-तल बस, दिखत भूलि न तीर ।
जरंठ[1] निरबल दूरि रहतो, चलत नहिं जन-भीर ॥
उछरि ऊपर वायु सेवत, निमिष[2] महँ जल जात ।
संत-संगति बैठि छन फिरि, जगत-जाल सुहात ॥

[१९]

स्वच्छ सीतल सलिल मधुरहु, पियत आनँद पाव ।
बसत मुनि जन तरनि-तट जहँ, चरित हरि नित गाव ॥
पथिक थकि तरु निकर छाया, परे प्रमुदित तीर ।
सुकृत-जन लहि स्वर्ग-सुख जनु, होत शांति सुधीर ॥

[२०]

परत जल विच भँवर घुमि घुमि, धार वेग बिलाय ।
कितिकि संका उठत मन महँ, छनहिं बुधि बिनसाय ॥
बालु-कण सब वारि पूरन, आद्र तीर लखात ।
सलिल सूखत उड़त इत-उत, प्रकृति भाव न जात ॥

[२१]

गिरि-कगार उदार जन सम, खड़े नभ दिसि देख ।
मुदित धोवत चरन सरिता, तीय पति जनु लेख ॥

(१) बूढ़ा, (२) पल-मात्र ।

निवस कंदर खोह दरि दुरि, भालु बाघ सक्रोध।
सलिल पीवत शांति पावति, साधु करु जस बोध ॥

[२२]

करत सीतल पौन परसत, होत त्यहि गुन धाय।
देत धन धनवान दुखियन, चित्त चिंता जाय ॥
वारि बिच पनडुब्बि[1] प्रबिसत, शिशिर शंकहु नाहिँ।
व्यसन विषयी नाहिँ छोंड़त, सिखव विधि चह ताहि ॥

[२३]

बैठि नावन नारि नर नदि, करत पार अनंद।
सुकृत रत्त सदा सज्जन, नास कर दुख द्वंद ॥
लोह है बहु लाग तरनी, डुबत जल बिच नाहिं।
नाम रसना रटत निज जब, कछु न पाप जनाहिँ ॥

सार छंद

[२४]

बिहरत बन बिच सरिता-तट सब, सुखी नारि-नर-वृन्दा।
रघुवर सँग हम कहत बसब नित, चह चकोर सुचि चंदा ॥

(१) जल के निकट रहनेवाला लम्बी चोंच का पक्षी-विशेष।

लौटि साँझ लहि राम दरस भल, होत मुदित मन माहीं ।
अवधि बिताय अवध पुर जाबै, रवि सँग रश्मि पराहीं ॥

वशिष्ठ-रामचन्द्र-संवाद

सार छंद

[२५]

अवसर पाय राम गुरुवर सों, बिनय विनीत बखानी ।
उभय लोक सुख नीति नाथ की, सदा रहत जग जानी ॥
चहिय भरत अब अवधहि लौटन, नगर सून करि आये ।
श्री विदेह अरु नृप समूह सब, बसत इतै दुख पाये ॥

राज-कुल-कामिनी

[२६]

चली कबौं नहिँ पाँव एक धरि, देहरि नाँघि सयानी ।
सो भटकत वन विजन भयावन, रघुकुल की महरानी ॥
जननि कष्ट जो सह्यो आय इत, दिखत महा भय लागै ।
राजमराली त्यागि मानसर, कहूँ तलैयन रागै ॥

[२७]

निकरि निकेत न पग मग दीन्हो, बसत सदन सुखदाई ।
लूक जलाक तलफि सहतीं सब, कुल-कामिनि इत आई ॥

षटरस खाती रहीं सबेरे, शाक अबेर न पावैं।
सोवत सुखद सेज सुंदरि सो, कठिन मही कस भावैं ॥

बालक

[२८]

भोले मुख गभुआर बाल गन, वन बीहड़ बिच आये ।
कहाँ कलेऊ कहाँ अन्न इत, मिलत न इन हित धाये ॥
ठुनुकि कहैं मातन सों सबहीं, भूख लगी कछु देवो।
सुनि म्वहिँ दुख जस होत नाथ तस, दसा मोरि लखि लेवो ॥

वृद्ध

[२९]

जीर्ण-शीर्ण तनुक्षीण वृद्धजन, उठत जु लकुटि सहारे ।
डगमग चलि पग धरत सुमग वे, सब बिधि सों मन हारे ॥
तबौं प्रेम मम पुष्ट हिये ते, चित्रकूट चलि आये।
देखहु कस सनेह इनके मन, मम दिसि भलि टकि लाये ॥

विप्रवृन्द

[३०]

पूज्य पुनीत विप्रवर-पुंजहु, सरबस-त्यागी सोहैं ।
निसिदिन निरत विरत मति तिनकी, शम दम संयम जोहैं ॥

सत-चित-सुख लहि दूरि भयो दुख, पास वासना नाहीं ।
समुझत धरम-मरम भल भाषत , जन सत करम कराहीं ॥

[३१]

सविधि सधत नहिं नित्य कर्म वन, मम हित बहु दुख पावैं ।
अनमन सुत लखि जननि न रुच कछु, व्याकुल जस दुखि धावैं ॥
देव दबत ज्यहि माया कौं नित, इन लखि दुरि भगि जावै ।
सेवहुँ तिन पद जन्म अनेकन, तबहुँ तोष नहिं आवै ॥

सरदारगण

[३२]

※ये उदार सरदार सदा जिन, समर कमर कसि ठाढ़े ।
अथवत सूर साँझ संयोगहु, तबौं सूर रन बाढ़े ॥
अमर होन हित मरन चहत नित, मृत्यु मीत ते लेखैं ।
तिय बित रत न, जीत हित जीवत, सुरपति तिन मुख देखैं ॥

※ 'विचित्रालंकार'—जिस फल की इच्छा हो उसके प्रतिकूल यत्न करना विचित्र-अलंकार कहाता है । यहाँ पर अमर होने की तो इच्छा है, किन्तु उसके लिये मरना चाहते हैं ।

प्रजा

[३३]

प्रजा प्रेम कौं बरनि सकौं कस, सरवस त्याग सुहाये।
पशु परिजन धन वनिज खनिज निज, जहँ तहँ छाँड़ि सिधाये॥
कस ह्वै सकत उरिन इन सों मैं, कष्ट अनेक उठाये।
अस कछु करहु जायँ अपने घर, वन बसि बहु दुख पाये॥

वशिष्ठ

रोला छंद

[३४]

बरजि सकै कस सिन्धु, नदिन कौं दौरि मिलैं त्यहि।
कोकिल कब रह मौन, मधुप[1] गुंजत सौरभ[2] लहि॥
तुम्है छाँड़ि कहँ जाइँ, ठाम कौनहु दूसर जग।
इत उत नभ मँडरात, फेरि लौटत महि-तल खग॥

[३५]

तुम्हैं छाँड़ि क्यहि लगै नीक, अस मूरख को जग।
कर-गत मुकता[3] त्यागि, जात इत-उत गुंजा[4] लग॥

(१) भौंरा, (२) आम, (३) मोती, (४) घुँघुची।

आइ लौटि कस जाइ, शांति पावत तव ढिग सब।
सरिता सिन्धु समात, होत है प्रमुदित थिर तब॥

[३६]

मधु[1] माधव[2] को छाँड़ि, जाइ क्यहि ढिग वसंत कहँ।
पान न कर मकरंद[3], फूलि अरबिंद[4] रहे जहँ॥
पवन प्रसून[5]-सुगंध, न लेइ बहै वहि लै कस।
वृक्ष रहैं कहुँ हरे, मूल नहिँ गहत जहाँ रस॥

[३७]

लखत मातु शिशु दौर, उँमगि हिय प्रेमपूर मन।
चूमि लेइ सुत गोद, मुदित जननी पुलकित तन॥
सर-सरोज[6] सब देत, खोलि दिनकर लखि हिय-दल।
तुमहिं छाँड़ि कस जाइँ, बँधे ये नेह-रज्जु भल॥

[३८]

चहौ जौन सो करौ, रोंकि को जन तुमकों सक।
कौतुक[7] तव अवलोकि, लोक-पति सुर विधि शिव थक॥

---

(१) चैत्र मास, (२) वैशाख मास, (३) फूलों का रस, (४) कमल, (५) फूल, (६) कमल, (७) तमाशा।

जानि जात जग भेद, भक्ति जो नर तव जान्यो।
करौ वहै अब काज, राम जो मन अनुमान्यो॥

चित्रकूट से पयान

[३९]

लीन्ह सुमंत बुलाय, भरत जनकहि लै आवहु।
तिन सँग बैठि विचार, करत कवि गुरुगुन गावहु॥
निश्चय करि सब काज, चलन मुनि आज्ञा दीन्हों।
व्याकुल भे नर नारि, पाय पारस छिनि लीन्हों॥

[४०]

उदयाचल रवि उदित, मुदित दिन मैं प्रकास गहि।
थिर न रह्यो तहँ छनहूँ, चल्यो पश्चिम निज मग गहि॥
चित्रकूट करि सून, गवन कीन्हे पुरवासी।
प्रभु-मन लै निज साथ, चले दरसन नित आसी॥

वशिष्ठ-शत्रुघ्न-संवाद

रूपमाला छंद

[४१]

कहत गुरु शत्रुघ्न सों मग, सुनहु प्रिय मम लाल।
भार सबही पर्‍यो तव सिर, लखौं सबहि बिहाल॥

रानि परिजन और पुरजन, प्रजा मंत्री जौन।
राउ-राम-वसंत बिछुरत, बुद्धि-पिक भइ मौन॥

[४२]

लागि कोंपल मृदुल कलिका, कसक रस बिनु फूल।
सिँचन तरुवर चहिय विधि सों, डारि पानी मूल॥
राम लक्ष्मण भरत सीता, निरत धर्म पुनीत।
करहु रत्ता जो न उनकी, कस निबाहैं नीत॥

[४३]

भरत जब लौं कुसल सों हैं, कुसल जानो राम।
करत तप भल भरत तब लौं, कुसल कौसल ठाम॥
कुसल कैसे बिनु प्रबंधहि, सो न बिनु बुधिवान।
बुधि कहाँ बिनु स्वस्थ-चित्तहु, कौन स्वस्थ दिखान॥

[४४]

निज दुःख को सब दुःख समुझत, राम विरह अधीर।
राम दुख को दुःख समुझौ, अहो तुम मतिधीर॥
चहत सुख को कौन जग नहिँ, धर्म सुख सुख केर।
जौन जन सुख धर्म समुझत, सुखी होत सबेर॥

[४५]

धर्म पालन करत जो जन, हरत भव दुख जन्य ।
बनत कारण धर्म-पालन, होत सब सों धन्य ॥
नाव-गुन उतराव जल महँ, खेउ केवट ताहि ।
सुम-सुगंध-सुहावनी-थिर, पवन वितरत जाहि ॥

[४६]

देहु अवसर भरत को तुम, करैं व्रत हित राम ।
राजि लेहु सँभारि सब विधि, सधैं तब सब काम ॥
यदपि कोमल-कमल मुख तव, कहत सकुचौं लाल ।
तदपि-तेज-प्रताप युत जनु, अहौ दिनकर-बाल ॥

[४७]

जोरि कर रिपुदमन बोले, नाथ आज्ञा जौन ।
करब त्यहि सिर नाय सब विधि, अन्य रक्षक कौन ॥
खींचतो जब अश्व रथ को, चलत चक्र सुभाय ।
गगन में फहरै पताका, पवन-बेगहि पाय ॥

[४८]

धार-वेग-प्रभाव जल लहि, उमड़ि बहतो जोर ।
पाइ पावस साथ नीको, बरस नभ घन घोर ॥

सुरभि सौरभ पिक प्रगल्लभ, हैं जहाँ रितुराज।
शिशु को न भय पितु-अंक में, लहत सब सुख-साज ।।

[४६]

नाथ हैं जहँ साथ मेरे, सिद्ध कौन न काज।
संग ऊषा सूर्य सोहै, कस न तम तहँ भाज ।।
प्रजा जननी पूज्य भ्राता, होंय जस संतुष्ट।
करब सेवा तौन सब विधि, नेकु होय न कष्ट ।।

[५०]

शीश चूमि सु फेरि कर अँग, कहत गुरुवर बैन।
निशि निशाकर पाय हरषित, हरित रँग ज्यों नैन ।।
लह्यो तैसे वचन सुनि सुख, भई संका दूरि।
अवध अवधि बिताइ कै फिरि, लहैं आनँद भूरि ।।

रोला छंद

[५१]

पहुँचि अवधपुर भरत, सेन रिपुदमनहिँ दीन्हो।
शुभ मत देत सुमंत, तिन्हैं मंत्री बड़ कीन्हो ।।
धुरी-धर्म, रथ-देह, वाजि-मन, सारथि गुरु करि।
त्यहि पर सबै चढ़ाय, चल्यो पादुका शीश धरि ।।



माण्डवी से भरत का विदा माँगना

(पृष्ठ २३१, छन्द २)

चतुर्दश सर्ग

राज-दम्पति—भरत-मांडवी-संवाद

रोला छन्द

मांडवी

[१]

भरत गये निज भवन, जहाँ मांडवी बिराजै।
देखि छकित मन होत, स्वर्ग-पति-सदनहु लाजै॥
रतन जतन सों लगे, भीति चमकत तम नहिं तहँ।
मनो ज्ञान के उदय, भयो परकास हिये जहँ॥

[२]

प्राणनाथ को देखि, हरखि पत्नी पद लागै।
हाथ जोरि मृदु-बानि, कह्यो भरि हिय अनुरागै॥

उदय भयो मम भाग, नाथ गमने दासी पहँ।
कस न चकोरी मुदित, होत अवलोकि चन्द्र कहँ॥

[३]

बड़भागिनि मैं अहौं, भइउँ प्रभु-पग की दासी।
पुन्यवान ही बसत, गंग-तट सेवत कासी॥
सकुचौं पूछन चहौं, कसक सब काज सँभार्यौ।
राज्य-भार कौं थाँभि, विरति-रत होन बिचार्यो॥

[४]

मरु-थल सुरसरि साथ, कसक होवै अवनी-तल।
कज्जल बहि सरि मिल्यो, सकत रहि कस तहँ सित जल॥
ज्वालामुखि सम राज्य, सदा भीतर बहु भभकत।
निश्चय नहिं पल कौन, ज्वाल-माला कब लपकत॥

[५]

ऐसो लै कर काज, लाज तपसिन कस राखौ।
धर्म-मार्ग-संकीर्ण, विघ्न बाधा जहँ लाखौं॥
माया-तम जग बीच, सत्य-पथ-श्वेत सुहायो।
विपथ तनिक मँह होत, गर्त्त गिरि विषय समायो॥

[६]

नव-प्रपंच-रत बुद्धि, राज-कारज नित रहती।
व्यथा एक नहिं दूरि, ठाढ़ि दूसरि मुख तकती॥
जो निशीथ[1] उठि चलत, कसक लखतो तहँ सूरो।
पैठि नीर गंभीर, वसन कस रहतो भूरो॥

[७]

विमल अकास प्रकास, छपाकर[2] छवि छिति छायो।
पवन घेरि घन लाय, तुरत शशधरहि छिपायो॥
चन्द्र-चाँदनी नहीं, तहाँ तम चहुँदिसि फैलो।
उदय सतोगुन हिये, करत रज तम अति मैलो॥

[८]

कीन्ह ढिठाई बहुत, नाथ सों करि अस बातैं।
क्षमा करिय यह जानि, रखति हौं ना मन घातैं॥
सागर अगम अपार, देखि को नहिं भो व्याकुल।
इत दावा उत सिंह, लखत धीरहु हो आकुल॥

---

(१) आधी रात, (२) चन्द्रमा।

भरत

[६]

भरत निकट बैठाय, चन्द्रमुखि आदर दीन्हो।
धन्य अहै सो नारि, धर्म-मारग जो चीन्हो॥
धन्य पुरुष कुल धन्य, जहाँ कुल-कामिनि ऐसी।
धन्य मातु पितु जन्यो, सुता कल कमला जैसी॥

[१०]

समर सहायक वीर, नाव बूड़त जस पायो।
निर्धन धन जल तृषित, थके रथ-यान सुहायो॥
तपन-ताप सो व्यथित, पाय हिम-जल जस हरष्यो।
प्रया-वचन शुचि मेघ, मही-मन-मम तस बरस्यो॥

[११]

जल थल दोनौं भिन्न, अहैं यक दूसर के अरि।
पृथ्वी राखत तिन्हैं, आपु महँ बिलग धर्म धरि॥
राति दिवस कौं थापि, काल कारज निज करतो।
करहुँ राज तप साथ, तनिक मन महँ नहिँ डरतो॥

[१२]

चक्र-चारु ना चलत, तुरँग तिनकौं लै चलतो।
असि कस काटत शीश, वीर जब हाथ न धरतो॥
उड़ै कसक नभ चंग, रज्जु जो जन नहिँ थाँभै।
जहाँ नाथ सँग साथ, लोक परलोकहु लाभै॥

[१३]

यदपि अहैं प्रभु दूरि, तबौं मम हिये समाने।
जनिहैं दुख सुख जौन, परो जग अहैं सयाने॥
नीति-रीति निर्बाहि, धर्म मरजाद निरत करि।
सफल करैं सब काम, आपु मम दुख निज शिर धरि॥

[१४]

घन अकास बड़ दूरि, कलापी कलप अवनि पर।
कोटिन कोसन ऊँच, चकोरी लहत चन्द्र-कर॥
कच्छप बहि जल दूरि, सेव अंडन नित सुधि करि।
सब विधि समरथ राम, कसक रहैं ना दुख हरि॥

[१५]

भार पर्‍यो मम माथ, साथ प्रिय अब तुम देवो।
दया दान सन्मान, मातु-सेवा-पद लेवो॥

दीन-दुखी-दुख हरत, नृपति सो निज दुख हरतो।
पावत फल जन तौन, रचि रंभा जल भरतो॥

[१६]

जौन कह्यो तुम बात, सत्य माया-बल भारी।
स्वारथ बीच नचाइ, रखत जग सब नर नारी॥
निज सुख जन करि चाह, दुःख दुसरन नित देवैं।
उछरि नीर नदि गिरत, घेरि दुख तिन तस लेवैं॥

[१७]

माता स्वारथ लीन, भई त्यहि मोह दबायो।
लोभ साथ लै क्रोध, सबै सुख सबिधि नसायो॥
ताते दृढ़ करि लेहु, रखौ ना मन कछु आसा।
पर-सेवा निज धरम, मानि करु प्रभु-बिस्वासा॥

[१८]

जैसी माया प्रबल, नचावति सुर मुनि ज्ञानी।
तैसी हरि की कृपा, भरावति त्यहि सों पानी॥
सर सरिता जल जात, सिन्धु सो उमड़ि भुलानो।
कुंभज गंडूषि धरत, अगम जल-पुंज सुखानो॥

(१) हाथ का छोटासा चुल्लू—अर्थात् अँगुलियों को सिकोड़ कर हाथ की हथेली में जल थामना।

[१९]

राज-धर्म अरु विरति, भिन्न नहिँ तिनकौं जानो।
एक एक सों बढ़ो, उभय परमारथ सानो॥
जौन भूप रत नीति, करत चिंता दूजो हित।
सहै दुःख उठि भोर, देत नव-सुख परजन नित॥

[२०]

सो न तपस्वी कसक, तपत पर-हित जाको मन।
पंकज सम रहि दूरि, भूरि भोगन कौं ना गन॥
पर-सुख निज-सुख जानि, ताहि हित चिन्तित होवै।
कबौं न स्वारथ देखि, झूठ कहि सत्यहि खोवै॥

[२१]

भोगत भोग न आपु, प्रजा-भोगन हित धावैं।
सदा बिचारत यत्न, कौनि विधि सुख जन पावैं॥
शत्रु-दृष्टि सों तकत, निबल जन जौन सतावत।
दुखी दीन सुख हेतु, देन धन विद्या भावत॥

[२२]

करब राज्य यहि भाँति, प्रजा पावैं सब सुख नित।
नृपति-अंश-सुख-भोग, देब दुखियन दीनन हित॥

शम दम सों मन साधि, व्याधि बिषयनि दूरी करि।
अवध अवधि भरि रहब, रूप-राजा-तपसी धरि॥

मांडवी

[२३]

धन्य नाथ सुख दीन्ह, कीन्ह संशय सब दूरी।
भयो मोहिं बिस्वास, आस ह्वैहै मम पूरी॥
करिहौं मन चित लाय, जौन कारज प्रभु दीन्हो।
प्राणनाथ निरिंचत, करहिं जो मन दृढ़ कीन्हो॥

भरत

[२४]

चले भरत तब कह्यो, लख्यो प्रिय लखन-प्रिया को।
प्रीति-पात्र पति, महा पियारी रही सिया को॥
आजु अकेली परी, मनो सारसि धंव-हीना।
समुझि दुःख अति होत, भयो दिनकर-कुल छीना॥

(१) पति।

योग-रत भरत

[३०]

* वृत्तिन करत निरोध, बोध निज आतम होवै।
वाह्य-दृष्टि कौं खींचि, राम-पद अंतर जोवै॥
सदा नाम आधार, सुरति सँग मन करि लीन्हें।
जगत होत नित काह, नाह वनि तबौं न चीन्हें॥

[३१]

† पंच-वासना-भूमि, अहै अंतहकरनै बिच।
मूढ़, चिप्त, विचिप्त, एकाग्र विरुद्धहु मन खिँच॥

---

* वृत्तियों के नष्ट होने से आत्मबोध होता है। जब बाहरी पदार्थों से दृष्टि खींच ली जाती है, तब हृदय के अन्तस्तल में रामजी के चरणों का ध्यान किया जाता है और उस ध्यान का आधार केवल राम-नाम है, जो प्रभु-स्मरण के साथ मन को भी अपने साथ लगाये रहता है। भरत, राजा होते हुए भी, संसार में क्या हो रहा है—नहीं जानते।

† योग-दर्शन में अन्तःकरण का वर्णन पंचभूमि में किया है। "मूढ़" भूमि वह कहाती है कि जब मन, बिना लगाम के घोड़े के समान, इधर-से-उधर चंचलतापूर्वक भागता रहे। जब मन किसी कार्य में लग कर बुद्धि की सहायता से किसी लक्ष्य को साधने के लिये विचार करता है, तब उसे "क्षिप्त" भूमि कहते हैं। जब

त्रिपुटि ज्ञान लय होत, जबै संतत समाधि लह।
बल-तुषार जमि गयो, तरल जलहू नहिं तब बह ॥

अन्तःकरण कभी सुख, दुख, आलस्य, तमोगुण, रजोगुण की वृत्ति से अलग होकर सूना हो जाता है, तब वह सत्वगुण की भूमि "विक्षिप्त" कहाती है। सांसारिक मनुष्य इस भूमि को थोड़ी देर के लिये कभी-कभी प्राप्त करते हैं। जब इन तीनों से मनुष्य का चित्त अलग हो और ध्याता, ध्यान तथा ध्येय—इनके अतिरिक्त किसी प्रकार की वृत्ति ही न उठे, तब उस दशा का नाम "निरुद्ध" है। इसी भूमि के प्राप्त करने के निमित्त शास्त्रों में उपाय कहे हैं। जब चित्त स्वाभाविक वृत्तियों से अलग हो जाता है, तब गुरु उपदेश द्वारा साधन करने से "एकाग्र" भूमि प्राप्त होती है। प्रथम तीन भूमियाँ तो सर्वसाधारण जीवों में होती हैं; किन्तु शेष दो भूमियाँ केवल योग द्वारा प्राप्त होती हैं। एकाग्र दशा में त्रिपुटी रहती है; परन्तु निरुद्ध भूमि, त्रिपुटि तथा तटस्थ-ज्ञान का लय हो जाता है। उसी अन्तिम निरुद्ध भूमि में समाधि की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। निरुद्ध भूमि उदय होने पर योगी को प्रथम समाधि की पूर्णता प्राप्त होती जरूर है; परन्तु यहाँ सूक्ष्म रूप से त्रिपुटि की आभा किञ्चिन्मात्र रहती है। इसके पश्चात् जब महासूक्ष्म त्रिपुटि सत्ता भी पूर्णतः नष्ट हो जाती है तब विकल्प-रहित स्वरूपावस्था की स्थिति होती है। तब उस अवस्था को "असम्प्रज्ञात" समाधि कहते हैं। इस अवस्था में संस्कार का लेश तक भी न रहने से इसे "निर्वीज" भी कहते हैं। और, जब उसमें विवेक का उदय होता है, तब उसकी "धर्ममेघ" संज्ञा होती है।

[३२]

* मन बुधि चित अहँकार, कहत हैं अन्तः करनहिं ।
ठहरत थिर नहिं एक, ताहि योगी जन बरनहिं ॥
मति विचारि सत असत, चित्त संस्कारहु राखत ।
उदय भयो अहँकार, आपु कौं दूसर भाखत ॥

---

* अन्तःकरण के तीन भेद हैं—मन, बुद्धि और अहंकार। किसी किसी ऋषि ने चार भेद वर्णन किये हैं और चित्त को भी मिला लिया है। ये अन्तःकरण के भेद-रूप हैं। जब अन्तःकरण एक विषय से दूसरे विषय में लगातार चंचलता-पूर्वक दौड़ा करता है और अपना लक्ष्य-स्थापन नहीं कर सकता, तब उस भेद को "मन" कहते हैं। जब वह मन किसी एक पदार्थ में ठहर जाता है और ज्ञान की सहायता से सत् असत् के विचार में लग जाता है, तब अन्तःकरण की वह प्रकाशमान अवस्था "बुद्धि" कहाती है। "अहंकार" अन्तःकरण के उस भाव को कहते हैं, जिस भाव से अन्तःकरण अपने-आपको एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगता है। अन्तःकरण में उस अहंत्व के, जिसकी उत्पत्ति से चैतन्य अविद्या में फँसा था, विस्तार का नाम ही "अहंकार" है। "अहंकार" स्वतन्त्र रूप से सर्वदा सृष्टि किया करता है। मतांतर में चित्त को भी अन्तःकरण की दशा माना है और सर्व संस्कारों का आश्रय चित्त में वर्णन किया गया है। चित्त-गत संस्कार ही स्मृति का उदय करके जीव को कर्म-चक्र में प्रविष्ट करता है; परन्तु योग-दर्शन में चित्त को मन का ही अन्तर्भाव माना है।

[३३]

†क्लिष्ट औरु अक्लिष्ट, रूप वृत्तिन धरि दीन्हों।
प्रथम करत अघ उदय, द्वेष हिंसा उर लीन्हों॥
दया धरम बैराग, हृदय बिच दूसर लावत।
राका करत प्रकास, अमा-तम दिसि जनु धावत॥

[३४]

*साधन अरु वैराग्य करत, अभ्यास जबहिं जन।
वृत्तिन करत निरोध, बोध हिय होत मुदित मन॥

---

† यद्यपि त्रिगुण-भेद से अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनन्त हैं; परन्तु सूक्ष्म रूप से उन सबों को पाँच प्रकारों में विभक्त किया है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनको भी दो रूपों में बाँटा है—अर्थात् क्लिष्ट और अक्लिष्ट। हिंसा, क्रोध, ईर्षा, कपट, परद्रोह आदि भावों को उत्पन्न करनेवाली वृत्तियों को "क्लिष्ट" कहते हैं; और वैराग्य, दया, धर्म, परोपकार, सरलता और शांति के भाव जिन वृत्तियों से उत्पन्न हों, उन्हें "अक्लिष्ट" कहते हैं।

* जब तक वहिर्बंधन शिथिल न हों, तब तक कोई प्राणी अंतर की ओर चल नहीं सकता। यदि बंधन शिथिल भी हो जायँ, तो विना चलने की शक्ति के अन्तर की ओर कैसे अग्रसर हो सकता है? अतः चित्तवृत्ति-निरोध करके मुक्ति प्राप्त करने के लिये वैराग्य और साधन दोनों की आवश्यकता है। सुतरां, साधन रूप में ईश्वर के राम-नाम का जप करे और वैराग्य-प्राप्ति के लिये संसार की वस्तुओं से मन को हटावे। तब यह मुक्ति की ओर बढ़ने में समर्थ होगा।

मुक्ति ओर यक बढ़त, कढ़त जग बंधन दूसर।
द्विज न उड़त यक पंख, गिरत कहुँ नदि वन ऊसर॥

[३५]

† बाहर-बंधन शिथिल, न जब कस अंतर विकसै।
गमन-शक्ति बिन काह, शिथिल-बंधन जन बकसै॥
जपत सदा हरि-नाम, त्यागि जग की सब आसा।
जन्म मरन मिटि जात, रही नहिं मन कछु बासा॥

---

†समाधि के दो भेद हैं—एक 'सविकल्प' और दूसरा 'निर्विकल्प' जिसे 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' भी कहते हैं। सविकल्प समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—अर्थात् देखनेवाला, अनुभव की शक्ति, और लक्ष्य पदार्थ 'ब्रह्म'—इन तीनों का ज्ञान किसी-न-किसी रूप में रहता है। इसमें तर्क-वितर्क उठे, विवेक बढ़ता चले, तो उसे "वितर्कानुगत" अवस्था कहते हैं। और, यदि एकाकार विचार क्रमशः प्रादुर्भूत होते रहें और उसमें किसी प्रकार से तर्क का हिलाव न हो, तो उसे "विचारानुगत" अवस्था कहते हैं। 'निर्विकल्प' समाधिमें इन तीनों का किंचित् भान नहीं होता, वरन् उन्मत्त एवं स्तब्ध दशा योगी को प्राप्त होती है। उस अवस्था का नाम "ब्रह्म-कोटि" है। यदि भगवान की आज्ञा ऐसे योगी को लोकोपकारी कार्य करने की होती है, तो वह प्रभु-प्रेरणा से लोकोपकारक कार्य करता है; वह अवस्था "ईश-कोटि" कहाती है।

भक्त भरत

[३६]

सदा रहत हरि-ध्यान, ज्ञान नित नव छन छन बढ़ ।
उदय प्रेम जब भयो, नेह-रथ मन आपुइ चढ़ ॥
नव-अनुराग विवेक, कर्म-तम नासत मनि बनि ।
चरन-सरन धरि सुरति, विरति-मति भरत भई धनि ॥

[३७]

जड़ चेतन जो विविध, रूप जग बिच बहु बिलसत ।
सब मैं राम समान, तासु शोभा नित निरखत ॥
भली बुरी भव-लहर, उठत छोटी बड़ि जो कउ ।
कारन प्रभु ही आप, पवन सागर बीची स्वउ ॥

[३८]

भक्त न भटकत विकट, कटक जब भाव जात जग ।
प्रभु-मरजी त्यहि समुझि, लखत धीरज धरि नहिं ठग ॥
जल-प्लावन भूकंप, पवन परचंड पतन-पबि ।
रोग शोक दुख दाम, काम मन मोह रहत दबि ॥

[३९]

दासनि दरसत तनिक, न भय कहुँ जग बिच माहीं ।
जानत निज प्रभु बानि, करत रत्ता जन काहीं ॥
रोग रंकता घिर्‍यो, भिर्‍यो अरि दल गरबीले ।
राखि राम-बल निडर, तकत भागत सब जी ले ॥

[४०]

* भक्त द्वेष मन रखत, न भूलिहु जग जाला सों ।
आपुइ जरत पतंग आइ, दीपक ज्वाला सों ॥
यक दूसर कौं दाबि, लहर सागर बिच लेवै ।
पवन प्रबल ज्यहि साथ, विजय ताही कौं देवै ॥

---

* भक्तों के हृदय में स्वभावतः किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता। दीपक, पतंग को बुलाने नहीं जाता। वह स्वयं आकर अपने को भस्म करता है। इस तरह भस्म होने के समय दीपक में लौ उठती है और पतंग मर कर निकट पड़े रहते हैं। दीपक को इतनी अड़चन तो जरूर होती है। उसी प्रकार, भगवान जिन कामों को भक्त द्वारा कराना चाहते हैं, उनको वह करता है; लेकिन उनमें अहंता नहीं प्रगट करता, वरन् समझता है कि प्रभु की इच्छा इस कार्य को इस दीन द्वारा कराने की है और प्रभु-प्रेरणा-वश उसे यथोचित करता है। लहर एक दूसरे को समुद्र में दाबती हैं, लेकिन जिस लहर में पवन की थपेड़ जोर से लगती है, वही सर्वोपरि होती है। जिसको प्रभु सहाय करते हैं, वही श्रेष्ठ होता है।

[४१]

रसना रट हरिनाम, ध्यान-लागी समाधि भल ।
तन मन प्रभु के साथ, कहौ को विषय-पंथ चल ॥
† करम प्रबल-जल बाढ़, भक्त ढिग आइ जात जब ।
दौरि दया लै नाव, नाथ रच्छत सब विधि तब ॥

[४२]

जहाँ उदय रबि होत, तहाँ सब कछु भल देखै ।
जगपति कौं हिय वास, पास लह वस्तु बिसेखै ॥
प्रभु-गुन छाया झलक, भक्त-मन सब सुख दायक ।
छिति पताल नभ छिपत, न कछु जो जानन लायक ॥

[४३]

विविध वासना उठत, रुठत मन पुनि रुचि करतो ।
जिमि अलि-जल रुकि घुमरि, चलत धारा फिरि धरतो ॥
घोर तुषारहु नाम, करम-जल जमवत छन महँ ।
भक्त मुदित नित रहत, परसि प्रभु चरन-धूरि तहँ ॥

† जब कर्म-रूपी जल-बाढ़ भक्त को डुबाने लगती है अर्थात् उसे उनसे कष्ट मिलने लगता है, तब भगवान दयारूपी नाव को लेकर उसकी रक्षा करते हैं ।

[४४]

काम क्रोध मद लोभ, प्रवल नहिं दिखत हिये बिच ।
वृत्ति¹-तपनि जव नहीं, विषय जल कस भोगन सिंच ?
जंगल-माया काटि, नाम अनुराग नेम अँसि² ।
मानस कीन्हों विमल, वस्तु देखत जस की तसि ॥

[४५]

सत्य धर्म अरु क्षमा, विरति उपकार उपज तरु ।
प्रेम-वारि सों सींचि, हरित मति पल्लव दल करु ॥
अनुभव-कलिका³ फूल—विवेक लगे सतं⁴ डारन ।
मलय-पवन-सतसंग चलत, अलि-जीव विहारन ॥

[४६]

जग विचित्रता लखत, राम रूपै सब काहीं ।
उपज मोह नहिं भूलि, नेह लगि प्रभु पद माहीं ॥
तँरनि⁵ तरनि-तट⁶ लागि, मध्य सन्मुख जल दरसत ।
बीच-धार की लहर, कसक ताको तहँ परसत ॥

---

(१) वासना, (२) तलवार, (३) कली, (४) सत्वगुण, (५) नाव, (६) नदी का किनारा ।

[४७]

जन-मति जग-गति साथ, चलति बदलति रह जोरै ।
अचल[1] अचल[2] सम रहत, लगत रँग नहिं रहि ठौरै ॥
जौन विचारत बात, यथारथ अरथहु पावत ।
भक्ति-कुंजि धरि हाथ, नाथ जग-हाल बतावत ॥

[४८]

अष्ट सिद्धि नव निद्धि पाय, उन तन नहिं देखैं ।
दिनकर[3]-कर[4] अवलोकि, तामरस[5] तम कस लेखैं ॥
राज-साज सब साथ, लिहे आपुइ प्रभु घूमत ।
जो चाहत सो देत, 'लेहु औरहु' कहि चूमत ॥

[४९]

योगी रख इन चाह, भक्त सँग लागी फिरतीं ।
लेत न इनकौं आपु, राज, जन, सुत, धन, धरती ॥
तबौं फिरैं सब साथ, भक्त[6]-रंजन तिन देवैं ।
कहैं अहौं रखवार, नाथ सन्मुख धरि सेवैं ॥

---

(१) निश्चल, (२) पर्वत, (३) सूर्य, (४) किरणें, (५) कमल, (६) भगवान ।

[५०]

वृत्ति उठत हिय जोर, भगत प्रभु पद दिसि पाहीं।
नाम रटनि अरु ध्यान, वीच धेन्यहु त्यहि काहीं॥
कसक करैं फिरि जोर, गई जरि जड़हु ताहि जब।
भूनि जाय जो बीज, उठत नहिं अंकुर फिरि तब॥

[५१]

सदा दीन बनि रहत, तनिक अहँकार नहीं मन।
पुरइनि[2]-पात न ठहर, सरकि निकरत भल जल-कन॥
काम क्रोध मद लोभ, कहो कैसे तहँ दरसै।
जलधर नहिं आकास, कसक जल बूँदनि बरसै॥

[५२]

शुद्ध-हृदय जस होत, दिव्य-दृष्टिहु तस होवै।
दिखत सुनत सब बात, भूत[3] भाविंहु[4] भल जोवै॥
वचन-सिद्ध[5] परसिद्ध, सकल जन नित उठि बिनवत।
जगत-फिल्म के दृश्य, दयानिधि प्रभु पद दिखवत॥

(१) भागना, (२) कमल के पत्ते, (३) बीता हुआ समय, (४) आगे आनेवाला समय, (५) जो बात कहे वह सत्य हो।

[५३]

छोंड़ि जगत परपंच, लग्यो नित प्रभु चरनन मन ।
एक लोक को कहै, लखत चौदह भुवनहु जन ॥
रहत न छिपि कछु ठाम, धाम वीथी मन लेखै ।
चढ़त जौन गिरि शिखर, तौन चहुँदिसि बहु देखै ॥

[५४]

निशि दिन मन-अलि-भरत, राम-पद-पंकज सुख लह ।
छन छन नव अनुराग, मधुर मधु पियत मत्त रह ॥
तृप्ति तोष भइ सहज, वासना भूख न लावत ।
सुधा-पान जब कीन्ह, आन हिय वस्तु न भावत ॥

[५५]

राम-राज्य भल माँजि, विचार-छार मलि तमकत ।
मल-विमोह कौं काटि, प्रजा-जन-मन अति चमकत ॥
दिखत सबै सियराम, रूप हिय-दरपन माहीं ।
धन्य भरत रत-राम, हन्यो दुख बिरहिन काहीं ॥

राम-ध्यान-मग्न पुरवासी

सार छंद

[५६]

पुरजन-मन-चक निरत राम-शशि, लखि वियोग-निशि माहीं।
ध्यान-दृश्य अनुराग उदय-सुख, कविकुल बरनि न जाहीं ॥
करुनानिधि की करुन-किरनि जहँ, तन मन जन परकासै।
चरत धेनु धरि धीर दिखत जनु, बँधो वत्स निज पासै ॥

[५७]

घर पुर द्वार गली मग वीथी, खेत वाटिका वारी।
बाग बजार हजारन मुख सों, राम सुनत बलिहारी ॥
दूर नगीच अटा प्रासादहु, जहँ देखत तहँ छाई।
रघुवर-चरचा सुनत सुनावत, जनु सँग रहत सदाई ॥

[५८]

* चित्रकूट-मन बनो सबन कौं, लखन राम सिय पासै।
बिहरत रहत संग निसि दिन जनु, नहिं वियोग हिय बासै ॥

*पुरवासियों का मन मानों चित्रकूट है, जहाँ पर अहर्निश सीताराम निवास करते हैं। वे सब श्रीरामजी को अपने पास ही

जित अवलोकत राम लखत तित, मगन मोद पुरवासी ।
ज्ञान विराग विवेक उदय जब, निबसि करै का कासी ?

[५९]

युवा युवति अरु बाल बृद्ध सब, राम रूप अनुरागे ।
दिनकर-किरनि परसि सर पंकज, यथा फूलि सुख पागे ॥
परिजन जननी भाइ बंधु-अलि, सेवत सीतारामैं ।
उदधि बीच सब दिखत केवटहिं, लहरि उठत जब तामैं ॥

कौशल्या की पुत्र-वियोग-व्यथा

[६०]

सुत-वियोग सों व्यथित, कौसिला निसि दिन रोवै ।
दासिन कौं करि दूरि, भूरि अँसुवन मुख धोवै ॥
भूमि परी निश्चेत, राम सीता मन दुख गुनि ।
अहह बसत मैं भवन, पुत्र बिरमत वन बनि मुनि ॥

देखते हैं । इसलिये उन्हें वियोग-व्यथा नहीं सहन करनी पड़ती । जिस ओर वे देखते हैं, उसी ओर राम ही दृष्टिगोचर होते हैं । अतः रामजी के ध्यान के साथ वे सब सदा प्रसन्न रहते हैं ।

[६१]

प्रेम दयो निर्वाहि, त्यागि सुत, पति तनु त्याग्यो।
मैं अभागिनी हाय, धीर धरि नित दुख पाग्यो॥
गयो कंत सुरधाम, राम तुम बनहिं सिधारे।
कोउ न देखनहार, अहौं मैं कस मन मारे॥

[६२]

तुम तौ जानौ अहहुँ, सदन-सुख-सुलभ सहारे।
भई दशा जस मोरि, दिखै को बिना तुम्हारे॥
बिसन मोहिं लखि राम, धीर तुम धरत रह्यौ कब।
आजु गयो म्वहिं भूलि, भइउँ का मैं दूसरि अब ?

त्रिभंगी छंद

[६३]

मोरे प्रिय लाला, बिकल बिहाला, कसक हवाला, कहत बनै।
जस करम कमायों, फल तस पायों, दुख बहु धायों, छनै छनै॥
मम जीवन-तरनी, कस बैतरनी, तरत न तरनी, पठै तनै।
अब पार लगाओ, मोहिं बचाओ, दुरित दुराओ, कष्ट जनै॥

[६४]

पति सुर-पुर-वासी, तुमहुँ उदासी, वन वनवासी, फिरत रहौ ।
कस साथ न लीना, म्वहिं दुख दीना, तन मन छीना, विकल अहौं ॥
है कहँ तू लाला, त्वहिं नित पाला, भइउँ बिहाला, चलन चहौं ।
निज वदन दिखाओ, भरत जियाओ, देर न लाओ, तुम्है लहौं ॥

[६५]

सब गुन-आगर, जानकि-नागर, सतगुन-सागर, पुत्र सुनो ।
मैं मातु तुम्हारी, बिलपति भारी, कोउ न गुहारी, लगत गुनौ ॥
सब पुन्य प्रतापा, हरि-तप-जापा, दबि मम पापा, गये सबै ।
तबहुँ न तन प्राना, करत पयाना, मोह समाना, नीच दबै ॥

[६६]

हे दीन-दयाला, अतिहि कृपाला, प्रण-जन पाला, दुःख हरो ।
इन आँखिन रामा, लखुँ घन-श्यामा, अन्य न कामा, इहै करौ ॥
तुम दुखियन रच्छौ, होंय सपच्छौ, डरत न लच्छौ, जगत बिचौ ।
पति सुत-दुख पीरा, भइ हिय चीरा, अहौं अधीरा, दया जँचौं ॥

[६७]

श्रीदशरथ-रानी, महा सयानी, कहि अस बानी, मुरछि परीं ।
सब दासी दौरीं, भइ मति बौरीं, रानी औरीं, आइ डरीं ॥

तिय बिजन डुलावैं, जल मुख नावैं, चेत करावैं, रोय सबै ।
उठि उन बैठार्‍यो, आँखि उघार्‍यो, हेरि निहार्‍यो तिन्हैं तबै ।।

सुमित्रा का कौशल्या को समझाना

सार छंद

[६८]

पूज्य भगिनि तू सबहि सिखावति, धीर विपति दुख टारै ।
आपु भई अस व्याकुल सोचति, रखति न देह सँभारै ।।
दूजो समरथ कौन अहै जो, दृढ़ विचार मन धारै ।
कस न समझु निसि अवधि राम शशि, दुखी चकोरि निहारै ।।

[६९]

सत्य-निरत साधारण जनहू, सफल होत सब काजा ।
राम-धर्म-निधि पर-हित-चिंतक, क्षमाशील गुरु लाजा ।।
अवधि विते कस अवध न आवहिं, करहिं राज रघुनाथा ।
धर्म-वर्म जो धरत हिये महँ, नावत त्यहि सब माथा ।।

(१) कवच ।

कैकेयी का दुःख-सहन-हित धैर्य देना

[७०]

लखन-मातु समुझाय कौसिला, सावधान त्यहि कीन्हो ।
मृदुबानी कैकयि तब बोली, बोरि प्रेम भल दीन्हो ॥
भइउँ पराजित जब कुकर्म सों, प्रान तजन तब चाह्यो ।
पूज्य-बहिन तैंहीं समुझाये, फिरि न मलिन मन दाह्यो ॥

[७१]

जस दुख अधिक सखी तुम करिबो, तस मम सिर लग पापा ।
बढ़त नदी जल-बाढ़ पाय ज्यों, चढ़त कूल त्यों छापा ॥
कारन पुष्ट होत कारज सों, बुध अस मत नित सेवै ।
जितनो मेघ लेत नभ घनरस, तितनो सो महि देवै ॥

[७२]

दुखद-दुःख जो टिको हृदय-घर, मति-धन तब सब खोवै ।
चिंता चित्त चहूँ दिसि घेरे, विपति बीज नित बोवै ॥
जहाँ जात तहँ ताहि नसावत, साहस धीर भगावै ।
विपति परै तौ बुद्धिमान जन, कबहुँ न शोक जगावै ॥

---

(१) जल ।

[७३]

तजौ प्रान जो प्यारी सखि सहि, पति-वियोग सुत-प्रेमा ।
जीवित रही केकई का जग, कस न निबाही नेमा ?
मोहिं मृतक जब सुनहिं राम तब, कसक रखैं तनु प्राना ।
भरत जियैं बिन राम एक छन, करहिं कौन अनुमाना ?

[७४]

लखन शत्रुजित बिना भरत के, मृत्यु-मिताई ठानैं ।
उनके बिन तब राज-वंश कस, जीवन कौं सुख मानैं ॥
बिना राज-कुल प्रजा जिए कब, प्रजा बिना कहँ राजै ।
राज बिना जनता नसि जावै, बिन जन का जग काजै ?

[७५]

दुःख अकेलो जारत हिय कौं, स्वारथ-हानि निहारै ।
साहस सहित सहै जो दुख को, कष्ट न सो तब धारै ॥
उपकारी जन ऐसो करते, पर-हित दुख नित सेवैं ।
सुख उमड़त उन पै चहुँदिसि सों, तबहुँ न वे त्यहि लेवैं ॥

[७६]

पर-उपकार सुभाव सहज तव, दुखसहु पर-हित काजै।
नहिं तौ अवध अवधि के पहिले, नसिहैं लै जन राजै॥
जितनो सहै दुःख पर-सुख लगि, तितनो वह सुख पावै।
ग्रीषम भूमि तपावत अति तहँ, मेघ बरसि महि तावै॥

[७७]

राम गये बन तज्यों न प्रानहिं, कष्ट सह्यों बहु भाँती।
पति-परलोक-पयान-समै मैं, जरी न जरि मम छाती॥
सबकौं धीर तोष तैं दीन्हे, कस न धरहि तिन थाती।
जियन हेत हम कीन्ह प्रतिज्ञा, करति झूँठ अघ लाती॥

[७८]

स्वर्ग न आदर देइँ राउ त्वहिं, सुत अकेल करि जाती।
राम विकल सुनि होंय मरन तव, बनत आपु सुतघाती॥
जीवन-व्रत करि प्रण न पालु जो, अधरम होत सँघाती।
दुख सहि जियब सुखी सब करिबो, चहिय तोहिं बहुभाँती॥

कौशल्या का कृतज्ञता-ज्ञापन

[७९]

धीरज धरि तब कहति कौसिला, धन्य बुद्धि तव मान्यों।
करिहौं वहै जौन सिख दीन्हो, जियब राम-हित जान्यों॥

सखी रही सुख मैं प्रिय नित तू, दुखहू ना अलगानी ।
तैं तरु, लता अहौं मैं सजनी, मम-अधार महरानी ॥

गुरुपत्नी-आगमन

वसंततिलका छंद

[८०]

आईं तवै गुरु-प्रिया तप रूप धारे ।
सोहैं सुअंग सित-वस्त्र विशुद्ध सारे ॥
कै शारदा शरद हंसिनि गंग सी है ।
कै विप्र-कीरति सुधाधर-सी बसी है ॥

[८१]

कै सत्व[1] सों रज[2] पराभव[3] पाय मोह्यो ।
शोकार्त देखि परतोष-प्रयास[4] जोह्यो ॥
कै सत्य सोधि मग नीति निकेत आई ।
कै शांति सोहत सुबुद्धि-विशुद्ध पाई ॥

[८२]

रानी उठीं पग पखारि प्रणाम कीन्हो ।
लै जाय संग तिन आसन दिव्य दीन्हो ॥

---

(१) सतोगुण, (२) रजोगुण, (३) पराजय, हार; (४) यत्न ।

कीन्ही दया हम अनाथ दुखीन पै जो।
मानो सतप्त-महि मैं बरसा भई सो॥

[८२]

बोलीं अरुंधति महा मृदु वाक्य ऐसे।
मानो सुघोष घन सों जिय भेकि[1] जैसे॥
ज्यों कोकिला मधुर बोलति मान पावै।
त्यों तेज-पुंज तिय के शुचि शब्द भावै॥

[८३]

आदित्य चन्द्र कहि सत्य दुखी भये हैं।
घेरे तिन्हैं गगन राहु जबै मिले हैं॥
पाल्यो सदा वचन श्री हरिचंद राजा।
पायो न का दुसह दुःख विशुद्ध काजा ?

[८४]

डोलै न वायु लहरैं जहँ सिन्धु आवैं।
पावै न अंत कित पौन-प्रवाह धावैं॥
आकाश निर्मल दिखै छन मेघ दीखैं।
जान्यो न कर्म-गति, पंडित हारि भीखैं॥

---

(१) मेढ़की।

[८६]

ॐ द्वै काष्ठ जोरि जन बैठि पयोधि पैठैं।
आहार हेतु मछरीन फँसाय ऐंठ॥
वीचीनि¹ बीच परि ऊपर नीच आवैं।
पावैं महा दुख न दूसर कार्य भावैं॥

[८७]

माया-प्रमाद कहते बनतो नहीं है।
गंधर्व-शैल-नभ-कूट²-शिला कहीं है॥
धारे भले हरि हिये मन ध्यान लावै।
सो तो बचै जग भले तरि अंत जावै॥

रूपमाला छंद

[८८]

शोच करनो उचित नाहीं, है न करुना-काल।
राज-भार सम्हारनो अति, भरत अबहीं बाल॥

---

(१) लहरें। (२) पर्वत का शिखर, कँगूरा।

ॐ माँझी लोग दो लकड़ियों के बीच एक लकड़ी चौड़ाई में लगाते हैं और घोड़े की सवारी के समान उस बीच की लकड़ी पर दोनों पैर नीचे करके बैठते हैं और वे समुद्र के बीच लहरों में बूड़ते-उतराते मछली मारा करते हैं।

विरह-बोध न नेह रहतो, होत जीव अचेत।
प्रसव-पीड़ा-समय में तिय, रखत कब शिशु-चेत ?

[८९]

राउ तौ सुरपुर सिधारे, बसत राम बिदेस।
भरत तपसी बने बैठे, दयो काको देस॥
आपु रोवति परी मुरछित, करै कौन सँभार।
आइ सिर पै परो जो प्रिय, सहति क्यों नहिं भार॥

कौशल्या-निवेदन

[९०]

कर-जोरि बोलीं कौसिला तब, देवि तुम अवलंब।
धैर्य तुमहीं बल तुम्हीं हौ, विपति मैं अब अंब॥
सिन्धु-शोक अपार आगे, बुद्धि-तरनी छोटि।
प्रबल-मति तव यान सँग बँधि, पार लगिहौं खोटि॥

नारी-धर्म-वर्णन के लिये मांडवी की प्रार्थना

[९१]

वचन बोलनि मैं चतुर अति, नाम मांडवि जौन।
भरत-भामिनि मंद-गामिनि, विनय करती तौनि॥

कहिय नारी-धर्म माता, भले जानत जाहि।
धर्म-नीति पुनीत मति तव, लहव सुख सुनि ताहि॥

अरुंधती का नारी-धर्म-वर्णन

[६२]

लता बेली ललित तरुवर, तरनि सागर साथ।
क्षमा शौरज धर्म सत्यहु, प्रजा सँग नर-नाथ॥
पुरुष अनुगामिनि तिया तिमि, दोउ मन रँग एक।
जुगुल-जोरी सहज सोहै, मत-विरोध न नेक॥

[६३]

कहति कोऊ नारि ऐसो, पुरुप सम हैं तीय।
बुद्धि विद्या बल पराक्रम, कम न उनके हीय॥
दीप की उपमा न सोहत, साथ दिनकर नेक।
पुरुष सों पद ऊँच नारी, भेद यामें एक॥

[६४]

प्राण तन धन स्वामिनी तिय, पुरुष की सब भाँति।
सहज-प्रीति सरूप है, त्यहि संग आपु बिकाति॥

सोउ सौंपत सुंदरी-कर, अपन सरबस कार¹ ।
बहति सरिता निम्न-तल बिच, रखति रच्छि कगार ॥

[६५]

मधुर-मूरति मृदुल कोमल, अंग तिय के जानि ।
पुरुष-सम्पुट बिच धर्‍यो विधि, पूज्य भाव बखानि ॥
कठिन-वस्तु कठोर जो जग, रहन ऊपर दच्छ ।
बसति अंतर-छाल मृदुलौ, करति रच्छा वृच्छ ॥

[६६]

मूँदि राखति प्रकृतिहू भल, रत्न-गन निज खानि ।
कस न मानुष करैं रच्छा, प्राण सम तिन मानि ॥
मूल्यवान पदार्थ जेते, रहत भीतर बंद ।
धरत बाहर लगति बहनो, खात चींटा कंद ॥

[६७]

पुरुष सम अधिकार चाहैं, जौन चंचल तीय ।
गहति गुंजा छोड़ि मुकता, रखि विवेक न हीय ॥
जहाँ स्वामी बनत सेवक, दिखत उलटो हाल ।
मृदुलता झुरि बढ़ि कठिनता, भई उलटि बिहाल ॥

(१) कारबार ।

[९८]

मधुर फल जब पको जैसे, बिहँग दौरत खान।
रच्छि त्यहि रखवार राखत, ढिग न देतो जान।।
निकर नरपति नगर निरखन, जात नाहिं अकेल।
कली-तरुनी जहाँ विकसीं, चलैं अलि बगमेल।।

[९९]

सलिल सर बिच शांत रहतो, भूलि वीचि[१] न एक।
जलधि-ज़ल कौं लहर लाखन, लपकि छ्रन-छ्रन छेक।।
मधुर खारी कंज फेना, नीर-नील विभेद।
सुख नहीं चित-चंचला को, कुल-तिया नहिं खेद।।

[१००]

† त्यागि दीन्हों सुमन कौं जब, उड़्यो पौन-परागं[२]।
रहत संग सुगन्ध कुछ दिन, फिर न त्यहि सँग जाग।।

---

(१) लहर, (२) पुष्प-धूलि।

† तड़ाग और समुद्र के जल की तुलना की गई है। ताल के पानी में लहरें नहीं, खारापन नहीं, फेन नहीं, नीलिमा नहीं; किन्तु समुद्र में भी तो मधुरता नहीं, कमल-वन नहीं, निर्मल नीर नहीं और शांति भी नहीं। अर्थात् कुलांगनाओं में शांति, सुख, संतोष

कौड़ि कौ पूँछत न क्वउ तब, जँचत आश्रय आन।
मदन-मद-वश विपथ तिय ह्वै, सहत दुख अपमान॥

[१०१]

※आयु सारी रहि कुमारी, कीन्ह नाहिं विवाह।
तबहुँ मनसिज मन मरोच्यो, पुरुष पाय उमाह॥
गर्भ गर्भहि मैं गिरावत, गिरत गर्त-अधर्म।
योनि तिरयक जन्मि मरतीं, नित्य करि अस कर्म॥

[१०२]

बनि कुमारी काम पीड़ा, व्यथित नहिं भई तीय।
मदन मन छन छन छकावत, कीन्ह जरजर हीय॥
पैठि गहिरे सिन्धु कस नहिं, होत बीचिन बीच।
युवति-माखन, युवा-पावक, गलत कब न नगीच॥

आदि रहते हैं। पर चंचला स्त्री में मन की चंचलता, अशांति, प्रलोभन आदि विषय-विकार होते हैं।

※जब पुष्प-धूलि फूल को छोड़ कर वायु के साथ बहती है, तब कुछ दिन तक तो उसमें पुष्प-सुगंधि रहती है, किन्तु थोड़े दिन के पश्चात् बाहर उड़ जाती है ; तब रूखी धूलि-की-धूलि ही रह जाती है। अस्तु, जो स्त्री काम-वासना-वश युवावस्था में अपने मन का संयम न करके मनमाना कर्म करने लगती है, अन्त में उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।

[१०३]

सहज संयम त्यागि देतीं, विषय दिसि बढ़ि जात ।
कर्म तिन सों यम करावत, इन्द्रियार्थ ललात ॥
चलत मग जो दौरिकै सो, करत बैठि विराम ।
भंग करि मरजाद कोऊ, पावतो न अराम ॥

[१०४]

लहत रोग अनेक तनु मैं, उठन बैठन गाढ़ ।
चिर-प्रवासी बनत पति तब, कस वियोग न बाढ़ ॥
कंत कौं अपमान करि नित, सहत गारी रोज ।
धूरि ग्रीषम चढ़त नभ, नहिं मिलत बरसा खोज ॥

[१०५]

स्वल्प सरिता उमड़ि चलतीं, पाय पावस साथ ।
कूल-रक्षक काटि बहतीं, मलिन पावत पाथ ॥
फिरि तहाँ बहु धूरि उड़ती, बुंद जल नहिं लेस ।
गलित-यौवन भईं तिय जब, कहँ शृंगार सुभेस ॥

(१) संयम, (२) विषय-वासना ।

[१०६]

बरस षोडस बाढ़ यौवन, रहत तिय तन घोर।
घटत प्रीति उमंग पाछे, करत ना तब जोर॥
कंज-दल बिच मोति सम जल, ढुरकि तस नहिं रूप।
चारि दिन की चाँदनी है, परत फिरि तम-कूप॥

[१०७]

लाज-भूषन भामिनी जो, धरत ना निज अंग।
दृष्टि सों पर-पुरुष-रवि-कर, उड़ति शोभा रंग॥
स्वान आँखिन परै भोजन, कहत बुध अस बात।
करै दूजो वस्तु पति की, कसक नेत्र-निपात॥

[१०८]

पुरुष-तनु तिय को अहै अरु, तिया अँग पति केर।
रच्छि राखत जौन जस त्यहि, शील संयम घेर॥
मिलत ताको तैसही सँग, परत भेद न नेक।
स्वान स्वाननि वकी वक कौं, लहत भेकी भेक॥

[१०९]

चलत पौन प्रचंड ग्रीषम, धूरि भूरि उड़ात।
भवन भीतर वस्तु जेतीं, मलिन होति दिखात॥

---

(१) युवावस्था का समय जीवन में केवल सोलह वर्ष ही है।

बुद्धिवान किंवार दै कै, रच्छि राखत नीक।
लाज दावत इन्द्रि-गन कौं, करति गति-तिन फीक॥

[११०]

जौनि तिय मैं लाज नाहीं, होत चंचल तौन।
मन न ताको रहै थिर छिन, करत इत उत गौन॥
लाज-तट जब ऊँच हो तो, नारि-सरि गंभीर।
उथलि रहती त्यहि बिना, सब पैठि लागत तीर॥

[१११]

रूख[1] रूखे[2] न नीक लागत, फूल फल दल नाहिं।
कसक शोभा पाव सरिता, जब न जल त्यहि माहिं॥
शील बिन भावत न विद्या, छमा बिन बल रंग।
लाज बिन सब साज सारे, वृथा कामिनि अंग॥

[११२]

बिलग ह्वै जो नारि पिय सों, चलति अपनी चाल।
भेद भीतर विमन दम्पति, रहत नित्त बिहाल॥
सहज सुख बिस्वास नाहीं, चित्त चिंता भूरि।
पीठ पीठ लगाव जो जन, दृष्टि दोनौं दूरि॥

(१) वृक्ष, (२) सूखा।

[११३]

पुरुष प्राची दिसा गवनत, नारि पश्चिम ओर।
दुहुँन को जब लक्ष्य दूसर, नेह दम्पति थोर॥
सहज प्रीति प्रतीति सूनो, हिये महँ छल-भाव।
सर कहावत सलिल नहिं तहँ, कसक सुख द्विज पाव॥

[११४]

करि प्रतिज्ञा प्रीति हित भल, एक दूसर साथ।
कंत करि संबंध कांता, मुदित पकर्‍यो हाथ॥
प्रथम सों भे भ्रष्ट दोनों, नीच मति तिन केरि।
संत-संतति कसक हो जब, लीन्ह अघ हिय घेरि॥

[११५]

अन्य के सँग प्रीति राखत, बसत भर्ता साथ।
प्रेम-भाव-प्रभाव हिय मैं, परत गर्भहि माथ॥
होय पितु हिय नेह सुत कस, जब न जननी माहिं।
माटि गुन जस बीज उपजै, रूप रंग जनाहिं॥

[११६]

जियत दम्पति मरे सम हैं; लहत मरि यम-दंड।
होत सुख हित विपथ जो जन, पाव दुःख प्रचंड॥

अन्य की जो वस्तु लेवै, जात ताकी भागि।
रीति नीति विवेक त्यागे, जरत करमन आगि॥

[११७]

बाल-विधवा होत कोऊ, दिखत ना मुख कंत।
तीर आवत तरुणता जब, लखत पति कर अंत॥
भई वृद्धा दुख बढ़ो अति, पुत्र पति नहिं कोउ।
दोष यामें देइ काको, लहत सो जो बोउ॥

[११८]

कीन्ह नहिं मरजाद संयम, भई विधवा बाल।
बनत सधवा बरत वर बहु, विषय पगि त्रयकाल॥
सहज सुख ना मिलत तबहूँ, इंद्रि-तृप्ति कराय।
काम-करदम[1] अंग लागो, कसक शुद्ध जनाय॥

[११९]

लखहु संयम पशुन मैं पै, नहीं इनमैं नेक।
उठत बैठत सोइ जागत, भोग की रख टेक॥
होत तृप्ति न विषय विहरत, बुद्धि भइ जब भंग।
बारबार नहात जल लै, कसक भूरो अंग॥

(१) कीचड़।

[१२०]

पति देव को जो ईश मानत, सौंप मन धन देह।
करति सेवा प्रीति-युत नित, रखति हिय नव-नेह॥
कंत-आश्रय सुखद मन गुनि, अन्य वस्तु न भात।
आलवाल घिराव कीन्हो, चरि न बिरवा जात॥

[१२१]

इन्द्रि-भोगन तकत नाहीं, जतन किय मन लाख।
बुद्धि-रज्जु सँग पकरि ताको, कंत-पद बँधि राख॥
सौंपि दीन्हो हाथ पति के, करैं जस चह सोय।
परो वंदी वंदि-गृह जब, कसक बाहर होय॥

[१२२]

बुद्धि छोंड़ न एक छन मन, रखति सँग त्रयकाल।
गमन इन्द्रिन-दिसि करै कस, रहि न चंचल-चाल॥
नव-विवेक विलास पगि तहँ, भयो औरहि हाल।
संत-संगति बनत सज्जन, मूढ़ होत निहाल॥

---

(१) थाल्हा।

[१२३]

करु न शंका तपसिनी नहिं, हैं गृहस्थि प्रवीन ।
इन्द्र सचि सों सुखी रहतीं, तवौं विषय न लीन ॥
कैदि कारा आइ बाहर, करत काम अनेक ।
साथ प्रंहरी-बुद्धि रहि मन, देत जान न नेक ॥

[१२४]

कंत कामिनि संग विहरत, मदन रति सों सोह ।
संत-संतति होत उनसों, कबहु भोग न मोह ॥
बुद्धिवान विवेकि बालक, आत्म-संयमि जौन ।
वंश उज्ज्वल करत सो सुत, पितर तारत तौन ॥

[१२५]

पुरुष नारी संग रहि नित, आत्म-उन्नति कीन्ह ।
वासना नहिं राखि मन मैं, विरति रति तल्लीन ॥
नासि अपने जन्म मरनहु, सीख दूसर दीन ।
सिन्धु-भव हरि-भजन-नौका, पाय पार प्रवीन ॥

---

(१) पहरा देनेवाला ।

[१२६]

भजन-भाव-प्रभाव सों जग, होत आनँद जीय।
नाश-अन्तःकरण जाको, रहत आस न हीय॥
विषय-वास न पास आवत, दासि हरि की जौन।
उमा देवी सरिस हैं सो, नमत सुर नर तौन॥

मांडवी-शंका

[१२७]

कर जोरि बोली मांडवी तब, सुनिय बिनती मोरि।
पुरुष तिय रहि संग कस मन, विषय ना रख बोरि॥
प्रकृति करत सहाय सब विधि, उपज प्रीति सनेह।
कसक संयम करत दम्पति, बसत अपने गेह॥

अरुंधती-समाधान

[१२८]

शुद्ध हैं संस्कार जाके, होत मन शुचि तासु।
उर्ध-मुख ह्वै फूल फूलो, दृष्टि निम्न न जासु॥
लवन भोजन कौं सहायक, स्वाद-सुख सरसात।
भखन चाहै त्यहि अकेलो, कसक नीक जनात?

[१२९]

हिय सतोगुन बसत जाके, विरति दिसि मन जात।
कामे[1] कामें[2] निकाम[3] होतो, सरस निरस जनात ।।
इत कठिन माखन कीन्ह हिम, उत चहत आगि बुतानि।
कसक गलि सक साथ रहिकै, विषय-शक्ति नसानि ।।

[१३०]

मिथुन[4]-मैथुन सृष्टि हित है, उपजती संतान ।
बोइ खेत न जोत पुनि पुनि, न तो बीज नसान ।।
जगतपति-कर पुत्र-कर दै, बाँधि हरि-पद तार ।
जन्म-मरन-प्रपंच त्यागत, करत सुर जयकार ।।

[१३१]

अधिक खात अजीर्ण होतो, रोग उपजत अंग ।
कंठ पीड़ा बहुत बोले, फीक बकता रंग ।।
करत काम निकाम[5] दम्पति, रहत ना कछु चाहि।
लागि बन में आगि जब, तब तरु तृनादि जराहि ।।

(१) कामदेव, (२) कार्य, (३) प्रयोजन-हीन, निरर्थक; (४) स्त्री-पुरुष का जोड़ा, (५) निष्काम ।

[१३२]

अमित जल को बाँध रोकत, लहर रोकत तीर।
प्रबल पौनहि शैल रोकत, औषधी तन-पीर ॥
रोकि राखत घाम कौं घन, अवनि ना नगिचात।
सत-विचार-अचार रोकत, मन न विषयनि जात ॥

[१३३]

अंधकार नसात नहिं कस, भयो जब निसि अंत।
बनत वनिता कबौं विधुरा[1], संग रहि निज कंत ॥
बुद्धि मन मिलि शांति पावैं, विषय दूरि पराय।
मुदित बिचरै शिखर पै जो, गर्त कस नगिचाय ॥

[१३४]

चहत जो सुख इन्द्रि-भोगनि, मूढ़ दम्पति जौन।
विविध विधि सो लहत दुख बहु, रहत व्याकुल तौन।
बहत धारा सरित जल जो, मिलत बढ़ि नदि-नाथ
तहौं नहिं त्यहि शांति मिलती, विकल लहरन साथ।

---

(१) वियोगिनी, विरहिणी।

[१३५]

पतिव्रता कुल-भूषिता तुम, कह्यों पूछ्यो जौन ।
पालि पतिव्रत लहत सुख सब, पूज्य बनतीं तौन ।।
करि प्रशंसा विविध विधि सों, रानि नायो शीश ।
प्रेम पूजा पाय गुरु-तिय, दयो मुदित अशीश ।।

[१३६]

दोहा—

गमनी गुरु पँह गुरु-प्रिया, बहुत भाँति समुझाय ।
पूजा व्रत रानी करहिं, राम हितै मन लाय ।।



पञ्चदश सर्ग

राजा-भरत-संवाद

रोला छंद

[१]

यक दिन यक वर भूप, भरत पहँ आय जुहार्‍यो ।
करि प्रनाम दै भेंट, मुदित आरती उतार्‍यो ॥
सादर आसन दीन्ह, कुशल बहु विधि सों पूछ्यो ।
बरसन चाहत मेघ, मनहुँ लखि सरि सर छूंछ्यो ॥

[२]

शीश नाय कर जोरि, बोरि मधुरस मृदुबानी ।
कह्यो नृपति धरि धीर, बिपति की अकथ कहानी ॥

चलत न प्रजा सुराह, नहीं मानत अनु[1]शासन।
इत उत पशु भगि गये, करै पशु[2]पति कस शासन?

[३]

सदाचार-आचार-वारि तरु-धरमहिं सींचत।
सूखि गयो थल-हृदय, हरित-श्रद्धा सब खींचत॥
षट[3]-विकार रवि-ताप, तपत निसिदिन तहँ ऐसे।
वन दवागि बहु लागि, जरत पशु जन तृन जैसे॥

[४]

दिखत नारि कौं रूप, रहत नहिं थिर मन तिनकर।
व्याकुल व्यथित बिहाल, दुखित गिरि काम-कूप नर॥
नात भेद नहिं रख्यो, लख्यो निज गोत्र तियन कौं।
अंतर दिखत न पतँगे[4], प्रकाश-तैल बीजुलि कौं॥

---

(१) आज्ञा, (२) चरवाहा, (३) काम-क्रोध-मदादि, (४) वे कीड़े, जो दीपक का प्रकाश देख उसमें भस्म हो जाते हैं।

[५]

लोलुप[1] व्यसनी[2] वसन[3] असन[4], फँसि मत्त रहत नित।
भोग करत रुज[5] उपज, विकल छनहूँ नहिं कल[6] चित ॥
आलस नींद विलास, धारि मन निसि दिन सोवत।
करत न कछु भल काम, वाम लगि धन धृति[7] खोवत ॥

[६]

क्रोध हिये उमड़ात, बोध[8] नहिं रहत तनिक मन।
आँखि लाल, भुरि भाल, ऐंठि मुख लखत कुरुख जन ॥
वचन-आगि नित उगिल, सदा धधकत रसना खल।
ज्वालामुखि की ज्वाल, निकरि जनु जारत भूतल ॥

[७]

धन-हित नित अति विकल, रहत निसिदिन नहिं सोवैं।
छल-बल छलि जन लेत, कपट-पट दै हिय जोवैं ॥
झूँठ कहत अरु सुनत, झूंठ झूँठैं अनुमानैं।
झूँठि मित्रता बचन झूँठ अरु झूठ प्रमानैं ॥

---

(१) बहुत लालचवाला, (२) बुरे काम करनेवाला, (३) कपड़ा, (४) अन्न, (५) रोग, (६) शांति, (७) तुष्टि, संतोष; (८) ज्ञान।

[८]

स्वारथ साधन हेत, निरर्थक शपथ[1] लेत सधि।
सुपथ[2] कुपथ[3] नहिं ख्याल, सधै अरथै कवनिउ विधि॥
लाभ थोर लगि हानि, करत बहुतै नहिं जोवै।
आँखि मूँदि जो चलत, भूमि गिरि तन को खोवै॥

[९]

धर्म-प्रकास विकास, न हिय बिच कसक दिखै तब।
अधरम-तम चहुँ ओर, घोर छायो छिति नभ जब॥
लड़त भिरत गिरि मरत, न कोऊ काहु बचावै।
मत्त भये मद मोह, तिनहिं कहु कौन सिखावै॥

[१०]

छीन-झपट जग परी, घरी भरहू नहिं चित थिर।
यक सों लिय दिय अन्य, तवौं कर रह्यो रिक्त[4] फिर॥
जस जस धन जब गहत, बढ़त तस तस बहु आसै।
लासा अंग विहंग, लगो पंखन हिलि फाँसै॥

(१) कसम, (२) सन्मार्ग, (३) कुमार्ग, (४) खाली।

भुजंगप्रयात छंद

[११]

न मानै शिवौ विष्णु ब्रह्मा न इन्द्रौ।
नहीं नर्क स्वर्गौ न आदित्य[1] चन्द्रौ॥
न कोई कहीं ईश्वरौ देखि आयो।
अनूमान भूले भले गीत गायो॥

[१२]

सबै वस्तु आपै बनै रूप जोहै।
नसै आपुही सृष्टि स्रष्टा[2] न सोहै॥
मरै पै न पावैं पता भूलि कोई।
कहाँ लोक वैकुंठ पाताल होई॥

[१३]

न पानी न पिंडा दिऐँ पीतरों को।
न संध्या न पूजा नवैं ना सुरों को॥
पिता मातु को मान देवैं न भूले।
तिया साथ लीन्हे फिरैं मार्ग फूले॥

---

(१) सूर्य, (२) सृष्टि रचने वाला।

[१४]

न भूले तिया लाज को धारती हैं।
जहाँ चाहतीं जार लै भागती हैं॥
विषै में फँसी धर्म कर्मौ नसावैं।
पती संग स्वप्ने न प्रेमौ दिखावैं॥

[१५]

भई संकरी वर्ण संतान सारी।
कुलौ नास भे भोग भोगैं जु नारी॥
सदाचार धर्मादि नेमौ न मानैं।
करैं पाप औ अन्य की द्रव्य आनैं॥

[१६]

दरिद्रादि पीड़ा प्रजा को सतावै।
सदा भोजनौ वस्त्र के हेत धावै॥
तबौं पूर होवै नहीं दुःख भारी।
रुकै नाहिं पानी जबै धार जारी॥

[१७]

नहीं प्रेम राजा प्रजा बीच नेकौ।
रखैं द्वेष-बुद्धी न हों शांत एकौ॥

सदा एक को दूसरे फाँसते हैं।
बने मित्र जो सर्प सों डाँसते हैं॥

[१८]

समै पै कबौं मेघ पानी न देवैं।
कहीं तो धरा बीज बोयो सु लेवैं॥
सदा काल आकाल छायो सुदेसौ।
रही द्रव्य बाकी गयो सो बिदेसौ॥

[१९]

बने साधु त्यागी जटा शीश सोहैं।
बढ़ी वासना द्रव्य नारी सु जोहैं॥
भये भूमि-स्वामी खजाना गड़े हैं।
नृपौ जाँचते जाय द्वारे अड़े हैं॥

[२०]

सदा विप्र पूजे गये जो मही में।
फिरैं दीन भूंखे रहे ना कहीं में॥
न आचार धर्मौं विवेकौ जरा है।
मणी के बिना सर्प मानो परा है॥

[२१]

भये भूप लोभी करैं ना विचारौ।
प्रजा चूसि लेवैं धरा द्रव्य सारौ॥
सकै राखि ना सो घरौ आपने में।
बहै वायु, सो ना रुकै झाँपने में॥

[२२]

गिरैं पाथरो शस्य सारे नसावैं।
न फूलैं फलैं वृक्ष डारौ सुखावैं॥
कहीं लागि आगी सुग्रामौ जरे हैं।
झरी मेघ लाये सु-धामौ गिरे हैं॥

[२३]

जहाँ ही दिखो चोर डाकू भरे हैं।
सदा लूटते फूँकते ना डरे हैं॥
घरौ एक दाना मिले नाहिं ढूँढ़े।
क्षुधा-बाढ़ि बाढ़ी भये बाल बूढ़े॥

[२४]

सदा बोलते झूंठ सौदा जु बेचैं।
करैं बात जोई रखैं हीय पेचैं॥

कमावैं नहीं द्रव्य लूटैं-खसोटैं।
दिवाला करैं धाम लाखों घसोटैं॥

[२५]

कह्यो कष्ट जेते प्रजा जोवती है।
घिरी आपदा में दुखी रोवती है॥
बताओ महाराज! कौनो उपायों।
बड़ी आस राखे प्रभो पास आयों॥

[२६]

सबै दीन रोगी वियोगी विलासी।
महा क्रोधि कामी जु लोभी दुरासी॥
उदै कौन भे पाप सारी प्रजा में।
दुखी हौं कृपानाथ ठाढ़ो रजा में॥

भरतजी

सार छंद

[२७]

* कृषक-नरेस विचार-बीज जो, प्रजा-खेत निज बोवै।
उपजि फुलै फलि बढ़ै चहूँ दिसि, आन बस्तु नहिं होवै॥

---

* यदि जल शीतल है तो जिस पात्र में वह रक्खा गया है, वह भी पानी की शीतलता से शीतल होगा, और यदि वह (जल)

जल गुन होत शीत उष्णहु जस, पात्र परसि लग वैसे ।
भूप-विचार अचार जौन विधि, सब जन गहत सुतैसे ॥

[२८]

⁕ नृप-स्वभाव कौं प्रजा-प्रकृति पर, परत प्रभाव महाना ।
असन वसन अरु रहनि-सहनि सब, भूपति-भाव सुहाना ॥
सघन-घटा-घन घिरि जब बरसत, घाम न अवनि दिखावै ।
चलत लूक अति जेठ मास तब, भुलिभुलि भूमि जरावै ॥

[२९]

† स्वारथ-रथ नृप बनत सारथी, लेत प्रजा निज साथा ।
जो उपकार भूप सुख समुझत, करत सबै बलि माथा ॥

गरम है, तो बर्तन को भी गरम कर देगा। अतः जैसे राजा के आचार तथा विचार होते हैं, वैसे ही प्रजा के भी हो जाते हैं ।

⁕ राजा के स्वभाव के अनुसार प्रजा का स्वभाव बन जाता है । राजा के वेष-भूषा के अनुसार जनता का भी वेष-भूषा बदल जाता है । देखो, जब पानी बरसता है, तब पृथ्वी ठंढी रहती है, और जब गरमी पड़ने लगती है, तब वही भाड़ की बालू के समान उष्ण (तप्त) हो जाती है । यदि राजा सात्विकी है, तो प्रजा भी सात्विकी हो जायगी । और, यदि राजा धूर्त है, तो धूर्तता के लक्षण उसकी प्रजा में भी मिलेंगे ।

† यदि राजा स्वार्थी है, तो वह प्रजा को भी स्वार्थी बना देता

१९

ताप रहित सुचि किरन बाल रवि, होत प्रभात लखावैं।
मध्य दिवस दिनकर के कर फिरि, अग्नि-ज्वाल बरसावैं॥

[३०]

प्रजा-प्रजापति मूल-प्रजा सम, रस गहि सरस सुहावै।
फूलत फलत हरित पल्लव सुख, आनँद चँहुदिसि छावै॥
महा प्रचंड पवन-आपति बिच, धरि दृढ़ विटप बचावै।
शाखा-कोष द्रव्य फल-फूलहु, अगनित नित उपजावै॥

[३१]

अनुचित कर जो नृपति लेत नित, भरत कोष बहु भाँती।
संचित धन सब नास होत तब, शत्रु सेन जुरि जाती॥
शैल-समान बालुका सोहत, सरि तट ऊँच दिखाती।
बढ़त वारि बहि जात नदी बिच, जल अगाध भरि जाती॥

है। यदि राजा उपकार को सुख समझता है, तो उसकी प्रजा दूसरे के लिये अपनी बलि करने को तत्पर रहती है। जैसे प्रातःकाल के समय सूर्य की किरणें गरम नहीं होतीं, लेकिन मध्यान्ह-समय में वही अग्नि बरसाने लगती हैं। अर्थात् प्रजा भली-बुरी नहीं होती, वह तो राजा के अनुसार बनती-बिगड़ती है।

[३२]

❀ धर्म-नींव रखि सदन-समाजहु, रचत भूप मतिवाना ।
दृढ़ता-भीति, दया-द्वारहु लग, त्याग-झरोखा नाना ॥
विविध विचार विवेक शुद्ध बुधि, अन्तःपुर सुखकारी ।
आत्मबोध-रवि उदय सतत तहँ, दुख-तम दूरि निकारी ॥

[३३]

उदधि बीच वीची बहु उमड़त, दौरि तटहु कौं बोरैं ॥
सबल निकट नित निबल अबल बन, परि प्रभाव बरजोरैं ॥
उदय चन्द्र रवि होत जबै जग, पुहुमि प्रकास दिखावै ।
दूरि होत तिन तम महि तोपत, अंधकार अनि छावै ॥

❀ जो राजा धर्म की नींव पर समाज-रूपी मकान को तैयार करता है, जिसमें दृढ़ता की भित्ति, दया का द्वार, त्याग की खिड़कियाँ, शुद्ध विचार एवं बुद्धि का अन्तःपुर है, और जहाँ पर आत्म-बोध-रूपी सूर्य सदा प्रकाशित रहता है, वहाँ से दुःख-रूपी अंधकार दूर भाग जाता है। अर्थात् जिस राजा में धर्म, दृढ़ता, दया, त्याग, शुद्ध विचार होते हैं, उसकी आत्मा उन्नत होती है और उसी भाँति उसका अनुसरण उसकी प्रजा भी करती है, तब दोनों दुःख से दूर रहते हैं ।

[३४]

करि न सकत कछु पुहुमि अबल बनि, प्रबल पराभव देवै।
दिनकर कबहुँ, कबहुँ हिमकर-कर, तमहुँ छाय छिति लेवै॥
नरपति पति बनि तीय-प्रजा कौं, भोगत रुचि अनुकूला।
प्रेम उपज इत प्रीति बढ़त उत, द्वेष करत प्रतिकूला॥

[३५]

* निज सुख हित दुख देत प्रजा कौं, होत तबै उतपाता।
बिलग नहीं नृप जन-समूह सों, दोउ बँधे दृढ़ नाता॥
नदी-नीर बँधि गयो बाँध सों, धार प्रबल नहिं धावै।
सरित सूखि यक ओर परी जहँ, लखत न जल वहि ठावैं॥

---

* जब राजा केवल अपने सुख के लिये प्रजा को दुख देता है, तब राज्य में उत्पात आरंभ हो जाते हैं; क्योंकि राजा और प्रजा दोनों भिन्न नहीं हैं, वरन् पारस्परिक सम्बन्ध-वश एक ही हैं। यदि नदी में बाँध डाल दिया जाता है, तो एक ओर तो पानी रुक कर ज्यादा भरा रहता है और दूसरा भाग सूख जाता है। यदि पानी न रोका जाता, तो सर्वत्र जल-प्रवाह होता और नदी की भी शोभा न घटती।

[३६]

सुख समेटि निज अरथ न रख नृप, देत प्रजा बढ़ि आगे।
नित नव-भोग-विलास-भोग सों, जन-समूह अनुरागे॥
धार प्रवाह रुकत नहिं नदि जौ, पहुँचत निरमल नीरा।
काई कीच बीच नहिं राखत, मिलत विमल तट तीरा॥

[३७]

पुरिखा भूप प्रजा परिजन जनु, देश भवन भल चाहैं।
करत प्रबंध सबन सुख हित सो, सहत आपु दुख दाहैं॥
संतति-चित-चिंता नित घेरे, कसक पूज्य पद सेवैं।
गंग-जमुन मनु मिलत परस्पर, यक दूसर गहि लेवैं॥

[३८]

प्रजा प्रजोपति लखत परस्पर, सुखहित युक्ति विचारैं।
शांति, अनंद, सदा सुख जोहत, निरत नीति आचारैं॥
वर-वसंत बहु बौर फूल लै, पिक चलि आगे लेवै।
मग बीथी वन बाग नगर त्रिच, मधुर बोलि त्यहि सेवै॥

(१) राजा।

[३९]

लोभ मोह अरु काम कोह जब, बढ़त प्रजा बिच जोरै।
धर्म, सत्य, नय, क्षमाशीलता, दिखत न कछु कहुँ ओरै ॥
नृप चह जनपद नीति-निरत रह, आपु अनीति-विलासी।
गुरु रत-विषय, विरति उपदेसत, बनत न शिष्य उदासी ॥

स्त्री-स्वातन्त्र्य

[४०]

बनत स्वतन्त्र नारि ज्यहि देसौ, तहँ व्यभिचार बढ़ावै।
दम्पति प्रेम रहत नहिं दुहुँ बिच, कुल-मरजाद नसावै ॥
काम-कथा मन मथत सदा सब, वाम[1] वाम[2] बनि जावै।
बहि रज गई उभरि जड़ आई, झोंका पवन गिरावै ॥

[४१]

संयम शील अचार विचारहु, काम-प्रभाव न भावै।
बाल युवा अरु वृद्ध इन्द्रिवश, चंचलता बढ़ि जावै ॥
जागत स्वप्न तिया तन देखत, चक जनु चन्द्र सुहेर्‍यो।
मिलत न धूरि-शांति कहुँ ढूँढ़े, विषय-बाढ़ हिय घेर्‍यो ॥

(१) स्त्री, (२) प्रतिकूल।

[४२]

सत आचार धर्म लज्जा अरु, शील विराग विचारा ।
जस जस घटत,बढ़त तस तस तहँ, पर-पति रति व्यभिचारा ॥
पति दुरियाय जार सँग विहरत, तबौं न तोष जनावैं ।
एक तजत पुनि गहत दूसरे, शांति न ते कहुँ पावैं ॥

[४३]

खोखल-तरु सम हिये सून ह्वै, ऊपर सरस दिखावैं ।
मधु मकरंद रहत कस सरसिज, सरहु सूखि जब जावैं ॥
गुञ्जत रहे पुंज मधुकर के, चहुँदिसि सोभा छाई ।
देखि न परत सुखत कमलिनि के, स्वारथ संग सगाई ॥

[४४]

पुरुष प्रकृति सम पति पतनी विधि, धरि मरजाद सुनीकी ।
न्यून अधिक करि करम नेकहू, नियम-नीति लग फीकी ॥
करत उलंघन सीमा हठ-वश, दुख पावत जहँ जाहीं ।
पतरि-डार तरु चढ़तो जन तब, फटत गिरत महि माहीं ॥

[४५]

*लखत पतिहिं पतनी लख पति कौं, मन रखि विषयनि आसा।
गयो अलौकिक भाव दूर ह्वै, फँस्यो काम की फाँसा॥
जस जस बढ़त चाह भोगन की, तस तस नसत बिबेका।
तरनि तीर बढ़ि बह्यो धार परि, लगत पता नहिं नेका॥

[४६]

धाम अभीष्ट ब्रह्म प्राप्तिहु कौं, पति पतनी मिलि पावैं।
भूलि जात कर्तव्य कर्म जब, काम कला मन भावैं॥
जस जस बढ़त विषय-वश बरबस, तस मरजाद नसावै।
तोरि रज्जु पशु इत उत भागत, धर्म-खेत चरि जावै॥

[४७]

पाछे पुरुष नारि आगे बढ़ि, करत कर्म मनमाना।
भोग-विलास बेष बदलत नित, मिलि नर नूतन नाना॥
लेत दाबि तिय प्रबल जाति कौं, काम फाँस फुसिलाई।
सिन्धु उमड़ि जिमि अवनि नसावत, रज नहिं कहूँ दिखाई॥

---

*यदि पति पत्नी को और पत्नी पति को काम-वासना के साथ देखते हैं, तो जन्म-मरण छूटने का उद्देश्य नहीं सिद्ध होता। नदी की धारा में जो पड़ा, उसका पता कैसे लग सकता है?

[४८]

पति पतनी बिच प्रेम न देखत, नित झगरत करि रारी।
पर-पति पर-तिय रहत सतत रत, रखत न मनहुँ सम्हारी॥
बह्यो जबै परि धार भयंकर, निकरि कसक को पावै।
ज्वर-प्रकोप परि विकल रहत तब, अन्न न भूलिहु भावै॥

[४९]

बढ़त प्रभाव काम मन-कामिनि, कन्या कामुक धावैं।
प्रौढ़ भईं पर बनी कुमारी, पति ढूँढ़े नहिं पावैं॥
मंजरि मधुरस भरी रही जब, वृन्द-मधुप मधु चाख्यो।
सूखि सिकुरि मुरि झुरसि गई जब, अब को इन अभिलाख्यो ?

[५०]

दम्पति-सुख न मिलत इनकौं कछु, रख न प्रेम-विस्वासा।
पूरब पकरि राह यक लीन्हो, दूसर पश्चिम बासा॥
धरम-मरम कौं जानत नाहीं, भय परलोक न राखैं।
पियो मद्य गिरि पर्‍यो न सुधि तनु, कसक बचन भल भाखैं ?

[५१]

* पुरुष रूप मन पग्यो तिया कौं, ध्यान रखत त्यहि काहीं।
नारि रूप नर नारिन्[1] भरिगो, दूसर कछु न सुहाहीं॥
बीज रजहु बिच भाव भरे ये, उपज सुता सुत तैसे।
जो बोवत सो होत खेत बिच, बदलि सकै कउ कैसे?

[५२]

विषय विहार बसत तिय-मन नित, पर-पुरुषन करि प्रीती।
होय विचार अचार दृढ़हु तस, जस अभ्यास प्रतीती॥
नरहु नारि रत सतत रहत सब, मति-रति भोग-विलासी।
काम बारि विच मीन मगन रत, बनि थल धर्म उदासी॥

---

(१) शरीर की नाड़ी, नस।

* जब पुरुष के हृदय में सदा स्त्री ही का ध्यान रहता है, तब उसके रक्त और स्नायुओं में वही भाव भर जाता है, इतना ही नहीं, वरन् वीर्य और रज में उसका असर पहुँचता है, जिससे कन्या और पुत्र भी उसी विचार के होते हैं। जिस पदार्थ का बीज बोया जाता है, वही उत्पन्न होता है।

[५३]

वीर्य रजहु पगि गयो विषय-गुन, संततिहू तस होवै।
बढ़त विकार घटत धर्महु नित, मरजादा कुल खोवै॥
संत सतोगुनि सतकुलीन जन, उनहुँ दोष नहिं छोड़ै।
उदधि-लहरि चलि जात सरित बिच, जलनिधि प्रीति सुजोड़ै॥

[५४]

उच्च-शिखर-गिरि-आत्मबोध सों, उतरि नीच बनु नीचै।
माया-मरु मैदान-वासना, सिकता-बौंडर बीचै॥
गिरत उठत पुनि गिरत दुखित है, कहुँ अवलंब न पावै।
कर्म प्रचंड वायु झोंकन सों, इत उत व्याकुल धावै॥



षोडश सर्ग

भक्त-वत्सलता

रूपमाला छंद

[१]

भरत व्याकुल रहत जिन हित, कहब तिनकौं हाल ।
गाय निसिदिन राम-यश जन, होत जगत निहाल ॥
रटत रसना नाम नितहीं, बढ़ विवेक विराग ।
मूढ़ पंडित पापि सुकृती, बनत जागत भाग ॥

[२]

ज्यहि समान न दिखत कोऊ, मातु पितु सुत वाम ।
करुना अकारन करत जन पर, हरत दुख अघ काम ॥
मूक बनतो वाक-पटु अति, बदत सुबुध समाज ।
करत कवि-कोविद प्रशंसा, द्वार नौबत बाज ॥

[३]

अंड-भरुही द्रौपदी गज, बहुत दिन की बात।
बिपति-राक्षसि घेरि लीन्हो, करन चाह्यो घात॥
वायु जिमि बादर बिदारत, नास तिमि दुख कीन्ह।
कौन पायो छुवन जन, प्रभु भार रक्षा लीन्ह॥

[४]

छाँड़ि दीन्हों घातकी शर, चहत लागन दास।
बीचही प्रभु पकरि लीन्हो, गयो ना जन पास॥
करत अचरज काह भो यह, बिध्यो बान न लक्ष।
दीन पाछे कीन्ह प्रभु निज, आय आगे रक्ष॥

[५]

प्रबल गरबित घेरि लीन्हों, दास को यक बेर।
सिंह शशकहि चहत पकरन, होय कसक अबेर?
कठिन बचिबो कहत सबही, अरि पराक्रम देखि।
निबल सबलहिं जब पछार्‌यो, कीन्ह अचरज लेखि॥

[६]

उच्च पद लहि कीन्ह अनुचित, कोउ जो जन साथ।
दुःख पायो सतत आपुइ, धुनत अपनो माथ॥

दास चिंता करत ना कछु, जानि निज सँग नाथ ।
भूख लागत जबै मुख मैं, कौर डारत हाथ ॥

[७]

कर्म जौन अपार संचित, प्रारब्ध क्रियमान ।
स्वल्प भोग कराय तिनकौं, हरत दुःख महान ॥
अग्नि अरु आदित्य सन्मुख, शीत की कहँ भीति ?
नाम रसना ध्यान मन हरि, रहत हिय करि प्रीति ॥

[८]

तृन समूह न जरत अगिनिहि, कस न हो बिस्वास ।
सूर्य सन्मुख कहाँ रहतो, अंधकार-निवास ॥
बसत ज्यहि वन महा मृगपति, स्यार कस करु राज ।
कर्म कारन वासना नसु, जहँ रमेस बिराज ॥

[९]

व्याप महि-जग मल विषै, दुरगंधि माया घोर ।
साधन सँयोग वियोग-दुख में, व्यथित जन मन जोर ॥
उड़त जो द्विज उपर नभ बिच, विमल रहतो नित्त ।
विषय दारिद कस सतावहि, हिये बस प्रभु-वित्त ॥

[१०]

नाम-रसरी सदा पकरे, करहु प्रभु का ध्यान।
कौन सन्मुख आय सक जब, गह्यो असि खुलि म्यान ॥
उठत लहरैं जोर सागर, चीरि जातो यान।
राम साथी भये जाके, होत त्यहि कल्यान ॥

[११]

राम रावन युद्ध कौं मुनि, बालमीक महान।
कीन्ह बरनन बहुत विधिवत, कौन कवि कह आन ?
राजपथ सों सबै निकरत, छोट बड़ जन जोय।
रूप रँग गति संग मति-बल, भिन्न सबकी होय ॥

लंका

[१२]

बसत लंका गिरि-त्रिकूटहि, उपल रज न दिखात।
भूमि गिरि मग भवन वीथी, हेम की दरसात ॥
मणि पुंज गुम्बज बने ऊपर, राज-मंदिर सोह।
चन्द्र दूसर उयो जनु तहँ, कुहू कबहुँ न जोह ॥

[१३]

विविध रँग के रत्न माणिक, द्वार भीति लखात।
वज्र विद्रुम मोति मग गच, नगर बीच सुहात॥
हाट हाटक की बनी जहँ, होत रत्न न मोल।
गलिन घर मग परत सबके, कौन कर उन तोल॥

[१४]

अति रम्य बाग अराम मन्दिर, विविध भाँति जु सोह।
राजभौन बिलास बहु लखि, सदन सुरपति मोह॥
सभय जहँ दशशीश सन्मुख, नाय सुरपति शीश।
करत सेवा साथ सुर लै, मानि अपनो ईश॥

रावण का प्रजापालन

[१५]

❀ कल्पवृक्षहिं निदरि डार्‍यो, रह न इच्छा कोइ।
हों मनोरथ पूर सब बिधि, आपुही जन जोइ॥

❀ रावण ने इस उत्तम रीति से प्रजा-पालन किया कि किसी के मन में किसी प्रकार की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती थी। ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था कि इच्छा उत्पन्न होने के पूर्व उसकी पूर्ति हो जाती थी। ऐसी दशा में कल्पवृक्ष निरर्थक था; क्योंकि जब

विपय-भोग विलास सुख बहु, देव दुरलभ जौन।
सहज-जन कौं सुलभ निसिदिन, लंक पुर महँ तौन ॥

[१६]

पूर कर पुरजन मनोरथ, लंकपति सुख-धाम।
उठत मन सन्यासि संका, देखि तिन निष्काम ॥
आदेश आगे प्रान रख जन, नाय शिर दशशीश।
राजनीति प्रकांड पंडित, देत सीख महीश ॥

रावण-नीति

सवैया

[१७]

दान न कीन्ह भये धनवान, न मान दयो अरमान सुहावै।
वीर बने न लड़े रन मैं, प्रभुता लहि दीनन दूरि दुरावै ॥

तक इच्छा न हो तब तक कल्पवृक्ष किस वस्तु की पूर्ति करे ? रावण के सुराज्य में इतना भेद था कि इच्छा उत्पन्न हुए बिना ही मनोरथ पूर्ण होते थे और कल्पवृक्ष इच्छा उत्पन्न होने के पश्चात् उसकी पूर्ति करता है। इच्छा-रहित होने से उसकी प्रजा को देखकर मन में शंका होती थी कि क्या वहाँ के गृहस्थ सब सन्यासी थे, क्योंकि वासना-रहित तो सन्यासी ही होता है। जिस उत्तमता से रावण प्रजा का पालन करता था उसी भाँति प्रजा भी राजाज्ञा के पूर्व प्राणों की बलि करने को तत्पर रहती थी।

दाँव गये जिमि हारि जुवा जग, कीन्ह सुकर्म न सो पछितावै ।
चूकु न चातुर चातुरता लहि, आतुरता करि जन्म बनावै ॥

कर्तव्यच्युत

[१८]

करते-धरते सब काम सदा, सुत वाम अराम सुधाम सुहावैं ।
धन धूरि समान उड़ाय नितै, विषयाननि सेवत नाहिं अघावैं ॥
फिरते इत ते उत सारिहु आयु, न जीवन मैं उपकार कमावैं ।
जनमे कि नहीं जनमे जग में, जन जो अपनो करतब्य भुलावैं ॥

उपकारी पुरुष

[१६]

उपकार करैं नितही सबकौं, अपकार करे नहिं क्रोध जनावैं ।
गुनवानन कौं सनमान सुहात, बिनै बरबानि सयान सुनावैं ॥
लखि दीनन को धन देत सदा, रन मैं अरि को नहिं भूलि मनावैं ।
मरते नर ते न कबौं जग में, जिनकों यश कीरति कोविद गावैं ॥

साहस-सत्कार

[२०]

या जग में डरते नर जो, सबही तिनकौं डरवावन लागैं ।
धारि हृदै दृढ़ता ललकारत, तौ क्वउ भूलि न मारग जागैं ॥

गीध बड़ो शिर नावत मेनहिं, स्यामा सुचौंचन मारन कागैं ।
कूकुर खेदत कादर स्यारहि, साहसि सिंह दिखे गज भागैं ॥

मर्यादातिक्रमण

[२१]

त्यागि दयो मरजाद जबै जन, तौन तबै निज मारग गोंड़्यो ।
सिन्धु धर्‍यो सब द्वारन कौं उर, कोउ न पीवत है जल भोंड़्यो ॥
वारि बह्यो मल ठौरन लागि, भई भल काइ महा गँधि जोड़्यो ।
औरन की जनि चालहु बात, कलंक मयंकहु कौं नहि छोंड़्यो ॥

कायरता का त्याग

[२२]

छाँड़त मातु सुता सुत कौं, जिन तें भल प्रानहु जान्यहु ना ।
छाँड़त कन्तहु कामिनि कौं, सँग भोगत भोग अघायहु ना ।
सूमहु सम्पति छाँड़त जौनि, बटोरि धर्‍यो कछु खायहु ना ।
छाँड़िकै जात सबै जग में, तुम कादरता कस छाँड़हु ना ?

जन-नायक

[२३]

कवि-कोकिल ह्वै यश गान करैं, गुन-सौरभ दीन-समीर बहावैं ।
सुख सम्पति सुंदरि पूत पिता, जनु पल्लव पात हरे भल भावैं ॥

शुचि-कीरति फूल अनेक फुले, अलि-सज्जन घेरि सदा सुख पावैं।
किनके न सहायक ये जननायक, लायक साज वसंत सुहावैं॥

कार्य में अबेर न करै

[२४]

कबहूँ मन शांति लहै न पलौ, इतसों उत दौरत दुःखहि चाखै।
नित रोग वियोग बिथा बढ़ती, अकुलात सदा उठ बैठत काँखै॥
छन कौन न जानत प्रान उड़ै, जसको तसही रहिहै घर लाखैं।
करि लेइ सबै शुभ काम सबेर, न भूलि कबौं कछु साम को[1] राखैं॥

स्वाभिमान

[२५]

दीन बने नहिं दारिद जात, नसै उतसाहहु जौन तिरै।
नीचि निगाह दिखैं सबही, नहिं पूंछत बातहु कोउ धिरै॥
आस करै न कबौं नर ते, करते धरते हरि नाउ सिरै।
स्वान न पावत मान कहौं, नितही किन द्वारन द्वार फिरै॥

(१) 'कु' के स्थान में "को" पढ़ने की सुगमता के लिये लिखा गया है।

स्वमार्गावलंबन

[२६]

चाल चलैं चतुराइ दिखाइ, सगे बनि कै रहि साथ ठगावैं ।
खोय चुके सब आपनि संम्पति, औरन चाहत भींख मँगावैं ॥
स्वारथ साधत संघ बनाय, मनो परमारथ हेतु जगावैं ।
वेग बहाव को देखि बहै नहिं, आपनि नाव सुतीर लगावै ॥

जाति-भ्रष्ट का संग न करै

[२७]

द्विज सेवत अंडन को दिन राति, छुये उनके ढिग ना नगिचैहैं ।
मदिरा सँग पावन गंग सुनीर, मिले न महातम नेकहु रैहैं ॥
अति नीक सुगंधित फूल गिर्‌यो, मल-भूमि भला त्यहिको कउ लैहैं ।
बहिगे जन जो लपकै न तिन्हैं, नहिं धार बिचै निहचै बहि जैहैं ॥

कपटी

[२८]

बहुते बनि मीत मिलैं मन मैं, कछु औ मुख मैं कछु और धरो है ।
नित सेवत नेह दिखाय भले, जहँ घात लगे छल काम करो है ॥
परतीत करै कस शीतल अंगनि, जानत ना हिय ज्वाल जरो है ।
घट-सोन को सुंदर ऊपर लागत, भीतर तौ विष भूरि भरो है ॥

सज्जन-प्रशंसा

[२९]

स्वारथ और दिखैं न कबौं, परमारथ मैं भल चित्त लगाहीं ।
कीरति फैलि लता जिमि सोहत, सींचत हैं कवि नित्यहु जाहीं ।।
रोज मरैं उपजैं बहु जीव, न जानत कोउ तिन्हैं जग माहीं ।
आइ जनावत जात जनावत, धन्य जन्यो जननी तिन काहीं ।।

वीरता और भोग

रूपमाला छंद

[३०]

बली बल गर्वित सदा कहुँ, पाव नहिं प्रतिद्वंदि ।
जीति लोकनि लोकपति लड़ि, कीन्ह तिनकौ वंदि ।।
दिखत कोउ न भुवन-चौदह, वीर सन्मुख आव ।
करि पराक्रम हीन सबकौं, देत मोंछन ताव ।।

[३१]

कहुँ पराजय नहिं मिली जिन, नारि दीन्हो तौन ।
सुमुखि-मुख ते तकत निसिदिनि, भोग भोगत भौन ।।
मन-मोहिनी रमनी जहाँ, रमत तिनके साथ ।
कीन्ह संग्रह शक्ति जो भल, दीन्ह कामिनि हाथ ।।

[३२]

पुरुष-बल-जल-नारि नारी, बहत बँधि लगि साथ ।
काम-क्यारी सूखि जानो, धुनत फिरि सिर माथ ॥
अति अनोखी रीति जग लखि, कर न अचरज कौन ?
'त्याग' शक्ति बढ़ाव निसिदिन, 'ग्रहण' नासत तौन ॥

भ्रष्टबुद्धि-रावण

[३३]

फैलिगो रावन प्रताप, दिनेस चहुँदिसि माहिं ।
अस न कोऊ अहै ज्यहि हिय, नाम सुनि भय नाहिं ॥
चोर बनि सों हरन कीन्हो, जनकजा वन माहिं ।
जनु मृत्यु सबकी साथ लायो, लंक-वासिन पाहिं ॥

[३४]

कीन्ह छल-उद्योग लंका, आय ना सक राम ।
बाँधि सागर सेतु उतरे, चल्यो ना बल-काम ॥
इन्द्रपुर जो जाय घेर्‍यो, कपिन घेर्‍यो ताहिं ।
शिखर उच्च विराज गिरि पर, फाटि गिर महि माँहिं ॥

[३५]

मूस मार्जारहिं जु मारत, लवा दाबत बाज।
स्यार खेदत सिंह कौं अहि, लखत मोरनि भाज॥
साँप रज्जु न भेद देखत, पिकहिं कहतो काग।
बनत जब मतिमान मूरख, उदै होत अभाग॥

[३६]

राम घेर्‍यो लंक चहुँदिस, संग कपिदल घोर।
किलकि चिघरत लड़त मारत, सहज करते शोर॥
टीड़ि-दल सम विपुल बाढ़े, दिखत हैं सब ठाम।
गलिन की सिटकी निदर्तीं, होत जब विधि वाम॥

विभीषण-निवेदन

[३७]

देखि बानर दल महा भइ, मन विभीषण संक।
कुजस छोट्यन संग मिलतो, मैल पग परि पंक॥
विनय रावन सन सुनायो, रन न करु नर-नाह।
करत कहुँ गज स्वान-चिंता, जात अपनी राह॥

[३८]

सुनत रावन नाम भागत, इन्द्र स्वर्गहु छोड़ि।
ताहि कौं कपि भालु घेर्‍यो, बात सुनि लग भोंड़ि॥

त्यागि गिरि-निरमल शिला जल, गिरत नीचे धाय।
होत मैलो वहत रज सँग, खोय गुन उत जाय॥

[३९]

लोकपति कौं पकरि प्रभु पहँ, सहज लावत जौन।
देखि बानर अमित सेना, क्षुभित हैं भट तौन॥
बंधु अबहूँ सूझनो नहिं, देखि रिपु निज द्वार।
रोग जब तन उभड़ि आयो, करन चहि उपचार॥

[४०]

देहु सीता फेरि रामहिं, करहु नाहीं रारि।
सोह नहिं रन कपिन सन प्रभु, जीति मैं तव हारि॥
बुद्धिमान विचार-पूर्वक, टारि देतो युद्ध।
संधि साधत काज जब लौं, बढ़ न भाव विरुद्ध॥

[४१]

विजय पावत समर बिच सों, हारि जानहु ताहि।
कितिक होतो नास धन जन, विकल सब बिललाहिं॥
शुद्धमति भूपाल कबहूँ, करत नां रन भूलि।
काज साधत सबै मिलिकै, अबुध बुधि रह भूलि॥

[४२]

रहत निश्चय नहीं रन बिच, विजय लह बलवान ।
युद्ध जीतत निबल जनहूँ, युक्ति छल करि मान ॥
गंडशैल महान गिरि सों, गिरत ते भहराय ।
जबहिं जल तिन रन्ध्र माहीं, सकत राह बनाय ॥

[४३]

रच्यो स्रष्टा सृष्टि कौं यहि, विधि विधान बनाय ।
अरभ क्रम प्रतिकूल-मग महँ, चल न जग-धुरि धाय ॥
लेत तब अवतार ईश्वर, करन विधिवत वाम ।
प्रलय फिरि वह करत नाहीं, सुलभ जब सब काम ॥

[४४]

बुद्धि-बल ज्यहि होत पूरो, करत युक्ति अनेक ।
होन देतो रन न कबहूँ, रचत रचना नेक ॥
लड़त जग पशु-बुद्धि-बश जे, कस कहैं मतिमान ।
सकत नाव घुमाय नहिं गुह, तबहुँ का गुनवान ॥

[४५]

जहाँ जनता त्यागि विधि-क्रम, करत निज मन मानि ।
गिरत गर्त्तहिं चलत आगे, परत परवश ग्लानि ॥

स्वजन-शासन निदरितो, जो अन्य शासित होत।
वारि वारिद वेश बद्ल्यो, चलत छाती पोत॥

[४६]

नारि-गन के फिरत पाछे, जौन वीर महान।
गाय सँग जिमि साँड़ घूमत, कर न त्रीड़ा आन॥
विषय भोग विलास बाढ्यो, रहि न गुरुजन लाज।
तौल ठीक न तुला तौलै, विषम हो जब साज॥

[४७]

कोष सों धन खरच होतो, घटत संचित रोज।
बंद ह्वैगो सोत ही जब, कसक कर जल खोज॥
आय सों व्यय अधिक बाढ्यो, होत ना उपचार।
विषम सम, सम विषम भे अब, कर न कोउ विचार॥

[४८]

मंत्रि-मंडल बनो लोभी, त्यागि शुचि आचार।
देश और नरेश हित कौं, करत नाहिं विचार॥
झूँठ ईर्षा द्वेष बाढ्यो, शील धीर नसान।
ढरकि अथयो सूर्य जब, तब अंधकार दिखान॥

[४६]

जाति-पशु-कपि महा चंचल, बल विवेक न नेक।
मरन मारन सदा तत्पर, सहज पथिकन छेंक॥
युद्ध इन सन सोह नहिं प्रभु, कहाँ पग कहँ माथ।
वत्स घेरत मार्ग-गोपति, भिड़ न निरबल साथ॥

[५०]

दीर्घ-दरसी दूरि निरखत, निकट वस्तु विचार।
कार्य कारन कौं सदा लखि, करत गति संचार॥
कबहुँ लंका में न बानर, करन आये युद्ध।
लगत तब बहु मच्छिका जब, होत देह असुद्ध॥

[५१]

दुखित जन मुख आह निकरत, लहर वायु समात।
स्वास द्वारहि पहुँचि हिय नर, कीन्ह जो त्यहि घात॥
बुद्धि कलुषित होत ताकी, करत अनुचित काम।
नाश होतो शयन करि नर, अग्नि लागे धाम॥

सबल-निर्बल-संघर्ष

[५२]

गरजि निरबल जोर करि जब, सबल सन्मुख जाय।
तब न त्यहि बल-हीन जानै, सहज ना लड़ धाय॥

मतिमान कारन कौं विचारैं, धीर धरि मन माहिं।
बुलबुला उठ सतह-जल पै, कछुक अंतर आहिं॥

[५३]

जाग बल जब निबल महँ, तब सकत को करि सोध।
देत धक्का शक्ति-संचित, ठहर ना अवरोध॥
बाँध-बंधन बाँधि जल कौं, बहन दीन्हो नाहि।
तनिक रन्ध्रहु पावतो जो, बहुत करतो ताहि॥

[५४]

बढ़त निबलन निबलता जस, सबल बल तस नास।
धार गोंठिल होत असि की, चल न अरि-गल पास॥
दीन दुखियन जो सतावत, लहत ना सुख-भोग।
आगि जारत छानि घर की, त्यहि बुझावत लोग॥

[५५]

गरब-बस जो करत अनुचित, करि अनीति-विचार।
लहत पाछे दुःख बहुतै, सकत नाहिं सम्हार॥
नास कर मरजाद कौं जो, होत ताको नास।
काटि तरु नर बसन चाहत, छाँह करु कस आस॥

[५६]

दीन जन मुनि ऋषिन कौं प्रभु, बहुत विधि दुख दीन्ह ।
हीन बानर जाति द्वारा, कर्म बदला लीन्ह ॥
खींचि रवि-कर लेत महि-जल, तपन-ताप महान ।
वारि वारिद बनत बरसत, ढाँपि राखत भान ॥

[५७]

करत रचना निबल-सँघ जब, होत मन सब एक ।
देत सबलन कौं पराजय, चल न बल तब नेक ॥
शिखर गिरि सों गिरत जल बिच, हिलैं नित पड़ि धार ।
अन्न-दाना स्वल्प त्रुटि बहु, बढ़त बाँटन भार ॥

[५८]

शक्ति जो बलवान सँग सो, निबल देतो खोय ।
चहत लेवन जबै ताको, जात तिन ढिग सोय ॥
रबर खींचे बढ़त बहु पुनि, सिकुड़ि छोटि दिखाय ।
लोह चुम्बक ओर चल जग, सहज रीति जनाय ॥

[५६]

बहुत जन जब मिलत यक महँ, करि बिधान सुनीक ।
सबल गहि पाछे पछारत, करत मति बल फीक ॥

यद्पि गंगा शीघ्र-गामिनि, धार बेग सुजोर।
देत यमुना सरस्वति त्यहि, मोरि दूसरि ओर॥

[६०]

बूँद बूँद एकत्र ह्वै जल, वेग-गति अति होन।
वहत गज बहु धार तृन सन, करत चंचल पोत॥
अवल जब बहु मिलत यक महँ, चलत सब यक राह।
सवल युग कर गहैं कैसे, वहुत देखन बाँह॥

[६१]

अनकूल नहि यहि समय रन कौं, करहुँ विनती भ्रात।
करिय युद्ध न भूलि कबहूँ, शत्रु करि सक घात॥
देहु सीता राम कौं, विन समर हो तव जीत।
पाय त्यहि कौं लौटि जावैं, रहो तव का भीत?

[६२]

फिरिहु चाहैं लड़न कपि लै, करव तब जुरि युद्ध।
धर्म सत्य सहाय करु, सिद्धांत हैं जब शुद्ध॥
करहुँ विनती पाँव परि तव, कुशल यामे तात।
मानि रावन-बंधु कादर, क्रुधित मार्‍यो लात॥

विभीषण का तिरस्कार

रोला छंद

[६३]

दूरि होय तू नीच, नीति कबसौं तैं जाने।
अरजित कीरति जौनि, तौनि नसि जाइ लुकाने॥
समर करन घर मिल्यो, बच्यो दुख चलन राह को।
दौरत पतिँगा विकल, खबर नहिं दीप-दाह को॥

विभीषण का लंका-त्याग

[६४]

लंका! छांड़त तोहिं, बिभीषन आजु दुखित मन।
पाप-आगि की ज्वाल, ज़रन चाहत परि पुरजन॥
चरत मुदित जल पियत, मगन मन रहत सदा सब।
कौन जीव नहिं भाग, लग्यो दावा वन विच जब?

[६५]

सर विच मछरी रहत, बहत जल-बाढ़ बढ़ी जब।
नार नदी करि पार, जाइ पहुँचत सागर तब॥
जलचर थल विच दिखत, जबहिं जल महँ अकुलावैं।
मिलत विभीषन राम, लंकपति पदवी पावैं॥

रावण का प्रोत्साहन

[६६]

सजौ युद्ध कौं साज, मिल्यो वहु दिन मैं अवसर ।
जीति असुर सुर नाग, करहु महि विनु वानर नर ॥
छोट बड़े कौं ख़्याल, करै नहिं कबहुँ मानि अरि ।
सावधान नित रहै, जरत तृन-गिरि चिनगी परि ॥

युद्ध के लिये वीरों के प्रति रावण की उत्तेजना

घनाक्षरी

[६७]

कीन्हो सनमान मैं तुम्हारो सब भाँतिन सों ,
सेवक समान द्वार खड़ो इन्द्र यान लै ॥
देव दैत्य दानव औ मानव कौ मार्‍यो रन ,
काहू को न छाँड्यो जौन आयो धनु बान लै ॥
आजु परी भीर मोहि जाँचत हौं जोधन सों ,
करहु समर अस लौटो नहिं प्रान लै ॥
जानि लेहु बात वीर समर सयाने धीर ,
जौन भरि[1] पावे नाहिं जौन[2] अरि जान[3] लै ॥

(१) शक्ति-भर, (२) चले जाना, (३) प्राण ।

[६८]

करत हौ तौन तुम जौन मन चाहत हौ ,
भौन बैठि सुख कीन्हो सो सबै नसैहो का ?
अब लों नवायो सिर नाहीं कबौं दूसर के ,
पर-वश परि पग नित सो सेवैहो का ?
कुल औ धरम रीति नीतिहू समाज भल ,
पाल्यो पुरिखन नीक तिनकौं ढुरैहो का ?
धन धरा सम्पति बिनास जो तिहारी होइ ,
देश जैहै हाथ सों ह्वै हाथ खाली खैहो का ?

[६९]

किंचित् समै है नाहिं कछु और सोचन कौं ,
चहुँ ओर घेरे शत्रु लेन चाहें जान जब ॥
उठो करो देर ना तनिक तुम बीर बर ,
हारि ह्वैकै नसि जैहै नाम सनमान तब ॥
बीती पुरखानन की पीढ़ी ज्यहि भूमि माहिं ,
सो तौ जान चाहत करत अनुमान सब ॥
मारो मरो मरि मिटो जन्मभूमि हेतु आजु ,
देश को बचाओ ना बचाओ तुम प्रान अब ॥

[७०]

बोलत मधुर बोल कोकिल वसंत माहिं,
बिदा होत ऋतुराज बैठि मौन धारि कै ॥
नाचत कलापी सुनि गगन गरज घन,
देखत न मेघ श्वेत भये जल गारि कै ॥
चातक पियत वारि बरसत स्वाती जबै,
सिन्धु सरि सन कीन्ह चाह ना निहारि कै ॥
बीरन की बानि नित वीरता दिखाइबे की,
मान साथ जीवो नतु मरौ अरि मारि कै ॥

[७१]

नसत हैं रोग ज्वर जरा औ त्रिताप सारे,
राग द्वेष शत्रु मित्र मरि नाहिं मानिहैं ॥
वीर-गति पाय स्वर्ग जात जौन वीर तहाँ,
सुर-तिय सेवा नित तिन केरि ठानिहैं ॥
जनम जनम तप तपसि तपत तन,
तब कहुँ मिलत मुकति वेद-बानि है ॥
पार भव-सागर सों होत रन छन माहिं,
मन मैं बिचारि देखौ मरे काह हानि है ?

युद्ध

छप्पय छंद

[७२]

बानर मारहिं शिला, दौरि राक्षस तिन खावैं।
तबौं निशाचर भागि, जाय निज प्रान बचावैं॥
बाण परिघ अरु शूल, शतघ्नी सब दिसि मारत।
पवि पहाड़ तरु फेंकि, करत तिनकौं कपि गारत॥
रन बीच राम रावन लड़ैं, वीर धीर अतिशय प्रबल।
करि क्रोध सिंह द्वउ भिरे जनु, मानि एक दूसर अबल॥

[७३]

कहुँ राक्षस कपि-रूप, धरे डोलत अरि-दल महँ।
नीति-विभेद पसारि, द्वेष बोवन चाहत तहँ॥
सुंदर सुंदरि पठै, पास योधन फुसिलावत।
मानिक रत्न अमोल, देत बानर बहलावत॥
सब कूट-नीति बहु बिधि करत, रावन-आज्ञा धारि सिर।
बनि मीत सतत सरबस हरैं, घात करत नहिं लखत फिर॥

[७४]

रावन छल-बल-कुशल, कपट-माया बहु जानत।
बानर रूप बनाय, निशाचर गहि कपि मारत॥

पवि पहाड़ तरु हाथ, लिहे शाखामृग भागी।
मारहिं शत्रुन तिन्हैं, दयो उन सागर डारी॥
अब कौन हाथ हथियार लै, बानर राक्षस सन लड़हि।
तिन पकरि नोचि दाँतन तबहुँ, एक मारि दूसर भिड़हिं॥

[७५]

धीर धरे कपि वीर, चीर तनु नोचि गिरावैं।
नग्न निशाचर निपट, निकर अवलोकि विरावैं॥
हँसैं मारि किलकारि, व्यंग बोलत कहुँ वानर।
कसक वसन ये चहैं, अहैं रजनीचर का नर?
उत देह ढँपन राक्षस लगे, भूलि गये सब लड़न नब।
सुर सिद्ध नाग गन हँसत लखि, रंगभूमि रन भयो अब॥

रावण का अन्त

घनाक्षरी

[७६]

जोर औ जुलुम जग करत न थाक्यो कबौं,
झाँक्यो पर-घर नीच पर-नारि गन चाहि॥
धन औ धरम धरा घरनि विरानि हर्‍यो,
पर-सुख देखि जर्‍यो पायो भूलि शांति नाहि॥

विद्या बल वैभव विवश लाय गर्व मन,
चीन्हो नाहिं कबौ कोऊ कौन बड़ छोट आहिं ॥
खोय सब साहिबी भयो है खाली हाथ आजु,
रावन सरावन सों पन्यो जूझि रन माहिं ॥

रोला छंद

[७७]

युद्ध भयो अब बंद, प्रबल रावन जूझ्यो रन।
सहित मान जग-मातु, विभीषन लाये तत छन ॥
विधि रवि शशि अरु अग्नि, प्रशंसित सीता सोहैं।
वाम भाग प्रभु साथ, बैठि कपि-कुल सुख जोहैं ॥



(१) हेंगा, जो खेत की मिट्टी बराबर करने के काम में लाया जाता है।

सप्तदश सर्ग

पवनसुत-दूत

रोला छंद

[१]

हनुमत ! अब तुम जाहु, भरत पहँ खबरि जनाओ ।
मारग देउँ बताय, जाहु ज्यहि देश गनाओं ॥
कह्यो सबनि सों हाल, विजय रन मैं मैं पायों ।
सीता लखन समेत, चहत कौसलपुर जायों ॥

समुद्र

[२]

कीन्ह पयोनिधि पार, ताहि तुम सब विधि जानो ।
उठत तरंग बिसाल, अनेकन छन छन आनो ॥
गर्बी करि जनु गर्ब, मूढ़ अभिमान बढ़ावै ।
बिनसि वीचि पल जात, विभव जग पाठ पढ़ावै ॥

[३]

बार बार जल लाय, जलधि निज तट थपियावै।
निबल साथ परि प्रबल, अवसि नित उठि दुख पावै॥
यद्यपि अगम अपार, घोर सागर घहरावै।
तदपि शांति नहिं पाय, व्यथित निसि-दिन लहरावै॥

[४]

धाम धरा धन भरो, भयो धनपति जनु दूसर।
गई न तृष्णा तबौं, बिनत दाना कन ऊसर॥
मोती मूँगा रत्न, अनेकन निधि तल छावै।
नीर राशि निज कर्म, घिरे कस जन तिन पावै॥

[५]

द्वीप बीच कहुँ दिखत, सिन्धु चहुँ दिसि उमड़ावै।
लहर लहर पर उठत, मिलत तट रुकि फिरि जावै॥
बसत जौन यहि ठाम, भूमि जग अनत न जानै।
अल्प ज्ञान लहि मूढ़, सिद्ध ज्ञानी अपमानै॥

[६]

भीम-काय जल-जन्तु, देखि मन भय अति होवै।
मकर नाक तिन लखत, भागि इत उत भय जोवै॥

पीन-मीन नित पकरि, छीन-तनु-मछरी खावैं।
नीच बड़े जब होत, प्रथम निज गोत नसावैं॥

[७]

यदपि यान बहु दूरि, तदपि अति निकट दिखावै।
शुद्ध हृदय जब होत, जन्म बहुतनि सुधि आवै॥
करत कुलाहल सिन्धु, तरल-जल लेत हिलोरै।
चलत छाति पर पोत, मोंछ कस विजित तिलोरै॥

[८]

*बड़वानल जल जार, मध्य सागर हिय माहीं।
वारि बीच कस आगि, रहत संदेह न जाहीं॥
विद्युत् पैदा होत, लहर गति सों नित छन छन।
पाव दुःख जग जौन, ताहि निज करम जनित गन॥

[९]

कहँ अपार अति अगम, जलधि नहिं पार पाव कउ।
दृष्टि दूरि तक जात, लखत जल नखत तहाँ द्वउ॥

*लहरों के संघर्ष से जो समुद्र में बिजली पैदा होती है, उस के ताप से जल भस्म होता है।

तबहुँ पौन की झोंक, कँपावत सागर काहीं।
साहस दृढ़ता बिना, बड़े छोटून डरि जाहीं॥

[१०]

सर तड़ाग महि नार, नीर कौं नदी लेत नित।
तनिक रखत नहिं पास, देत सागर लखि निज हित॥
मधुर पियूष समान, वारि कौं खार बनावत।
लेत हड़पि धन जौन, तौन सुत पौत्र नसावत॥

सवैया

[११]

दौरि मिलैं सरिता-अभिसारिकि, सिन्धु-महा-वल-नागर है।
मेघहु लेइँ नदीननि कौं जल, आपु उदार उजागर है॥
पैठि हिये जन मोति निकारत, रत्न अमोलनि आगर है।
देत सबै तट फेंकि रखै नहिं, त्यागि बड़ो जग सागर है॥

[१२]

चलतो नित छाति जहाज अनेकन, नेक न संक कबौं मन धारै।
सहतो उतपात तरंगनि-रंगनि, अंग दबात न बैन उचारै॥
तनिकौ कहुँ रन्ध्र भयो त्यहि मैं, घुसि भीतर बोरत लाउ न बारै।
जबहीं कउ पावत दाँउ भलो, तबहीं निज शत्रुनि बेगि सँहारै॥

रामेश्वर

[१३]

सागर उत्तर तीर जहाँ, शिव थाप्यों तिन्हैं शिर जाय नवायो ।
पूजि भली विधि शंकर कौं, नहिं शंक रती कबहूँ मन लायो ॥
जो जग चाहत जीति सदा, परलोक परे परमेश्वर भायो ।
तौ भजतैं सुख देइँ सबै, शिव-शंकर रंकन इन्द्र बनायो ॥

घनाक्षरी

[१४]

जरत सकल जग, गरल धरत गल,
करत अभय, भय रहत न, जय कर ॥
तपत करम-तप, तन मन जर-जर,
छनक न भल रह, जनम जनम जर ॥
जप तप मख सत-धरम अगम फल,
लहत सहज जन, बदत वरद वर ॥
सरबस-अघ नस, घर भर धन जन,
तरत जगत कह, हर हर हर हर ॥

---

(१) अर्थ स्पष्ट होने के लिये "थापि" का "थाप्यों" लिखा गया है।

[१५]

बसत अचल पर, धवल बरन हर,
सरप लसत अँग, गँग शशधर सर ॥
जलज-नयन, गल गरल अमल धर,
धरत चरम-गज, भजत धनद कर ॥
करज कमल सज, रजत बदन रज,
बरद बदत भल, सहज बचन बर ॥
दरस करत सब, चढ़त अछत जल,
लहत मनन धन, कह हर हर हर ॥

द्रविड़-देश

सवैया

[१६]

द्राविड़ देश सयान महा, नर नारि सबै तनु श्याम लखावैं ।
प्रीति अचार बढ्यौ बहुतै, द्विज देवन कौं भल मान बढ़ावैं ॥
हैं गणितज्ञ बड़े वर पंडित, शिलपकला उनके मन भावैं ।
सोचि बिचार करैं सब काम, न युद्ध नगीच कबौं नियरावैं ॥

[१७]

मंदिर सुंदर देवन के, लखिहौ अति उत्तम उच्च बिसाला ।
पूजन जाति जहाँ युवती-गन, कंचन थार लिये कर माला ॥

मूरति थापि महाप्रभु की, मन रोकि रखैं सतभाव त्रिकाला ।
योग क्रिया यह जानु भली, चित शांति लहै जन होत निहाला ॥

महाराष्ट्र

[१८]

वर वीर जहाँ जनमैं सबही, रन रीति भली विधि जानत हैं ।
कछ बाँधि तिया तहँ राह चलैं, शिर खोलि पतीव्रत धारत हैं ॥
निज जातिन कौं अति प्रेम करैं, बहुभाँ तिन सों तिन मानत हैं ।
करते द्विज पाठ सुवेदन कौं, हिय भाव न आनहु आनत हैं ॥

[१९]

शैल विसाल अकास छुवैं, मनि रत्ननि-खानि जहाँ भल सोहैं ।
पादप-पुंज हरे बिलसैं, झरना झरते लखिकै मुनि मोहैं ॥
औषधि भाँति अनेकन हैं जहँ, वायु लगे तन रोग नसोहैं ।
शृंगनि मेघ घने लसते जनु, दीन दुखी अवलंब परोहैं ॥

अरण्य-वन

[२०]

सिंह जहाँ गरजै दपटै पशु, भागि सबै निज जीव बचावैं ।
कानन कानन सों सुनि शब्द, सयाननहूँ नहिं जानन भावैं ॥

लागि दवागि जरैं तरु बाँस, न पास सुपास कहौं त्यहि ठावैं ।
पार कर्‍यो वन आरनि कौं, तब मारुति ! भूधर विन्ध्य दिखावैं ॥

विन्ध्याचल

[२१]

तरु ताल तमाल घने लखिहौ, विहँगावलि डारन बोलत हैं ।
मनु मौनि मुनीन मनाइबे कौं, मधुरौ मधु बैनन घोलत हैं ॥
पथिकौ तरुके तर मैं बिरमैं, जहँ सूरज ना मुख खोलत हैं ।
तहँ त्यागि निकेत नरेस बसैं, जहँ मुक्ति दरीननि डोलत हैं ॥

[२२]

सिंह जहाँ शश ह्वै बिचरैं, न चरैं मृग फूल बसैं मुनि जाहीं ।
छत्र धरे तरु बृन्द बिराजत, जेठहु घाम न भूलि दिखाहीं ॥
ध्यान धरैं हरि कौं बिषयौ, हरि कर्मनि जारि सुखी दरसाहीं ।
तापसि तेज प्रताप महा, सत भाव भर्‍यो जड़ चेतन माहीं ॥

नर्मदा

[२३]

गंडकि गोमति गंग गोदावरि, सोन सई सरजू बहि जावैं ।
पूरब-सिन्धु पयान कर्‍यो पति-प्रीति सयानि भले अपनावैं ॥

सिन्ध-सुदेस नगीच बरी प्रिय, मेकलिनंदनि आतुरि धावै।
प्रेम करै अतिही नव नागरि, पश्चिम-सागर नागर भावै॥

चित्रकूट

[२४]

चित्रसुकूट पवित्र महा, लखतै त्यहि के अघराशि नसातीं।
चंचल चित्तहु शांति लहै, दुरगंधि विषै नहिं भूलि जनातीं॥
फूल फुले-मुनि सत्य-सुगंधि, सुसंग-समीर बहै सुख-रातीं।
ज्ञान विराग लिये सुत अंक, फिरै जहँ भक्ति हृदै दिनरातीं॥

[२५]

* लखिहौ मुनिवृन्द गुफाननि मैं, धरि ध्यान सदा हरि ध्यावत हैं।
जगजालनि सों रहि दूरि सदा, प्रभु-गीत कथा रचि गावत हैं॥
भवसागर बीच बनौ जनु द्वीप, न वारि विषै ढिग आवत है।
जग चित्र जिते चितकूट तिन्हैं, त्यहि सों चितकूट कहावत है॥

समभूमि

[२६]

पार करौ जबहीं चितकूट, तहाँ समभूमि भली दिखरावै।
खेत हरे बहु देखि परैं, पहिरे पुहुमी चुनरी जनु भावै॥

* संसार के जितने चित्र—वासनामय हैं, उन सबको चित्रकूट कूटकर नष्ट कर देता है। इसीलिये इसका नाम चित्रकूट हुआ!

फूल फुले बहुभाँति मनो, महि आरति थार उतारि सुहावैं।
दूध दही मधु माखन चाखन, लाखन लोग नितै इत आवैं॥

यमुना

[२७]

ऊँच कगारन बीच जहाँ, यमुना बहतीं जल श्याम लखावै।
हाथ धरे भल स्वच्छ मनो, परतच्छ भये जग ब्रह्म दिखावै॥
धीर गँभीर महानदि तीर, अनेकन नावन भीर लगावै।
पावत पार न कोउ तबै, जब भीतर भाव न ऊपर आवै॥

अन्तर्वेद

[२८]

अन्तरवेद सुदेस भलो, मुनि वेद पुरान पवित्र बतावैं।
विप्र बसैं शुचि धर्म अचार, विचार विचारि भले जग भावैं॥
भोगत भोग अनेकन भाँति, करैं सतकर्म विवेक बढ़ावैं।
लोक विलास विचार भलो, प्रभु-भक्ति किये सब आपुइ आवैं॥

प्रयाग

[२९]

घूमि चल्यो कछु पूरब की दिसि, तीरथ-राज प्रयाग सुहावै।
तीन नदी गुन तीन त्रिताप, वहाय त्रिदेवन धाय मिलावै॥

संगम संगम होन जबै ज्यहि, गंग कलिंदि सुअंक लगावै ।
मूँड़ मुड़ावनि मूढ़ता मूड़नि, मूढ़नि मुक्ति मिलै श्रुति गावैं ।

बाग

[३०]

मुनि सों करि दंड प्रणाम चल्यो, मग बागनि वृक्ष घने दरसैं
तहँ सीतल मंद सुगंध बयारि, निवारि क्रियारिन कों परसैं ।।
विहँगावलि बोलति डारन में, मृदु बोल सुने पथिका हरसैं
जनु स्वागत आगत द्वार करैं, रसना घन वारि [illegible] नें [illegible]

मुंज-वन

[३१]

कोसन कौं बन-मूँज मिलै, वृक स्यार वराह बसैं ज्यहि माहीं ।
ऊँचि कहूँ कहुँ खालि मही, सिकता भरिपूरि न राह दिखाहीं ।।
धेनु अजा महिषी चरतीं, रमतीं सब बैठि कहूँ तरु छाहीं ।
भोजन वस्त्र मिलै ज्यहि कौं, त्यहि को अति मोद विनोद सुहाहीं ।।

---

(१) मूढ़ता में "त" अक्षर के स्थान में "ता" अर्थ स्पष्ट होने के लिये लिखा गया है ।

२२

गंगा

[३२]

चंद-भगीरथ की शुचि चाँदनि, कै शिव की भल कीरति छावै।
चन्दन खौरि लगाव मही, किन चौंर सुहात बयारि डुलावै॥
धाव सुधा-सरिता जग बीच, किधौं यश-चादरि स्वच्छ बिछावै।
क्षीर-पयोधि बह्यो बहु क्षीर, किधौं अघ-भंगनि गंग सुहावै॥

शृंगवेरपुरी

[३३]

अति उच्च कगारन पै बसती, शृँगवेरपुरी गुह-राज जहाँ।
निवसै मघवा जिमि स्वर्गहि मैं, लहि भोग-विलास-अनंद तहाँ॥
सुख त्यागि दयो मम हेतु निरंतर, अंतर चाहत मोहि महाँ।
जिमि पद्म कर्‌यो निशि मैं मुख बंद, दिख्यो न गयो दिननाथ कहाँ॥

सार छंद

[३४]

गुह सों सब कहि हाल, चल्यो तब उत्तर दिसि हनुमाना।
वापी कूप तड़ाग बाग मग, डगर नगर पुर नाना॥
फूल फुले फल लगे विविध तरु, करत मधुप गुन गाना।
निरखि नारि-नर सुखी सात्विकी, आगे बढ्यो सुजाना॥

गोमती

[३५]

वहति गोमती नदी नीर शुचि, पुलिन मनोहर भावैं ।
दिखत कछार दूरि कोसन लौं, पशु मृग चरत सुहावैं ॥
कहुँ कगार अति ऊँच कहूँ कम, घाट अनेकन सोहैं ।
आत्मा-एक, बसन बहु योनिन, मोह सत्वनि नहिं जोहैं ॥

तमसा

[३६]

कृषक खेत फुलवारी बारी, तमसा-जल सों सींचैं ।
जनु उदार सों काम सधन सब, होत मान जन बीचैं ॥
गृह-कारज करि सरित-नीर चलि, नारि अनेक नहानी ।
बिगत विकार विराग-राग जन, भगवत-भक्ति सुजानी ॥

जन्मभूमि-दृश्य

[३७]

जन्मभूमि मम अवधपुरी के, दिखिहौ कलश कँगूरे ।
विविध मनिन सों रचित सुहावन, जनु चमकत शशि सूरे ॥
चहुँ दिसि घिरी हरित वृक्षावलि, शिखर संग भल सोहैं ।
शिर उठाय नित तकत मोहिं मनु, हृदय प्रेम उन जोहैं ॥

[३८]

पूरब काशी पश्चिम नैमिष, दच्छिण सुरसरि सोहै।
उत्तर ऋषि मुनि तप-निकेत थल, मुक्ति हिमालय मोहै॥
होत प्रथम जहँ शुद्ध बुद्धि जन, पहुँचत मम पुर पाछे।
मृत्युलोक साकेत प्रगट भल, निवसत सुकृती आछे॥

[३९]

जननी जन्मि जन्म जग दीन्हो, प्रथम खुली जहँ आँखैं।
पानी पौन पानि सिर परसत, नसैं गर्भ दुख लाखैं॥
बोली बानि बालपन लह जस, तस न सयाने सीखे।
बिजन-बयारि न सम समीर के, लगत झोंक अति तीखे॥

अवध का उपवन

[४०]

चहुँ दिसि सुंदर उपवन बिलसित, विविध भाँति तरु लागे।
फूले फले मनोहर दरसत, पथिकन मन अनुरागे॥
विस्तृत दृढ़ अति स्वच्छ राज-पथ, बीच वाटिका राजै।
यक टक दिखत पथिक बिरमत तहँ, चैत्ररथहु लखि लाजै॥

[४१]

बागन बिच बिहरत बिहंग बहु, बोली बोलि बुलावैं।
युवती युवक वृद्ध बालक-गन, बिचरत तिन ढिग जावैं॥

दौरत दिखत छुवत चुचकारत, चंचु परसि दुलरावैं ।
प्रीति न राखत भाव द्वेष भय, कहुँ तुषार गरमावैं ?

[४२]

कँटि छँटि दूर्वा समतल राजति, सुमन बीच-बिच सोहैं ।
हरित चूनरी बुंदि सुरंगी, पहिरि मही मुनि मोहैं ॥
जपा-कुसुम गुड़हल कहुँ फूले, कुंकुम-बिंदि सुमाथै ।
कुंद निवारी मालति विकसित, हँसति चिबुकि धरि हाथै ॥

[४३]

विटप बिराजत बड़े ऊँच अति, पंथिन पंथ बतावैं ।
माली-गन निज-काज-निरत नित, क्यारिन जल भरि नावैं ॥
फल-फूलन की चाह न राखत, त्यागिन त्याग सिखावैं ।
सेवा-धरम विरति-रत नहिं जे, कुशल न काज बतावैं ॥

[४४]

काँच-सदन कहुँ रचे मनोहर, दिखत चकित जन होवैं ।
तरु फल फूल पात प्रतिबिम्बित, द्विगुण दृश्य तहँ जोवैं ॥
भीतर प्रविसत लखत रूप निज, आनन तहँ अवलोकैं ।
ऊपर चित्रित जगत-चित्र-चित, अंतर आत्म विलोकैं ॥

[४५]

हरियाली चहुँ दिसि जहँ सोहैं, कुल्या[1] बीच बिराजै।
जनु पालाश[2]-वसन-धारी सित, धरि महि छबि भल साजै॥
वृश्चिक सर्प जन्तु विषधर जे, भूलि न कतहुँ दिखावैं।
विषय-विकार न सात्विकि जन महँ, रहन सचेत सिखावैं॥

[४६]

मोरावली नाय सिर भागैं, पग-गति अति भल भावै।
नाचि मनावति मोरिनि मानो, मानिनि मान सिखावै॥
प्रिय घन नभ लखि बोलत बोली, सुनत नीक भल लागै।
भेंटत भामिनि आगत-पति कौं, प्रेम उमँग तन जागै॥

सवैया

[४७]

कुंज घने तरु-पातन सों, तिनपै बहु बेलि लता चढ़ि सोहैं।
भीति हरी छतिहु जु हरी, रवि-रश्मि कहूँ नहिं द्वारहु जोहैं॥
भीतर शीत जनात फुहारन, सों बरसै जल सीकर सोहै।
पावस संग हिमंत मनो, जन जेठ न जानत ग्रीषम को हैं॥

(१) नहर, (२) हरा रंग।

तड़ाग

[४८]

लखिहौ सरसीरुहु कौं सर मैं, भ्रमरो भ्रमते फिरते चहुँघा ।
रस लेइँ कहूँ कहुँ छाँड़ि भगैं, फिर जाय रमैं दल कंज सँघा ॥
चक हंस विराज रहे तट पै, तिय केलि करैं दिखराति जँघा ।
लगि पौन प्रसून झरैं जल मैं, भल ज्यों बरसै बरसात मघा ॥

ऋषि-आश्रम

[४९]

सिद्ध तपोधन वास करैं, मन त्रास कछू नहिं काहु डरावैं ।
आश्रम फूल फुले फल भूरि, करैं सनकार नरेस लजावैं ॥
वैर विहाय तहाँ सब जीव, सुखी विचरैं पथिकौ विरमावैं ।
सम्पति धावति त्याग दिखे, अरु जानि पराय जबै नियरावैं ॥

अयोध्या

[५०]

फूलन बीच सुगंध रहै, जस सीतलता हिम मैं भल जानो ।
दीप्ति लसै मनि-मानिक मैं, अरु माधुरिमा पिक वैननि मानो ॥
मेघ लसै वर-दामिनि ज्यों, तस दूब दिखै हरियाइ सुहानो ।
औधपुरी बसते जन जो, तिन हाथ सदा सतभाव बिकानो ॥

[५१]

* चेरि बनी नित सेवति शांति, जहाँ भल चौंर सुधीर डुलावै।
सत्य सदा सतकार करै, उपकार सबै दुख दूरि भगावै॥
धर्म धरै हरि-ध्यान छमा, गहि कंज-हिये प्रभु-भौंर लुभावै।
ऊँच सुलोकनि जाइबे कौं, उतरैं महि औधपुरी सुर आवैं॥

[५२]

† धर्म छमा तप सत्य अचार, विचार विवेक हिये उपजावैं।
नीति-विनीति प्रतीति सुरीति, लहैं सब मैं अनुराग बढ़ावैं॥
प्रेम करैं प्रभु के पद-पंकज, जो जग-जाल विपत्ति नसावैं।
वर्ष हजारन स्वर्ग वसैं, छन एकहु जो जन औध बितावैं॥

---

* विचित्रालंकार—जिस फल की इच्छा हो, ठीक उसके उल्टा यत्न किया जाय। जैसे यहाँ पर देवता अपने लोकों से ऊपर के लोकों के प्राप्ति की इच्छा करते हैं; किन्तु उसके पूर्ण होने के लिये नीचे मृत्युलोक में–अवधपुरी में–आते हैं जिससे उनको उच्च लोकों की प्राप्ति हो, अर्थात् इच्छा तो है ऊँचे जाने की और उसके लिये यत्न किया जाता है ठीक विपरीत।

† परिवृत्ति-अलंकार—जहाँ कुछ देकर बहुत लेना कथित हो, उसे "परिवृत्ति" कहते हैं। यहाँ पर यह दिखाया गया है कि यदि मनुष्य एक क्षण भी अयोध्या में बसता है, तो उसे हज़ारों वर्ष तक स्वर्ग-भोग करने को मिलता है।

[५३]

पाप-पहार नसैं सबहीं, भइ पुन्य उदै बिनु हेतु कमायो।
धाम धरा धन पूत पिता, परिवार लहैं घर नाहिं अमायो॥
नित्य-निकेत सकेत बसै, जहँ मुक्ति सदा सिर आय नवायो।
देखत औधपुरी हिय मैं, सुख लोक तथा परलोक समायो॥

सरयू

रोला छंद

[५४]

कीरति मम पुरखानि, प्रकासनि सरयू सोहैं।
निरमल नीर नहात, निहारि नारि नर मोहैं॥
करती शोभित पुरी, आपु शोभा नित पावति।
जनु द्वउ सखी सयानि, भूप-नायकहिं रिझावति॥

अवधवासी

[५५]

विविध भाँति के सदन, मदन-रति सम नर नारी।
वसत मुदित नित देखि, धुनत शिर अमर-विहारी॥
तनु-बल, साहस-हिये, तबहुँ वर विनय सुबोलैं।
सिन्धु अगाध महान, मही-तल सों दवि डोलैं॥

अवध की सुंदरी

[५६]

सुमुखि-सरोज-स्वरूप, सुंदरी सुंदर सोहैं।
सजे सुचारु सिंगार, सुहागिनि सुर नर मोहैं॥
लाज दाबि पग धरति, सकुचि मग गजगामिनि जहँ।
पीय रिझावन चतुर, तिया पतिव्रत पालति तहँ॥

कवि

[५७]

अमित कल्पना-राशि, लोक तीनहुँ लौं देखत।
दीरघ-दरसी चतुर, सहज त्रयकालहु पेखत॥
बरनन विशद प्रसाद, ओज माधुर्य श्रवण-सुख।
निरत करत करतव्य, प्रजा नृप कौं सब लख मुख॥

[५८]

प्रकृति-परख-परबीन, पीन-मति जल-थल-नभ-चर।
देश काल विज्ञान, विज्ञ पंडित धीरज धर॥
सहजहु रूप सँवारि, सुघर सुंदर रचि देवैं।
परम स्वतंत्र सयान, मान वर विनय जु सेवैं॥

मंत्री

[५६]

मंत्री मंत्र स्वतंत्र, देत नहिं करत भूप-भय।
धीर वीर गंभीर, चतुर नय-कुशल लहत जय॥
देश-प्रेम परिपूर, रहत उत्साह सतत मन।
धर्म-भीरु करतव्य, निरत रच्छत दुःखित जन॥

सेना-नायक

[६०]

कुशल व्यूह बहु रचन, प्रबल दृढ़ धीर वीर वर।
समर करन अति निपुन, हरत दुख निज योधन कर॥
अरि-दल मारन चतुर, सबिधि रच्छत सेना कहँ।
चालन-चमू-प्रवीन, विजय रन लेत दौरि तहँ॥

दूत

[६१]

चतुर-रचन-वर-वचन, शत्रु भयभीत होत सुनि।
स्वामि-प्रताप बखानि, कार्य साधत छल-बल गुनि॥
विग्रह संधि निधान, विज्ञ गंभीर भखत कम।
देश-देश-नय-निपुन, भेद को जानत इन सम॥

सेना

[६२]

पदचर रथ गज बाजि, सजी चतुरंगि सेन भल।
विविध शस्त्र अरु अस्त्र, धरे इत-उत विचरत दल॥
साहस बल सब भरे, वीर मेघन सम गरजत।
बाजा मारू बजत, सुनत कादर-तिय बरजत॥

अश्व

[६३]

सहसन बाजी बँधे, विविध गुन रूप-रंग के।
चौंकत लगत बयारि, चपल चष दिखत जंग के॥
खनत मही बँधि थान, टाप टापत दौरन हित।
थिरकि तुड़ावन चहत, रहत नहिं थिर छनहूँ जित॥

गज

[६४]

कुंभ उच्च मद बहत, मधुप-गन गान सुनावत।
कर्ण चपल चलु डोलि, ब्यजन अलि अतिथि मनावत॥
अरि दल रन बिच दलत, हरत उत्साह शत्रु कर।
कज्जल-गिरि सम खड़े, बहैं मद मनु झरना झर॥

दुर्ग

[६५]

दुर्ग-कोट अति ऊँच, सुरँग बहु भीतर गाजत।
चढ़ी कँगूरन तोप, चलत अरि-दल सब भाजत।।
जल परिखा चहुँ ओर, बीच बाहिनी बिराजै।
प्रहरी सजन सचेत, देत रन शत्रु पराजै।।

नंदिग्राम

[६६]

देखि नगर वर वीर, लौटि तुम दच्छिन आयहु।
नंदिग्राम सुचि ठाम, ठहरि नहि आगे जायहु।।
बसत भरत भूपाल, प्रजा पालत भल नित जहँ।
छनिक कन्यहु विश्राम, बाग वापी अराम तहँ।।

[६७]

भव्य भवन बहु बने, राज-कारज होवैं तहँ।
निरत काम निज रहत, उच्च अधिकारी सब जहँ।।
मंत्री रचत विधान, बैठि प्रहरी जन रोकत।
नृप-गन इत-उत जात, पथिक मारग अवलोकत।।

[६८]

शासन सेना राज कृषी, उद्यम सब जागो।
शिक्षा न्याय-विचार, कोष कर दान विभागो।।

विधि-विधान-युत करत, काज प्रमुदित जहँ सब जन।
सत-विचार नित निरत, रखत नहिं तनिक लोभ मन॥

भरत का तपस्थल

[६९]

आगे बढ़ि कछु दूरि, दखिन दिसि उपवन राजै।
त्यहि बिच भरत भुवाल, करत तप तपसिन लाजै॥
पर्णशाल महँ रहत, पादुकन नित सिर नावत।
अहंकार कौं त्यागि, सदा मम यश भल गावत॥

[७०]

नारद ऋषि जस कह्यो, भरत कर पता बतायों।
जाय तहाँ कछु बेर, बैठि निज समय बितायो॥
चहिय न तुरतै जान, ठाम अनजान होय जहँ।
बिन बिचारि धरि पाँव, गिरत गज गहिर गर्त महँ॥

राजा के स्वार्थी सहचर

[७१]

स्वारथ साधन चहत, सकल जन नृप ढिग बसि भल।
ईर्षा-द्वेष दिखात, करत अनइस रखि मन छल॥
स्वारथि भूपहु बनत, दोष सँग कस नहिं लागै।
घन नभ दूरि दिखात, तबहुँ छाया छिति छाजै॥

दरबार की परख

[७२]

लख्यो कौन जन जान, भरत पहँ इन-उन धावैं।
दीन दुखी दुरियाय, द्वार सों तो नहिं जावैं ?
दुखी न आवैं पास, तवै सेवक, नृप, दोषी।
निकट नरेशहि जाय, जवै अधिकारी रोषी ॥

भेंट का अवसर

[७३]

सचिव समीप नरेश, देखि नहिं ढिग तुम जायहु।
राज-मंत्रणा करन, भूमि भीतर जनि धायहु ॥
दुःख सुनावन दीन, जवै प्रिय दूरि रह्यो तत्र।
नृप-मन व्याकुल होत, कसक हरि लेउँ कष्ट सत्र ॥

[७४]

शत्रु सँघारन हेत, करत सेनापति वातैं।
चौगुनि चिंता चित्त, वित्त महि धन कर घातैं ॥
मुनि जन जब उपदेस, देत जग नश्वर गावैं।
मन विराग तब उदय, होन नहिं कछुक सुहावैं ॥

[७५]

कवि कोविद कह कबित, उपज मन बहु विनोद जब।
मन प्रसन्न नृप रहत, सधत सब काज गये तब ॥
मधुकर मधु-मकरंद, हेत भोरहिं भल धावै।
पावत नव-रस-मधुर, अधर धरि गान सुहावै ॥

बोलने में सावधानता

[७६]

उचित समय भल सोचि, भ्रात ढिग तुम तब जायहु।
मति मन साथै जोरि, हृदय मस्तिष्क मिलायहु ॥
शब्द अर्थ अरु भाव, भले तुम प्रथम बिचार्‍यो।
मृदुल विनय वर-बानि, शब्द गंभीर उचार्‍यो ॥

रूपमाला छंद

[७७]

सहित सीता लखन कपि-दल, शीघ्र आवत धाम।
कह्यो भरतहिं जाय सुनि ते, लहैं मन विश्राम ॥
करब भोर पयान हम सब, चढ़ि विमान महान।
जाहु हनुमत ! आजु ही अब, करु न देर सयान ॥



अष्टादश सर्ग

भरत का वियोगानुभव

रोला छंद

[१]

चातक रटत अकास, नहीं घनश्याम दिखावै।
प्रीतम रहत न साथ, तबौं नहिं प्रीति नसावै॥
लखि वसंत का अंत, मौन मुख कोकिल भइ जब।
उठत विरह की पीर, बोलि नहिं आवत कछु तब॥

[२]

पकरि मृगी लै गयो, बधिक त्यहि जाल डारि कै।
तलफत सावक दुखित, दसा जननी निहारि कै॥
लेइ मातु सों छीनि, सुवन व्याकुल बहु रोवत।
द्विज सपंख नवजात, सभय दुखि इत-उत जोवत॥

[३]

मीन विकल बिनु वारि, कमल रवि बिनु मुरझावैं ।
शशि बिनु लखु न चकोर, मंद ह्वै दिवस बितावैं ॥
धेनु बिना जिमि वत्स, पंख बिनु द्विज शिशु जैसे ।
व्याकुल भरत भुवाल, राम बिनु निसिदिन तैसे ॥

[४]

नाम रटनि दिन-राति, ध्यान हिय रूपहि कौं करि ।
प्रेम वारि उमड़ात, गात पुलकित दृग जल भरि ॥
दिखत नैन नहिं कान, सुनत नहिं बात आन की ।
रामहिं की रटि लागि, भूलि सुधि देह प्रान की ॥

[५]

रवि-रघुबर-नवनेह, उदय परकास हिये जग ।
धर्म-सत्य पथ विमल, चलत कबहूँ नहिं डिग पग ॥
शांति-किरन कौं पाय, कमल-आतम अनुभव फुल ।
भक्ति-सरस-मकरंद, पियत भल जीवहु अलि-कुल ॥

[६]

* किरन-राह चलि जात, चकोरी चतुर चन्द्र ढिग ।
राम निकट नित रहत, भरत मन नेकहु नहिं डिग ॥

* राम का मन भरत के पास और भरत का मन राम के पास

वसत भूप तन अवध, रह्यो मन रघुबर-पद लस।
राम ढूँढ़ तन-भरत, भरत ढूँढ़त रामहिं तस॥

[७]

चित्रकूट सों चल्यो तबै, प्रभु बचन दीन्ह म्वहिं।
वन बिच अवधि बिताय, अवधपुर दिखब आय त्वहिं॥
बिते मास अरु बर्ष, रहे दुइ चारि और दिन।
पायों नहिं कछु हाल, हृदय उमड़त दुख छिन छिन॥

[८]

शरद-गरद कौं देखि, सपदि खंजन चलि आवत।
मधुर बोल पिक बोल, भौंर बौरन लखि धावत॥
वन मयूर गन नचत, घिरत नभ बिच जब घन[1] घन[2]।
मेघ भरैं नदि नार, लगै झरि सावन ज्यहि छन॥

[९]

सूर्यवंश अति विमल, वचन सबही प्रति पाल्यो।
हरिश्चन्द्र तनु बेंचि, तिया सुत नाहिं सम्हाऱ्यो॥

---

(१) मेघ, (२) समूह,।

रहता है, किन्तु एक दूसरे के मन से भेंट नहीं होती; क्योंकि हर-एक दूसरे के हृदय में उपस्थित रहता है, और वहाँ पर वह है ही नहीं।

अबहुँ डगर यह सुनत, सगर निज सुत कौं त्याग्यौ।
भूप प्रतिज्ञा-बद्ध, प्रजा-पालन अनुराग्यो ॥

[१०]

मम पितु छाँड्यो प्राण, बचन झूँठो नहिं कीन्हो।
सह्यो दुसह दुख ताप, तबौं मन अनत न दीन्हो ॥
फिरि कस राम न करहिं, सत्य रविकुल नित चीन्हे।
वृक्ष बीज अनरूप, सदा फूलत फल लीन्हे ॥

[११]

कबहुँ न बोलत वचन, झूँठ रघुवर सपन्यहु महँ।
कस न अवध तब लौटि, दरस देवैं प्रभु म्वहिं यहँ ॥
का नहिं पावत सीपि, स्वाति बरसत जल झर झर।
कब न बसंत बुलाय, सुनत पंचम स्वर पिक कर ॥

कर्म-प्रभाव

[१२]

समुझि न गति विधि परत, करम-कड़ि कस बहु जुरि कर।
विधि सुर नर सब जीव, नचावत दुख दै दर दर ॥
आपु बढ़त जस जनम, बढ़ावत करि संचय बहु।
करम करम सों उपज, अमित को मेट्यो कब कहु ?

[१३]

सागर कहूँ सुखात, मिलत आकास-अंत कब ?
रही मिठाई नाहिं, कहै को मीठहु त्यहि तब ॥
नसत न कारन काज, परत बिच परत परे ढय ।
करम रहत कस मुकति, मुकति बिनु छुटत न भव-भय ॥

[१४]

ब्याज बढ़ावत मूल, धनहु मिलि बहु दिन राती ।
सलिल सोत सों निकर, कसक धारा रुक जाती ॥
ताप तपन की बढ़त, छनहि छन उदय कोर ते ।
करम बन्यो यक बार, बढ्यो फिर बड़े जोर ते ॥

[१५]

बरनि सकौं क्यहि भाँति, करम अवगुन मैं अपने ।
दिनहुँ राति सम भयो, दिखत जागत जग सपने ॥
पाप नसाय नहाय, गंग जो भूलि कबहुँ नर ।
मम हित सो भइ बिकट, करमनासा सुकृतहु जर ॥

[१६]

विधि शिव सुर नर नाग, निरंतर ध्यान करत ज्यहि ।
भयों ताहि को भाय, तबौं दुख नस्यो नाहिं ढहि ॥

काह सूर्य को दोष, दिवस देखत उल्लूक नहिं।
लोह सोन नहिं भयो, लयो जब पारसहू गहि॥

[१७]

करम फाँस फँसि पर्‌यों, शक्ति निकरन कहँ पावों।
दीन दुखी अति निबल, प्रबल बल कसक नसावों॥
षटदल दलत जु रोज, खोज कतहूँ नहिं लागै।
छनहिं दुरत छन प्रगट, कपट छल करि फिरि भागै॥

[१८]

काम क्रोध मद लोभ, मोह मन मान मान कर।
जारत हिये विवेक, सत्य मरजाद धर्म वर॥
दावानल जिमि लागि, आगि भीतर नित बरती।
कटुक-वचन-चिनगारि, जाय दूसर घर जरती॥

[१९]

जागत सोवत चलत, मनहिं बिच यहै बिचारै।
क्यहि विधि धन बहु मिलै, धरा जन धाम सुधारै॥
विकल काम की दाह, बसी कामिनि मन माहीं।
रोग लीन्ह तनु दाबि, तबौं कहरत तिय चाहीं॥

[२०]

बनत सयान अयान, परै जब मोह पास बिच।
चलत न कछू उपाय, धाय जब प्रीति लेत खिंच॥
मान सुरा कौ पान, करत जो नर जगतीतल।
नीच बनत धरि गरब, नसत सरबस व्याकुल भल॥

[२१]

मति मलीन अति दीन, विषय-रत जानहु स्वामी।
कर्म-दोष-वश दुखी, बहुत हौं अंतरयामी॥
सहि न सकत अब अधिक, कष्ट करुनाकर नाथा।
कहुँ नहिं ठौर दिखात, धरत प्रभु-पद-रज माथा॥

[२२]

प्रबल प्रतापी सूर, भूप विद्वान धनिक नर।
राजनीति अति कुशल, कला-कौशल पंडित वर॥
जगत बीच बहु मान, बड़ाई सब सों पावै।
तबौं एक दिन विवश, सबै मुख मृत्युहु धावै॥

[२३]

चित्तहु चिंता घोर, कहौं सुख सपन न दीखैं।
अन्य लखत इन सुखी, दुखी आपुहि गनि झीखैं॥

यक दूसर कौं ठगत, ठगिहुँ को ठगत ठाटि ठग।
फिरिहु दौर करि पूरि, धूरि मिलि जावै सब जग ॥

दीनता-प्रकाश

[२४]

कहौ जाउँ क्यहि पास, अहै समरथ को अस नर।
दुःख दूरि करि देइ, धोइ मल त्रिविध हृदय कर ॥
भवसागर के बीच, वीचि-माया उठ छन-छन।
को बपुरा कर पार, बिना तव कृपा-यान घन ॥

[२५]

बिन केवट के नाव, खेइ कहुँ जात घाट तिर।
इत-उत घूमत ठौर, धार परि बहत जोर फिर ॥
लगत उपाय न नेकु, कसक जन जाय कहौ कहँ।
करत जानि अति भलो, बुरो होवत अपनै तहँ ॥

[२६]

माली रच्छत छोट, पेड़ निरबल तिन जानै।
आलवाल सों घेरि, सदा सेवा मन ठानै ॥
बढ़ि बिसाल तरु भयो, तबहुँ चिंता का राखै ?
ऊँच खींचि लिय नीच, दीन बानी जब भाखै ॥

[२७]

कब लघु बढ़े दिखान, बड़े जब नाहिं बढ़ायो।
महि पग दबि परि धूरि, पवन नभ ताहि चढ़ायो ॥
छोट्यन छोट बिचारि, बड़े नित उनहिं बढ़ावैं।
छापि लेत नदि उमड़ि, नार तब बढ़े दिखावैं ॥

[२८]

दीन्ह मोहिं जब काज, प्रजा-पालन राज्यासन ॥
चौदह बरस निबाहि, कीन्ह कौनिउ विधि शासन ॥
अब मम मन नहिं लगत, दरस प्रभु चरनन चाहै।
बिहँग बसेरो छाँड़ि, लेत भोरहिं बन गहै ॥

[२९]

जो आज्ञा प्रभु दीन्ह, कीन्ह पालन सब विधि सों।
सह्यो दुसह दुख भूरि, दूरि रहि प्रभु सुखनिधि सों ॥
हिमकर-कर हिम रूप, तबहुँ चलि दूरि नसावै।
सूर्य्य-उष्णता पाय, वायु सँग गरम जनावै ॥

[३०]

पृथक रहे नहिं कौन, अपन करतव्य न छोड़्यो।
जीव नाम धरि ब्रह्म, नात-माया सँग जोड़्यो ॥

बनि तुषार जल सतत, शैल-शिर पर नित बिलस्यो।
संग मूत्र-मल बह्यो, बिलग ह्वै माहि जब परस्यो॥

[३१]

नहिं वियोग सहि जात, नाथ दीजै अब दरसन।
सूखत धान निहारि, चहत घन सों जन बरसन॥
कसक सहौं दुख दाह, रही नहिं शक्ति-सहन जिय।
थकत जबै वर-वाजि, रहत नहिं साहस त्यहि हिय॥

[३२]

तुमसों नहिं कछु छिप्यो, निरंतर घट-घट-वासी।
नव वासना विलास, सदा चंचल चित आसी॥
कौन सुकृत मन गयो, चरन पंकज प्रभु पासा।
लौटन कस तुम देउ, नाथ होवै तव हासा॥

[३३]

जब लौं तव सँग रह्यों, नहीं प्रभु दूरि दिखायो।
पठै ताहि इत ओर, मोहिं दुख विरह सहायो॥
सेवा नहिं का कीन्ह, चरन-पंकज मन बसि कै?
कमल न जो सुख देइ, कसक जाँचत अलि लसि कै॥

करुण क्रंदन

[३४]

तुम दयाल सरवज्ञ, सतत दासन दुख नाम्यो।
दीनदयाल कहाय, हाय म्वहिं दीनहिं राख्यो॥
पहुँचि गयो जो पास, ताहि माया नहिं घेन्यो।
हिम-गिरि-दरि दुरि बैठि, तबहुँ ग्रीषम कस नेन्यो॥

[३५]

हे करुनाकर! करहु, कृपा बलि जाउँ तिहारी।
दरस आस रह प्रान, सकौं तन नाहिं सम्हारी॥
सुमिरि जबहिं प्रभु कोउ, कह्यो रच्छहु दुख भारी।
दीन्ह भूरि-सुख ताहि, लीन्ह दुख-भार सम्हारी॥

[३६]

कस नहिं प्रभु तुम सुनहु, दीन बानी मैं भाखौं।
गरब रह्यो सो गयो, कछुक बल नहिं मन राखौं॥
दीनबन्धु कहवाय, द्वार दीनहु चहि देखन।
दीनदयाल सवाल, दयो लिखि तव पद-रेखन॥

[३७]

कसक न द्रवौ दयालु, स्रवै जल दृगनि निरंतर।
निकट नाथ के आय, रख्यों का अबहूँ अंतर?

शुद्ध हृदय जन होत, सुमिरि तव नाम विमल यश।
फैल्यो रवि-परकास, सकत तम तहँ रहि छिपि कस ?

कुंडलिया

[३८]

चित थिर करुनाकर करहु, शांति लहै तनु प्रान।
बीते त्यहि के रहहिं नहिं, अति मानी रख सान॥
अति मानी रख सान, दरस बिनु जियन न चाहैं।
कह्यो जौन सो कीन्ह, सह्यो बहु विरह बिथा हैं॥
लू जलाक की ताप, सहत तरुवर ग्रीषम नित।
राखि हिये बड़ि आस, बरसि घन करहिं शांत चित॥

अवध में हनुमान

रूपमाला छंद

[३९]

अवध हनुमत पहुँचि देखत, प्रजा मंत्री सेन।
विकल बिलपति जननि जन सब, वत्स बिनु जिमि धेन॥
अवधि बीतन चहत अवधहु, दिखत ना अभिराम।
करहिं प्रान पयान तनु सों, राम बिनु न अराम॥

[४०]

लागि दावा घिर्‌यो बन जन, दिखत मारग नाहिं।
थक्यौ पैरत निकट तट के, तहँ न तरनि जनाहिं॥
जेठ तृन सहि लू जलाकहु, बारि पावस आस।
भरत-चातक अवधि घन लखु, दरस-राम पियास॥

भरत का हृदय-स्थल

[४१]

ज्ञान जहँ प्रतिहार सोहत, सदन-हृदय ललाम।
स्वच्छता भल सत्य राजति, भीति-दृढ़ना धाम॥
सरल-भाव-गवाक्ष बहु अरु, दया-द्वार दिखात।
धर्म-खंभ सुधीर-चट जहँ, छति-छमा दरसात॥

[४२]

गंभीरता की कोठरी जहँ, बिरति बंद किवाँर।
बुद्धि-सात्विक सेवती भल, दिपत दीप विचार॥
चित्र चित्रित चरित प्रभु के, चहुँ दिसा अभिराम।
भरत भूपति करत स्वागत, राम आठहु याम॥

प्रभु का सुयश-गान

[४३]

मधुर बोली बोल कोकिल, करत रसिक निहाल।
गरज मेघनि सुनत जबहीं, होत मोर बिहाल॥
बीन बाजत मत्त मृग ह्वै, रख न सुधि कछु आन।
यश सुनावन चहत प्रभु कौं, पौन-पूत सयान॥

[४४]

दीनबंधु दयालु राघव, राम करुनाधाम।
भक्त-वत्सल भाव भावत, हरत जन अघ काम॥
करुना अकारन करत ततछन, देखि दीन मलीन।
नीच-बानर-पामरन कौं, कीन्ह चरनन लीन॥

[४५]

दुरित दारिद दुख दुरावत, रखत आस न पास।
देत निज बल निबल सब विधि, विजय लह नित दास॥
सुनत आरत वचन दौरत, लेत धाय बचाय।
करत सुर नर मुनि प्रशंसा, जयति जय रघुराय॥

[४६]

जग अपार न पार पावत, देव ऋषि मुनि कोउ।
चलत निसि-दिन बढ़ न पग यक, तपत तप नित जोउ॥

नाम-बल सों सुलभ होनो, जात छन भव-पार।
देर लागत दमकि दामिनि, कर न बेर उबार॥

[४७]

पील और पिपीलिका की, करत चिंता तौन।
सम्बन्ध जोरत साथ ताके, नाम रटतो जौन॥
दूरि कोस हजार यन्त्रहु, जब सुनावत गीत।
बसत प्रभु हिय सबन के तब, कस न करु परतीत॥

[४८]

अपराध कोटिन कीन्ह जन जो, बहुत जन्मन माहिं।
होत सन्मुख नसत आपुइ, तम न रवि ढिग जाहिं॥
प्रभु करत पावन पतित पापी, मूढ़ पंडित होय।
परत दृष्टि सु नेक ज्यहि पर, बनत जगपति सोय॥

[४६]

लोक गौरव बुद्धि विद्या, स्वार्थ संग नसात।
स्वल्प जल लै बहति सरिता, सूखि ग्रीषम जात॥
भजन-घन नित वारि-अनुभव, वरस जन महि भूर।
छोट दरपन छोट मुख लखु, बड़ो में तन पूर॥

[५०]

राम रसना रटत जो जन, करत मन महँ ध्यान।
भक्तवत्सल बसत हिय नित, बढ़त अनुभव ज्ञान॥
योग-साधन करत जन्मन, तबहुँ सिद्धि न पाव।
त्रयकाल-दरशी बनत मूढ़हु, नाम रूप प्रभाव॥

[५१]

ज्ञान योग प्रयोग जब लौं, होत मन-गति शोध।
बनत चंचल छुटत ध्यानहि, करि सक्यो नहिं बोध॥
विषय-आसा भरी जामें, कस न सों लपटाय।
भक्ति-अमृत-प्रेम परसै, पान करतो धाय॥

[५२]

पार कर बिनु नाव भवनिधि, देर लागत नाहिं।
सेन-माया हारि जन सों, नीच शिर कर जाहिं॥
रखत यक बिस्वास आसा, राम-चरनन केरि।
चहत कछु ना तबौं घेरे, रहति रिधि-सिधि चेरि॥

भरत-हनुमान-भेंट

[५३]

करत हनुमत गान प्रभु-यश, राम भ्रात सुनाय।
सुनत कीरति नाथ की निज, भरत कह हुलसाय॥

को अहौ बलि निकट आवहु, देहु शीघ्र बताय।
हैं कहाँ? कब इतै आवत? कुशल श्रीरघुराय?

[५४]

प्रान चाह्यो जान तनु सों, रुक्यो सुनि तब बात।
कहिय राउर कौन हैं अरु, कसक जानत तात?
नाम हनुमत, जाति बानर, दास हौं प्रभु केर।
खबरि लायों नाथ आवत, नहीं तनिकौ बेर॥

[५५]

जीति रावण लखन सीता, सङ्ग बानर सेन।
चढ़े पुष्पक राम आवत, नाथ कौं सुख देन॥
नहिं समान्यो हर्ष मन महँ, बहन लागे आँसु।
भेंटि हनुमत सपदि प्रमुदित, भरत भो मन आसु॥

स्वागत-प्रबंध

[५६]

कहत हरषित भ्रात सों अस, खबरि मातन देहु।
लखन सीता राम आवत, तनिक नहिं संदेहु॥
करहु स्वागत-साज सब विधि, होय नाहिं बिलंब।
लै कुटुंबी बधू वर्गहु, सपदि आवैं अंब॥

[५७]

कहौ गुरु सों जाय तुरतै, दीनबंधु ललाम।
जीति रावन अवध आवत, पूर भे मन-काम॥
नगर बीथी गली मग घर, स्वच्छ सबही होय।
सरित-सरयू-घाट जेते, साज सब विधि जोय॥

[५८]

दूत पठवहु दिसा चहुँ मैं, न्यवति नृप-गन देहु।
विप्र-वृंदन वंदि पग तिन, सहित आदर लेहु॥
सम्बन्धि जन सादर बुलावहु, आय देखैं राम।
परिवार सँग मिथिलेश आवैं, लखैं आनँद-धाम॥

भरत-प्रेमांजलि

[५९]

करि बिदा रिपुदमन कौं तब, देखि हनुमत ओर।
का देउँ तुमको प्रानदाता, दब्यों भार-निहोर॥
निदरतीं रति रूप गुन मैं, सुमुखि सुंदरि जौन।
देहुँ तिनकौं करन सेवा, लेहु बहुती तौन॥

[६०]

ग्राम धाम सुभूमि लीजै, विपुल सेवक सेन।
कहिय औरहु काह चाहिय, भरत चाहत देन॥

चक्रवर्ती राम-राजा, अमित सम्पति धाम।
कमी काहू बात की नहिं, नाथ पूरन काम॥

हनुमानजी की निष्कामना

[६१]

कुशल बोलन में महा, अति बुद्धि विद्या-धाम।
कर जोरि बोले वचन हनुमत, विनय-युत निष्काम॥
वसि हिमालय ताप कस लग, कहुँ तुषारहू तात?
प्रभु समीपहु वासना रह, कसक कहि अस जात?

[६२]

सघन घन चहुँ दिसा फैले, तमक भूरि तग्वाय?
तृप्ति व्यंजन विविध सों भइ, सकल नद्य कस ग्वाय?
तट अवास सुपास सुरसरि, ग्वारि जल को पीव।
जगत-पति के चरन सेवत, विषय तकि सक जीव?

[६३]

देन लायक नाथ हैं सब, यह नहीं बड़ि बात।
सिन्धु मनि-गन रत्न मुकता, फेंकि तट हरषात॥
बरसतो घन जल कहाँ नहि, घेरि नभ सब ठौर।
चहत चातक स्वाति-बूँदहिं, तकत दिसि नहि और॥

[६४]

चरन-सेवा करत निसिदिन, राम की करि प्रीति।
कछु न चाहिय मोहिं आनहु, भई प्रभु परतीत ॥
कमल-दल रस लेइ मधुकर, कस कटेरिहि जाइ ?
का नहिं दिखायहु नाथ मारग, राज-साज विहाइ ?

[६५]

भरत चाह्यो अंक भेंटन, धर्‍यो सिर पग दौरि।
धन्य हनुमत बुद्धि तव भलि, चहत सेवन पौरि ॥
निष्काम सेवत जगत-पति कौं, कीन्ह निज वश राम।
उदय दिनकर होत जग तब, रहत कहँ तम धाम ?

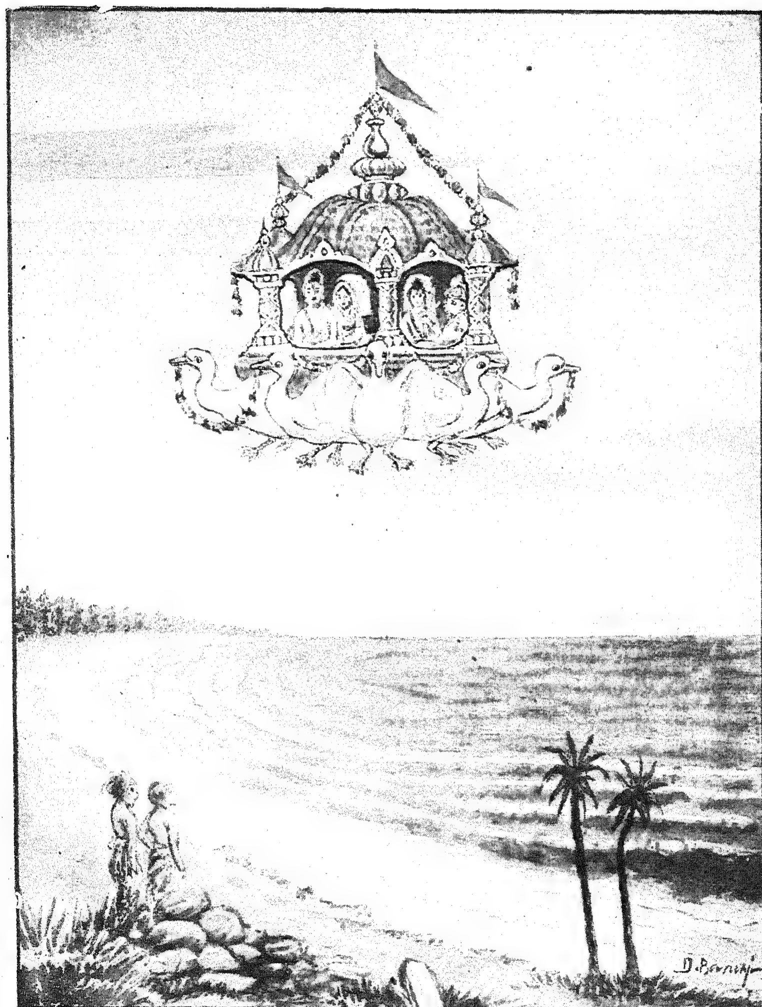
विमान

[६६]

इत विमान अकास धावत, मेघ मारुत बीच।
महि पताल समान दरसत, दिखत ऊँच न नीच ॥
शिखर धाम विशाल वृत्तहु, भूमि चिपटि लखाय।
पहुमि कागज चित्र घर तरु, हरित श्वेत सुहाय ॥

[६७]

अवध लंका अवनि-तल बस, चलत लागत देर।
चल्यो जबहिं अकास-मारग, भई तनिक न बेर ॥



पुष्पक विमान

ब्रह्म-आनँद भोग बिषयहु, दोउ सुख जन देत।
एक को जब त्याग देतो, तबहिं दूसर लेत॥

[६८]

नगर वन मुनि ठाम गिरि नदि, दूरि सन्मुख जौन।
पल न बीतत शीघ्र गति अति, होत पाछे तौन॥
जहँ दिखावत राम मुनि-थल, विषय लेत विराग।
पुष्प-बरसा करति सीता, पुलकि मन अनुराग॥

[६९]

राम सीता लखन कपि-दल, लंकपति सुग्रीव।
साथ लीन्हे परम हरषित, मारि रन दशग्रीव॥
उदधि देस अनेक गिरि सरि, पार कीन्ह विमान।
निकट पहुँच्यो अवधपुर के, वायु-वेग-प्रमान॥

श्रीराम-भरत-मिलाप

[७०]

करन स्वागत राम को सब, अवध जन हरषाय।
युवा बनिता बृद्ध बालक, चले अति अतुराय॥
आय नंदिग्राम ठाढ़े, गुरु वशिष्ठ समेत।
चढ़ीं पालकि बधू जननी, राम-दरसन हेत॥

[७१]

प्रथम पच्छी सम लख्यो नभ, दूरि-देश विमान।
निकरि घन सों उदित रवि जिमि, तिमि अकास दिखान॥
"आइगे! वह आइगे!!" सब कह्यो एकहि साथ।
जय-राम, जय-जय राम-सीता, बदत नावत माथ॥

[७२]

राम जनता देखि तिन पर, पुष्प बरषा कीन।
अवध की परदच्छिना करि, नम्यो सिर परबीन॥
उतरि भूमि सप्रेम भेंट्यो, भरत हीय लगाय।
बूँद सिंधुहि सिंधु बूँदहि, मिलत सहज सुभाय॥

[७३]

पाय पावस भेक हरषित, मेघ गरजत मोर।
शरद आवत मिलत खंजन, करत मोद न थोर॥
देखि नवदल सुरभि सौरभ, भौंर भीरहु भोर।
मौन-व्रत पिक छोंड़ि गावत, राग पंचम जोर॥

[७४]

राम-भरत-मिलाप को कवि, कहत पार न पाव।
मूक कहुँ भल गीत गावत, पंगु गिरि कस धाव?



कवित विरचित कल्पना-मय, तौन जग आधार।
रत्न-मणि नहिं परख सकतो, काँच-बेंचनहार॥

[७५]

प्रेम-लौकिक स्वार्थमय जग, एक दूसर खींच।
अति अलौकिक भाव प्रगट्यो, पहुँच मति न नगीच॥
बीच सागर वीचि उठतीं, कसक लख थल जाहि ?
ज्यहि दिखावत आपु प्रभु जब, कहत लौटि न ताहि॥

[७६]

राम मातन मिले पग परि, प्रेम हिय उमड़ाय।
उर लाय चूमत बहत दृग जल, मन न हर्ष समाय॥
नमत भ्राता-बधू सब मिलि, जोरि कै कर सीस।
मुदित भईं सिय राम सों लहि, बार-बार असीस॥

[७७]

जाइ गुरु के परे चरनन, लखन सीता-राम।
सत्य साहस सुमति सँग जनु, धर्म सेव निकाम॥
एक एकन सों मिले गहि, भेंटि भुज पुरवासि।
लहत तरु तृन छोट बड़ सब, मेघ सों जल-रासि॥

[७८]

सह उमंग सुघोष चहुँदिसि, करत जय-जय शब्द ।
राम सीता लखन आये, बिते चौदह अब्द ॥
बाल बनिता वृद्ध सब जन, हरषि गावत गीत ।
चले नगर लिवाइ रामहिं, डारि महि पट-पीत ॥

राजतिलक

रोला छंद

[७६]

भरत कह्यो कर जोरि, देर कीजै नहिं गुरु अब ।
होय चित्त थिर मोर, राम राजा होवैं जब ॥
विधि-सुत हँसि कह भरत, सजहु सब साज तिलक कर ।
आनँद-घन घिरि देश, बरस सुख-जल भरु हिय सर ॥

[८०]

चहल-पहल दिन राति, नगर नर-नारि-निकर चल ।
गावत मंगल गीत, युवति जन जात डगर भल ॥
बाँधत बंदनवार, थापि रंभा चहुँदिसि तहँ ।
विविध खंभ रचि धरत, कनक रंजित कलसौ जहँ ॥



राज-गद्दी ।

[८१]

स्वच्छ स्वेत मग झलक, बनी हीरा मुकता-चट।
अरुण राह कहुँ दिखत, मनो विद्रुम बहु लगि पट ॥
अवनि-चतुष्पथ हरित, जड़े मनि हरित तहाँ बहु।
भई रत्नमय मही, दिखत नहिं रज-कन यक कहुँ ॥

[८२]

पुष्प पात्र बहु धरे, द्वार वीथी गलि मग घर।
मनि समूह के बने, दीप-तरु रंग-बिरँग बर ॥
विविध भाँति के सदन, बने सुंदर मनभावन।
शिखर छुवत नभ सुलभ, भयो सुर-पुर अब धावन ॥

[८३]

देस देस के नृपन, भरत सब न्यवति बुलाये।
कवि पंडित विद्वान, गुनी-गन ऋषि-मुनि आये ॥
विधि शिव श्रीपति इन्द्र, वृन्द-वृन्दारक धाये।
लखन राम अभिषेक, कहो क्यहि अवध न भाये ?

[८४]

गनि गुरु नीक मुहूर्त, कह्यो शुभ समय सुहायो।
राम-तिलक अब होय, सुनत मन हर्ष समायो ॥

बाजन बाजन लगे, गीत गावति युवती-गन।
पढ़त वेद बुध-वृन्द, सकल जनता पुलकित तन॥

[८५]

भयो सभा जय-घोष, राम सीता प्रबिसे जब।
जनता बरसत फूल, उमड़ि आयो सुख-निधि तब॥
लै वशिष्ट वर-विप्र, राम-अभिषेक करन हित।
उठे लग्न शुभ सोधि, करत सुमिरन हरि को चित॥

[८६]

राम-तिलक गुरु कीन्ह, लोक-विधि वेद-रीति सों।
आत्म-सुखहि अनुराग, करत जनु धर्म प्रीति सों॥
देश देश के भूप, लगे सबही सिर नावन।
सदाचार के संग, होत सब वृत्तिहु पावन॥

[८७]

लगे देन सब भूप, भेंट रामहिं हरषित चित।
प्रमुदित प्रजा समाज, धर्‍यो सनमुख बहुविधि वित॥
योधा खड्ग निकारि, प्रान-बलि चहत देन जनु।
जीति आपु जो लीन, जित्यो सब दल माया मनु॥

[८८]

ऋषि मुनि विप्र-समाज, विविध विधि आशिष देहीं।
सुख-समृद्धि-वर-बीज, राम सिर धरि त्यहि लेहीं॥
सुरपति दीन्हों भेंट, तिलक शिव विधि श्रीपति किय।
लोक और परलोक, सुखी भे लखे राम सिय॥

[८९]

उठे भरत कर जोरि, नाय सिर कह मृदु बानी।
सुनिय महा महिपाल, राज की सकल कहानी॥
कोष-वृद्धि बहु भई, यदपि लीन्हो समुचित कर।
सुखी प्रजा सब भाँति, होत मंगल नित घर-घर॥

[९०]

देश-देश के भूप, मित्र बनि करत प्रीति नित।
चोर चबाइ लबार, दिखत नाहीं ढूँढ्यहु इत॥
व्यभिचारी नहिं कोउ, रखत पति-पतिनी प्रीती।
धर्म सुपथ सब चलत, नित्य पालत सुचि नीती॥

[९१]

धर्म सत्य हिय माहिं, न मन कहुँ अनते जातो।
पशु सँग पशुपति साथ, कसक पर-खेतन खातो?

निज वृत्तिन सब निरत, सदा वर्णाश्रम पालैं।
भूलि न दुख नगिचाय, चलत नहिं अनुचित चालैं॥

[९२]

जीवन-कारण पवन, सकल जीवन कौं जग महँ।
प्रभु-पद-प्रीति प्रभाव, सधत साधन सबही तहँ॥
थाती सौंप्यो मोहिं, लेहु अब राज समाजू।
सेवक सेवा चहति, यहै वर दीजै आजू॥

श्री रामचंद्र

[९३]

चक्रवर्ति रघुबीर कह्यो, गंभीर वचन तब।
शासन-पालन-कुशल, प्रजा नहिं भरत सरिस अब॥
एक धर्म-बल धारि, लोक परलोक बनायो।
सत्य-नाव बैठाय, भरत सब पार लगायो॥

[९४]

भरत राखि मन तोर, भूप-पदवी मैं लीन्हो।
छाँड़ि भार सिर मोर, कसक अनते चित दीन्हो॥
बनो भ्रात युवराज, राज को करो सँभारू।
द्वै सरिता मिलि बहत, कठिन तब उतरब पारू॥

[९५]

जय जय जय सब करत, सभासद जय जनु पायो।
जय रघुवीर उदार, बार बहु कहि न अघायो ॥
भरत लखन रिपुदमन, मातु-गन जय गुरुवर जय।
जय मुनिजन द्विज जयति, जयति पुरजन परिजन जय ॥

[९६]

उठे बिभीषन कह्यो, जोरि कर अति मृदु बानी।
भेंटहुँ लंका-राज, देहु चाहै ज्यहि दानी ॥
कीन्हों अचरज सभा, सुनत सर्वस्व-त्याग अस।
पर्‍यो लंकपति चरन, लिये हिय राम कहत 'बस' ॥

राम

[९७]

जलज वारि जिमि बिलग, बिभीषन सुनहु सभासद।
सदा भजन अनुराग, रख्यो ना आजु त्याग-हद ॥
दयो जौन हम लीन्ह, लेहु तुमहू जो देवैं।
लंका भोगहु आपु, सदा सब सुख नित सेवैं ॥

सुग्रीव

[९८]

मैं बानर अति दीन, शरन प्रभु की तकि आयों।
नहिं कछु वित मम पास, वास चरनन मन लायों॥
विना मित्र को भयो, सफल करि कछु जग काजा।
नहिं वसंत जब साथ, सजत नहिं मदन समाजा॥

[९९]

मीत मीत-हित सहत, कष्ट भल पय पानी सम।
मम हित चाह्यो प्रान, देन का रह्यो तबहुँ कम ?
उऋन मीत सों कौन, प्रेम लखि बढ़त प्रेम बहु।
सुरसरि यमुना मिलत, भयो जल कब कमती कहु ?

अंगद

[१००]

अंगद नहिं रहि सक्यो, बैठि बहु प्रेम बढ़्यो हिय।
प्रभु पद सिर धरि भेंट, अश्रु-अनुराग अमित दिय॥
लीन्हो अंक उठाय राम, पोंछ्यो मुख निज कर।
चरन-कमल-नव-नेह, पाय प्रमुदित अति बल धर॥

हनुमान

[१०१]

तन मन दै प्रभु-चरन, धर्‍यो शिर महि हनुमाना।
काह देन कौं और, कहो कवि करि अनुमाना॥
बूँद समान्यों जबै, सिन्धु नहिं रह्यो द्वैत तब।
भयो पयोधि अपार, त्यागि निज नाम रूप सब॥

[१०२]

दिखत सीय प्रभु ओर, हाथ हिय-हारहि लाग्यो।
जानि नाथ रुख हरषि, देन हनुमत मन पाग्यो॥
पहिरायो निज हाथ, पवन-पूतहिं मनि-माला।
जनु पट भूषन सजत, मातु प्रमुदित निज लाला॥

[१०३]

कंठ-हार हनुमान, देखि प्रमुदित रघुनाथा।
जानि जन्म निज सफल, नम्यो मारुति प्रभु माथा॥
माता परसत आपु, तबहुँ कस सुत न अघायो?
कल्पवृक्ष तरु तरे, भला का नहिं को पायो?

याचकों का अयाचक होना

[१०४]

दान विविध विधि दीन, सबहिं सनमान सुखी करि ।
याचक जाँचत देन, अन्य धन धाम गयो भरि ॥
सफल मनोरथ भये, दीन 'शिवरत्नहु' के तब ।
बन्यो लोक परलोक, राम अपनाय लीन्ह जब ॥

सात्विकी प्रजा

[१०५]

देश नगर घर ग्राम, सुखी सब विधि नर नारी ।
उदय राम-रवि भये, प्रजा-कुल-कमल सुखारी ॥
बरसत सुर नभ फूल, हरषि प्रभु यश गुन गावैं ।
सुख-सागर नृप राम मिले, को नहिं सुख पावैं ?

[१०६]

धर्म-नीति-रत भरत, सत्य अनुराग कर्‍यो सब ।
ईर्षा द्वेष निकारि, प्रजा-मन कीन्ह शुद्ध जब ॥
सहज जनहु की रहनि, देखि मुनि ऋषि-अचरज कर ।
शम दम कुशल गृहस्थ, मनो ये शुचि तापस वर ॥

[१०७]

※उदय भये दिननाथ, कहाँ तम-तोम रहै जग ?
हिय सत-चट दृढ़ कीन्ह, कसक मन फँस तम रज सँग ?
श्याम घटा घन घोर, चहूँदिसि नभ छाई जब।
तपन-ताप कहँ रहत, पौन शीतल चलतो तब ?

[१०८]

† धर्म-भाव मन पगे, रँगे हरि-ध्यान प्रेम सब।
बहत जहाँ सुर-सरित, धूरि मरु की उड़ि सक कब ?
अन्य अपन सम लखत, मोह-मति नहिं निज जन रख।
ऊँच-नीच को लपक, नीच-ऊँचनि अपनो लख ॥

※ हृदय-भूमि की चट को सतोगुण से ऐसा दृढ़ कर दिया है कि वहाँ रजोगुण तथा तमोगुण रूपी कीचड़ नहीं रह सकता।

† मनुष्यों के मन धर्म-भाव में पगे हैं, जिससे वे भगवान के प्रेम में अनुरक्त हैं। जहाँ गंगा बहती हैं, वहाँ मरुभूमि की धूरि कहाँ उड़ सकती है ? भरत की धर्म-नीति के कारण मनुष्य अन्य-जनों को भी अपने आत्मीय जन समझते हैं, पर आत्मीय जनों के साथ भी मोह नहीं करते।

ऊँच-नीच की समानता

[१०६]

ॐ परबत निर्झर बहत, सिमिट बटुरत नीचे तल।
निम्न-भूमि जल भरो, पियत पशु पच्ची नर भल॥
बिना ऊँच के दिये, नीच कतहूँ कछु पावैं।
ऊँच कौन बिन नीच, भयो ज्यहि यश कवि गावैं॥

[११०]

† नीच अहै आधार, भार ऊँचन कौं सहते।
ऊँच-भाग-तल जौन, नीच त्यहि कौं बुध कहते॥
अहैं ऊँच-अँग नीच, भिन्न तिन कसक बखानै।
पग सिर दोनों अंग, एक तन के जग जानै॥

ॐ ऊँचे पर्वत से गिरकर पानी नीची भूमि में स्थिर होता है और वहाँ पर उसे पशु-पक्षी तथा मनुष्य पीते हैं। बड़े के दिये बिना छोटे कुछ भी नहीं पाते और बिना छोटे के कौन इतना बड़ा बन सका है कि जिसका यश कवियों द्वारा वर्णन किया गया हो?

† छोटे ही ऊँचों के आधार हैं और वे ही उनका भार सहते हैं। जो ऊँचे पदार्थ का निचला भाग है, वही नीच कहा जाता है। अस्तु, नीच ऊँचे का अंग ही है, उसको पृथक् कहना ठीक नहीं। पाँव और सिर, दोनों का स्थान एक दूसरे से भिन्न है; किन्तु हैं वे एक ही शरीर के अंग। अतः नीच और ऊँच वस्तुतः भिन्न नहीं, वरन् दोनो एक ही हैं।

[१११]

‡ सर तड़ाग जल-सतह, रहत यक सम सब थल महँ।
गहिर उथल को भेद, होत तट मध्य जहाँ रह ॥
छोट बड़ो बनि गयो, कर्म जस जग बिच कीन्हों।
तरु-शाखा यक ऊँच, लटकि दूसरि महि लीन्हों ॥

[११२]

शिशु सयान सब रहत, कुटुँब शोभा बहु पावैं।
छोट प्रेम, बड़ मान, पाय हिय सुख सरसावैं ॥
बड़्यन बड़ाई यहै, सदा छोट्यन अपनावैं।
खात न कन द्विज आपु, जाइ सावकन चुनावैं ॥

प्रमुदित पुरवासी

[११३]

यक दूसर सों करत, प्रेम निज-निज अनुसारी।
लहत सबै सुख मोद, जौन जाको अधिकारी ॥

---

‡ पानी की सतह गहरे और उथले में समान रहती है। उसी भाँति जीव छोटा और बड़ा नहीं है। वह कर्म है, जिसने जीव को छोटा और बड़ा बनाया। वृक्ष की एक शाखा ऊपर जाती है और दूसरी नीचे ; पर हैं दोनों वृक्ष ही के अंग।

भरत सुभाव प्रभाव, परो जनता मन पर भल।
गंधसार-तरु एक, सुगंधित करु तरुवर-दल॥

[११४]

भरत हिये सरि भर्‍यो शांति, जल चल्यो उमड़ि तहँ।
गहिर ऊँच सम भूमि, रूप सत तम रज-जन जहँ॥
बैर-काँट तृन-द्वेष, बह्यो समता धारा परि।
कसक न उपजै अन्न, भूमि उर्वरा लह्यो तरि॥

[११५]

काम क्रोध मद लोभ, मोह मोहत नहिं तिन मन।
सदा सत्य-व्रत-लीन, रखत साहस दृढ़ता तन॥
बिलसत विषय न हिये, सीख देवैं तस तिय सुत।
गज अलान सँग बँधो, जाइ सक कस कहुँ इत-उत?

[११६]

निरमल नीर गँभीर, भरो तृन कस तहँ राजै?
पंक अंक कहुँ लगै, जबै नभ नभग बिराजै?
बाला बालक संग, काम-क्रीड़ा कब सुख लह?
चढ़ो सतोगुण-शिखर, ताहि माया कबहूँ गह?

[११७]

विविध सुगंधित सुमन, फुले दुरगंधि कसक रह ?
सुदृढ़ सेतु जँह बनो, तरन तरनी भय को लह ?
धर्म धीर धरि हृदय, हरषि हरि-गुण नित गावत ।
रवि-प्रकाश लखि कहाँ, तमकि तम त्यहि दिसि धावत ?

रूपमाला छंद

[११८]

सहज नित्यहु कर्म करि जन, करत अर्जित धर्म ।
सहज-साधन सिद्धि भे जहँ, समुझि देखहु मर्म ॥
भरत-नीति-प्रकास-राका, फैलि जग चहुँ ओर ।
तहँ अनीतिमयीं अमावस, करत कैसे जोर ?



एकोनविंशति सर्ग

नृपति-नीति

सार छंद

[१]

सकल भूप जे राम-तिलक महँ, न्यवते अवधहिं आये।
देखि प्रीति नृप प्रजा बीच अति, सब मिलि भरत मनाये॥
राउरि नीति-रीति शासन लखि, हमहुँ चहत तस कीन्हों।
विधि-विधान बरनन प्रभु कीजै, कस करि अस सुख लीन्हों॥

[२]

भरत नाय शिर कहत वचन मृदु, सब विधि समरथ आपू।
देत बड़ाई मोहिं कहन कौं, राजनीति परतापू॥
सत्य-कील दृढ़ धारि हिये-थल, राज-चक्र नृप चालै।
भिन्न अन्न-कन मत जनता को, पीसि एक करि पालै॥

[३]

तुला समान प्रजा राजा हैं, तुल्य भार सुखकारी।
गुरुतर प्रजा शिथिल शासन करु, शक्ति न रख अधिकारी॥
राज-स्वत्व की चाह बढ़त मन, सब निज हाथ बढ़ावैं।
रक्षा-राष्ट्र न ध्यान धरत हिय, स्वारथ-पाठ पढ़ावैं॥

[४]

भूप-शक्ति जहँ भई अधिक जब, तहाँ प्रजा दुख पावै।
दीन दरिद्री मान-रहित रहि, नीच भाव मन लावै॥
अधिकारी अधिकार-गर्व करि, कर्म करहिं मनमाना।
बढ़त द्वेष नित नव जनता बिच, हरत जबै धन प्राना॥

[५]

बढ़त विरोध प्रजा राजा बिच, विषम शक्ति जहँ होवै।
बढ़े राज अधिकार करै कम, जनता हित नृप जोवै॥
सह न सकै करि भार जितो पशु, चहिय तितो त्यहि देनो।
गिरत अधिक सँग बिथरत द्रव्यहु, सुख न लहत अस लेनो॥

[६]

दोष प्रजा बिच कसक सकै रहि, जब नृप तिन्हैं निकारै।
कृषक निराय बहावत तृन सब, धान-बालि भल धारै॥

वस्तु वसन बिच बँधी परी दृढ़, देखि सकत को ताको।
रन्ध्र भयो तब निकरन लागत, लगत कलंक न वाको॥

[७]

प्रजा विचार-अचार बेष जो, भाषा भाव निहारो।
सकल-भूप हिय प्रथम उदय भे, पीछे उतै पधारो॥
जनता रँगी जौन रँग सो है, सो नृप इच्छा मानो।
इन्द्रिय-गन जो करत कर्म सब, मन अभिलाषा जानो॥

रूपमाला छंद

[८]

*राजा प्रजा बिच भेद नाहीं, एक दोनों आहिं।
तरु-पात पल्लव रस सबन कौं, सुमन रूप लखाहिं॥
फूल अपनो रूप बदलत, उपजतो फल ठीक।
होत बीज अनेक तासों, वृद्धि करतो नीक॥

---

* राजा और प्रजा में भेद नहीं है। प्रजा ही राजा है और राजा ही प्रजा है। वृक्ष के पत्र-पल्लवादि सब अपने-अपने रसों से फूल को उत्पन्न करते हैं और फूल अपनी सुगंध ही में मस्त नहीं रहता, वरन् अपने उस रूप को बदल कर फल-रूप को धारण करता है, जिससे अनेक बीज उत्पन्न होते हैं और उनसे अनेक सघन वृक्षों

[९]

†शंकु फूल्यो फल्यो कहँ जग, विना पल्लव पात।
कौन नृप बिनु प्रजा सुख के, लह्यो आनँद तात ?
सरित सों तृन तट बहावत, होत शीतल पौन।
प्रजा सौंपत नृपति कौं, धन भूप देवत तौन ॥

[१०]

अति सुशासित राज बिचहू, दुष्ट देखे जात।
गेहुँ बोवत खेत उत्तम, तबहुँ तृन दिखरात ॥
सावधान किसान तिनकी, मूल लेइँ उपारि।
आततायी जनन कौं नृप, दंड देइ निकारि ॥

की उत्पत्ति होती है, अर्थात् प्रजा ही द्वारा योग्यता-प्राप्त व्यक्ति अभिषिक्त होकर राजा कहलाता है और वह ऐसा कर्म करता हैं कि जिससे प्रजा की सुख-वृद्धि हो।

† ठूँठ भी कहीं फला-फूला देखा गया है ? बिना प्रजा के कौन राजा आनंद पा सकता है ? देखो, पवन नदी के बीच तृणादि खर-पतवार बहा कर किनारे कर देता है, जिससे जल निर्मल हो जाता हैं और इस सेवा के लिये जल अपने शीतलता-गुण के साथ पवन को शीतल बना देता है, अर्थात् दोनों एक दूसरे का उपकार करते हैं। अतः राजा प्रजा को और प्रजा राजा को सुख दे।

[११]

अन्य देसन की बुराई, जात दूसर देस।
दूरि सों दुरगंधि पहुँचत, बहत बायु जु लेस ॥
करत बंद किवार बुध जन, रखत चंदन साथ।
बुरे भावन सों बचावे, भलो करि नर-नाथ ॥

[१२]

करि कठोर विधान सब हित, राज्य-सीमा शोध।
आय जाय न सकै कोऊ, बिना अनुमति रोध ॥
आवति अरुण-रवि अरुणिमा, ऊषा प्रकासत भोर।
कमल खोलत तब अपन मुख, जानि मित्र स-जोर ॥

[१३]

निकट नृप गन बसत जे हैं, करै तिन सँग प्रीति।
सावधान सशंक भूपति, रहि निबाहै रीति ॥
सरित गिरि तट रहब नीको, तबहुँ तहँ दुख होय।
शिखर-पात प्रवाह जल बहु, नष्ट करु सब खोय ॥

[१४]

†रथ-सुशासन चलन हित नृप, नीति-मारग सोध।
नीच पाटत ऊँच काटत, करत समता बोध ॥

---

† उत्तम शासन रूपी रथ चलाने के लिये राजा सबसे प्रथम

धरत नहिं कर-भार गुरुतर, चक्र-शक्ति समाय।
प्रजा-पथ जस सुदृढ़ होवत, करत गति तस राय॥

[१५]

*प्रजा सों सुख छीनतो नृप, दुखी होतो आप।
दुख निवारन में दुखित हो, कैस न बढ़ परताप॥
गिरत नीचे वारि बल बढ़, धार वेग गँभीर।
उर्ध-गमनत यन्त्र द्वारा, परत पर-वश नीर॥

सुनीति रूपी सड़क की व्यवस्था करे, अर्थात् जिनमें जिस वस्तु की कमी हो उनको वह दे, और जिनमें जो वस्तु अधिक हो उनसे उसे लेकर सम बुद्धि रक्खे। ऐसा भारी कर (टैक्स) न लगावे जिसे प्रजा न सह सके; क्योंकि गाड़ी और मार्ग की सहन-शक्ति के अनुसार ही बोझ लादा जाता है। प्रजा की क्षमता के अनुकूल ही शासन में तेजी दिखानी चाहिये। जैसी सड़क की हालत होती है वैसे ही धीरे या तेज सवारी ले जाई जाती है।

* जो राजा प्रजा के सुख को अपने सुख के अर्थ छीन लेता है, वह सुखी होने के स्थान में दुखी होता है; और जो प्रजा के दुःखों के दूर करने में दुःखी होता है, वह सुखी होकर भी और यश को प्राप्त करता है। जल के अधःपात में उसका वेग बढ़ता है, किन्तु जब उसका ऊर्ध्व गमन होता है, तो उसमें किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह जाती; वरन् वह यन्त्र (पम्पों) की परवशता में पड़कर क्षण-क्षण ऊपर ढकेला जाता है।

[१६]

प्रजा को अधिकारि राखत, बाँधि सासन पास।
किरन-रवि की पहुँच महि बिच, करत भूरि प्रकास ॥
संतुष्ट राखत सदा तिनकौं, देत पद धन मान।
सकट-चक्रनि तैल लागत, होत सुगम पयान ॥

[१७]

सजग नृप जस रहत अरि सों, करि अनेक उपाय।
अवधान रहि अधिकारि सों, करु सुशासन राय ॥
वृक्ष तृन कौ वारि पालत, हरित राखत भूरि ॥
प्रबल ह्वै सो जड़ उखारत, लै बहावत दूरि ॥

[१८]

रखैं सेनापति न बहु दिन, एक सेना माँहिं।
बँधो जल बिच काइ परती, बहत शुद्ध जनाहिं ॥
सूत्र-शासन राखि निज कर, काम सब सों लेइ।
चंग खींचि बढ़ाय कौतुकि, उड़न दूरिहिं देइ ॥

[१९]

होत लोभी भूप जब धन, हरत जनता केर।
चोर डाकू बढ़त बहु तब, प्रजा लूटत वेर ॥

खात मछरी जो न चारा, लगो बंसी माहिं।
कौन ताको मांस खातो, पकरि को सक ताहि॥

[२०]

निष्काम-मति नरपति जहाँ है, होत जनता तोष।
रहत शीत न वायु-मंडल, कसक पर तब ओस?
निर्झर झरत थल-नीच पाये, तासु संग पराय।
कुंड-जल रहतो सदा थिर, घटत ना कहुँ जाय॥

[२१]

नारि नर व्यभिचार-रत जहँ, धर्म लाज गवाहिं।
पाप कारन होत नृप तहँ, विधि-विधान दुराहिं॥
चलत गोपति झुंड पशु के, सबन आगे धाय।
जात पाछे समज[1] ताके, चहै जहँ लै जाय॥

रोला छंद

[२२]

धरम-नीति-रत नृपहिं, रहैं सब सुख बहु घेरे।
कोष पूर मन तोष, विघ्न वाधा नहिं नेरे॥
बँधे सविधि सब तार, बजत बीना सुन्दर स्वर।
वाद्यकला जन कुशल, देत आनँद समाज वर॥

(१) पशुओं का समूह।

[२३]

कूट-नीति को संग, कपट चिंता स्वारथ रख।
पर-सम्पति कौं हरत, भरत निज कोष सदा झँख॥
प्रजा विकल बिललात, दुःख-दारिद सहि नव-नित।
होत रारि चहुँ ओर हरत, दूसर-संचित बित॥

[२४]

सतमारग-रत भूप, करत शासन स्वर्गहु लह।
अवनि वरसि घन वारि, लौटि मिलतो सागर वह॥
नृप अनीति-प्रिय जौन, नरक लै जात प्रजा कहँ।
नसत आपु हिम-उपल, साथ सस्यहु नासत तहँ॥

[२५]

जोरि हाथ कह भरत, कीन्ह मैं बहुत ढिठाई।
क्षमा करिय लघु जानि, शिष्य गुरु पाठ सुनाई।
'साधु साधु' की गूँज, उठी चहुँ दिसि नृप-मंडल।
भोग त्यागि भू पालि, धर्‍यो निज हाथ कमंडल॥

दोहा

[२६]

बिदा माँगि सब भूप तब, कीन्ह गवन निज धाम।
मुदित भरत सब बंधु सँग, सेवत सीताराम॥



विंश सर्ग

षट्ऋतु-वर्णन

दोहा—अवध तड़ाग विकास भल, कमल-अमल-श्रीराम।
मधुकर-कवि-गुनि-जन सकल, लहत सरस-मधु-काम॥

वसंत

सवैया

[१]

*कोउ कहैं कउ आव नरेस, लतान वितान समान बनावैं।
कोउ कहैं गुनवान महान, सुगीत गुनी गन गाय सुनावैं॥
कोउ कहैं रसराज सिँगार, सुहार गरे इव सुंदरि भावैं।
कोउ कहैं वर संत वसंत, सबै जग मैं यश कीरति गावैं॥

---

*उल्लेखालंकार—अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूपों से लोगों द्वारा समझी जाय। यहाँ पर वसंत को कोई तो राजा कहता है, कोई गीतज्ञ, कोई श्रृंगार का रूप और कोई उसे संत मानता हैं, अतः ऐसे वर्णन को "उल्लेखालंकार" कहते है।

[२]

†गावति गीत कऊ वर नारि, कि बोलत कोकिल आम कि डारैं।
कोंपल पीत हरे तरु मैं, कि रँग्यो रँगरेज सुरंग बहारैं॥
फूलि पलास पलास घने, कि दिखात वियोगिनि हीय अँगारैं।
शीतल मंद समीर सुहात, कि दूति चली लै सँदेस जु द्वारैं॥

[३]

※बौर न आमन डार लगे, बरु बौरे सबै जड़ चेतन देखैं।
चातक चीखत बागन मैं नहिं, माँगत भीख जु भिक्षुक भेंखैं॥
भौंरन भीर सरोज समीप न, जेंवत विप्र सुभोज बिसेखैं।
फूले-फले द्रुम वेलि लता नहिं, पुन्य उदै सुकृती जन लेखैं॥

† संदेहालंकार—अर्थात् जब किसी वस्तु के विषय में जानने में संदेह हो, तो उसे "संदेहालंकार" कहते हैं। इसमें संदेह यह हो रहा है कि क्या कोई सुन्दरी स्त्री गा रही है, या कोयल बोलती है? वृक्षों में हरे-पीले पत्ते आप-से-आप उगे हैं, या यह ठीक है कि किसी रँगरेज ने उन्हें रँग दिया है। ये क्या ढूल फूले हैं या वियोगिनी स्त्रियों के हृदय के अँगार हैं? यह शीतल, मंद, सुगंधपूर्ण वायु डोल रही है अथवा दूती द्वार पर सँदेस लेकर आई है। इसमें हरएक वर्णित वस्तु में संदेह किया गया है, अतएव 'संदेहालंकार' हुआ।

※ शुद्धापन्हुति—अर्थात् उपमेय को झूठ ठहराकर उपमान की सत्यता स्थापित करने को "शुद्धापन्हुति" कहते हैं। 'बौर'

[४]

† बहती न समीर वसंत समै, सुख मोद प्रमोद अनंद घिरै ।
वह नागरि आगरि नौल बधू, चलतै ज्यहि के सुप्रसून झरै ॥
करि सीतल ही-तल प्रेमिन के, अठिलात गवैं सरितान तिरै ।
अँतरौ न करै छुन एक कहूँ, अतरौ सबके जु लगाति फिरै ॥

[५]

*नींद लगी तिय सोय गई, अधरात कछू नहिं बात अकूती ।
जागि उठी छुन हीं भर मैं, मृदु बोल सुनावति है जस तूती ॥

उपमेय है; किन्तु उसे झूठ ठहराया जाता है कि आम नहीं बौरे, वरन् जड़-चेतन सभी आजकल बौरा गये हैं। पपीहा बागों में बोलता है—ऐसा कहा जाता है, सो बात ठीक नहीं है; यह तो भिक्षुकों के भीख माँगने का शोर-गुल हो रहा है। कहा जाता है कि भौंरों की भीड़ तड़ाग में मधु-पान कर रही है; किन्तु यथार्थ बात यह है कि ब्रह्मभोज में ब्राह्मण भोजन कर रहे हैं। वन में बेली-लतादि नहीं फूले, वरन् सुकृती पुरुषों का पुण्य उदय हुआ है।

† हेतु-अपन्हुति—'शुद्धापन्हुति' का युक्ति-पूर्वक कथन ही "हेतु-अपन्हुति" कहलाता है। जैसे—कहा जाता है कि वसंत-समय में समीर चल रही है; किन्तु वह तो एक गुणागरी सुंदरी है, जो प्रेमियों के साथ इठलाती हुई उनको इत्र लगाने में जरा भी अंतर नहीं करती।

*पर्यास्त-अपन्हुति—अर्थात् किसी वस्तु में उसी के

जाय चली फिरि आव छली, न भली भषती मधुरौ रस चूती।
दूतिपना नहिं दूति करैं, रितु-राज समै भइ कोयल दूती॥

[६]

‡गायक गान करैं न तहाँ, मधुपौ मधु माधुरि बोल सुनावैं।
प्रेमिनि आपन पीव पुकार न, बोलत चातक आनँद लावैं॥
कानन ज्वाल जगै चहुँ ओर नहीं, शुभ किंशुक लाल लखावैं॥
सूख गये वन रूख नहीं, पतझार भये तरु डार दिखावैं॥

धर्म का निषेध करके दूसरी वस्तु में उस धर्म का आरोप करना "पर्य्यास्त-अपन्हुति" कहलाता है। यहाँ पर कोयल की प्राकृतिक बोली का निषेध कर यह दिखलाया गया है कि वसंत में दूती का कार्य दूतियाँ नहीं करतीं, वरन् कोयल ही दूती बनी है। अर्थात् उसके धर्म का आरोप दूतीपन में किया गया।

‡भ्रान्त्यपन्हुति—अर्थात् सत्य-कथन द्वारा पूछने वाले की भ्रांति निवारण की जाय। यहाँ पर यह कह कर भ्रांति निवारण की जाती है कि मधुप-वृंद गूँज रहे हैं—गायक गान नहीं करते हैं। विरहिणी अपने पति को नहीं पुकारती वरन् पपीहा बोल रहे हैं। वन में अग्नि नहीं लगी, वहाँ किंशुक फूले हैं। वन के सब वृक्ष सूख नहीं गये वरन् पतझड़ हुआ है।

[७]

*बन फूलि रहे द्रुम बेलि लता, न पता चलतो क्यहि केरि अवाई।
मकरंद पिए मधुपौ मद-मत्त, सुगूँजि रहे बहु सोर मचाई ॥
शुचि शीतल मंद सुगंध बयारि, चलै मन आनँद मोद बढ़ाई ।
तपसी-तप जीतन कौं सुरनाथ, रची रचना रुचिरौ चित लाई ॥

[८]

†फूले[1] सरोज तड़ागन मैं, जनु सज्जन भागि उदै दरसावैं ।
दच्छिन-पौन कर्‍यो जब गौन, मनो अनकूल रमेस जनावैं ॥

(१) 'फूलि' के स्थान में 'फूले' अर्थ को स्पष्ट करने के लिये लिखा है ।

*छेकापन्हुति—अर्थात् अपनी उक्ति से दूसरे की शंका में सत्य का निषेध करना । यहाँ पर वसंतागमन की सब सामग्री प्रस्तुत दिखाई गई है; किंतु यह नहीं कहा गया कि ऋतुराज विराजमान है, वरन् एक दूसरी ही उक्ति रक्खी गई है—वह यह कि इन्द्र ने यह सब साज-सामान प्रस्तुत किया है, ताकि वह तपसियों के तप-बल को जीत सके । इस तरह इसमें सत्य का निषेध किया गया है, जिसमें वसंत का नाम तक नहीं आने दिया गया ।

†उत्प्रेक्षालंकार—अर्थात् उपमान में उपमेय की सम कल्पना करने को "उत्प्रेक्षा" कहते हैं । इसके सांकेतिक शब्द 'मनु, मनो, जनु, जनो' हैं । यहाँ तड़ाग में कमल फूले दिखाये

बोल बिहंग सुमाधुर बोल, मनो रितुराज रिझाय मनावैं।
भूप प्रजा बिनवै हरषै जनु, राज-सुराज स्वराज कहावैं ॥

[६]

* मौर मनोहर मंजु बनो, कलँगी बिलँगी सबही मन भायो।
देखत ही बनतो तरु रूप, सुरंग रँगे रँग अंगनि भायो ॥

गये हैं और उसी का वर्णन दूसरे प्रकार से किया गया है। जैसे—वे कमल क्या फूले हैं, मानो सज्जनों का भाग्योदय हुआ है। दक्षिण-पवन चलता है, मानो विष्णु प्रसन्न हुए हैं। पक्षि-गण मधुर बोली बोल रहे हैं, मानो वसंत को मना रहे हैं। प्रजा राजा से विनय करती है कि उत्तम शासन करना ही मानो स्वराज्य है।

* **रूपकातिशयोक्ति**—अर्थात् जहाँ लोक-सीमा का उल्लंघन होता हो—सारांश यह कि जहाँ उपमान ही का कथन होता हो, उसे "रूपकातिशयोक्ति" कहते हैं। यहाँ 'मौर' उपमान का वर्णन किया गया है; परंतु उपमेय 'बौर' का नाम तक नहीं लिया गया। अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे वृक्ष के रूपों का वर्णन तो किया जाता है; किन्तु विविध रंग के पुष्पों का फूलना नहीं कहा जाता। गायक गान तो करते हैं पर हैं वे कौन—इस बात का जिक्र नहीं करते, यह नहीं कहते कि वे भ्रमर हैं। दूलह तो साज दिया गया; पर नाम नहीं मालूम कि वह कौन है। अतः 'वसंत' उपमेय और 'दूलह' उपमान है; वसंत का नाम प्रगट नहीं किया गया।

गायक गाय रहे चहुँ ओर, सबै मिलि आनँद सोर मचायो।
साज-समाज अनूप सजो, यह दूलह-रूप न काहि सुहायो ।।

[१०]

†औरहि भाँति सुपौन चल्यो, तरु-पातनभो कछु औरहि डोलन।
औरहि पल्लव औरहि फूल, सुपंछि लगे अब औरहि बोलन ।।
भौंरन गूँज सुहात सु औरहि, कंज-कली रस लेत कलोलन ;
हाट वसंत को ठाटहि और, बिकैं सबके मनहूँ बिन मोलन ।।

[११]

‡औरहि भाँति लगीं तिय गावन, गोलहु बाँधि चलीं निज टोलन।
फागु मच्यो मन आनँद औरहि, लीन्हे अबीर फिरैं सब झोलन।।
औरहि भाव सुऔरहि नेह, सगे सम औरहु लागे जु डोलन ।
औरहि रंग जु और उमंग, करैं परिहास सुऔरहि बोलन ।।

† ‡ भेदकातिशयोक्ति—अर्थात् जब उपमेय के विषय में यह कहा जाय कि उसकी बात ही कुछ और है, उसके ढंग ही कुछ और हैं! जैसे यहाँ पर वर्णन किया गया कि पवन का डोलना, पक्षियों का बोलना, भौंरों का गूँजना, स्त्रियों का गाना इत्यादि वसंत में अन्य ऋतुओं की अपेक्षा और ही प्रकार का है।

[१२]

* कल्पतरौ लजि जात दिखे, तरु पात प्रसून फलौ पुहुमी के।
बाग अराम सुरम्य अराम, लखे वन-नंदनहू लगु फीके॥
हार विहार सुभूमि वसंत, शृंगार विलोकत स्वर्गहु झीके।
सोच करैं सुर-नारि, अनारिनि नारि अनंद मनावति नीके॥

[१३]

† पौन चल्यो जब दच्छिन को, पति दच्छिन होन तिया भय पावै।
चातक बोलत बाग बियोगिनि, प्रेम हिये पिय को रटि लावै॥
कोयल कान अवाज परी, निज प्रीतम के ढिग दूति पठावै।
काम-सखा रितुराज लखे, नर-नारिन के मन आनँद धावै॥

---

* असम्बन्धातिशयोक्ति—अर्थात् सम्बन्ध में असम्बन्ध कथन किया जाय। जैसे यहाँ कहा गया है कि पृथ्वी के फूल-फल तथा पल्लव-सहित वृक्षों को देखकर कल्पवृक्ष को लज्जा आती है। बाग, उपवन आदि देखने से देवताओं का नंदन वन फीका लगता है। शृङ्गाररसपूर्ण वसंत की छटा पृथ्वी के उत्तम भवनों और रम्य स्थानों में छाई देखकर स्वर्ग झींकता है। देवतों की स्त्रियाँ शोच करती हैं कि देखो, पृथ्वी की अनारिनी नारियाँ भी वहाँ के सब सुख भोगती हैं, और वे ही हमारे लिये दुर्लभ हैं।

† अक्रमातिशयोक्ति—अर्थात् जहाँ पर कार्य और कारण दोनों का एक ही साथ वर्णन किया जाय। जैसे—यहाँ पर कहा गया है कि जैसे ही दक्षिणी वायु चलने लगी, वैसे ही किसी नायिका

[१४]

❀ नलिनी-दल फैलत ही सर में, अलि-वृंद तहाँ मँड़रान लगे ।
सुचि चैत कि चाँदनि पाय सुचातकि, पीय पुकारति राति जगे ।।
पतझार समै तरु झारि तनौ, नवपात कली सुम लेन रँगे ।
पिक की मृदु बोलनि के सुनतै, सखि सुंदरि चित्त चितौनि पगे ।।

[१५]

† कंज करैं जल-सैन भले, मधु-दान दिए मधुपौ गुन गावैं ।
नाम रटै पिय चातक रोज, करै तप अंबु न ओठ लगावैं ।।

को संदेह हुआ कि उसका पति कहीं दूसरी स्त्रियों में न रत हो जाय । यहाँ पर दक्षिण-दिशा का पवन 'कारण' है । और, नायिका के पति का दूसरी स्त्रियों में रत होना 'कार्य' माना गया है । अस्तु, नायिका उन दोनों का एक साथ ही अनुभव कर रही है—इत्यादि

❀ **चपलाशयोक्ति**—अर्थात् 'कारण' के ज्ञानमात्र से सुनते ही अथवा देखते ही—'कार्य' सिद्ध हो, उसे "चपलाशयोक्ति" कहते हैं । जैसे यहाँ कमल के पत्तों के होते ही भँवर मँड़राने लगे, चैत की चाँदनी देखते ही पपीहा पुकारने लगा, पतझड़ होते ही नवीन कली निकलने लगी, कोयल की बोली सुनी नहीं कि नायक सुंदरी की चितवन में लुभा गया ।

† **तुल्ययोगिता (अवर्ण्य अवर्ण्य)**—अर्थात् जहाँ शत्रु और मित्र के साथ एक ही प्रकार के व्यवहार का वर्णन किया जाय, वह

कोकिल काम सखी बनि कामिनि, यामिनि बोलि सुपीय बुलावै।
को गुन गाय सकै रितुराज के, लोकहु औ परलोक बनावै॥

[१६]

❀ सर कंज कहाँ खिलते भ्रमते, भ्रमरौ तरु बौर नहीं धरते ?
कस कोयल मोहति बोलनि मैं, नहिं चातक बागन मैं ररते ?
बहि सीतल मंद समीर सयानन, के मन कौं कसकै हरते ?
रितुराज बिना कहुँ वृच्छ लतान, वितान बनाय हरे धरते ?

'तुल्ययोगिता' का दूसरा भेद है। जैसे यहाँ कहा जाता है कि कमल जल-शयन-तपस्या भी करते हैं और भ्रमरों को मधु-दान भी देते हैं। पपीहा पिय का नाम भी पुकारता है और कठिन तप भी करता है कि होंठ तक से पानी नहीं छुआता। कोयल यों तो बोलती ही है, किन्तु रात्रि में कामिनी और कन्त दोनों को जगाती है। अतः वसंत के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है, जो लोक और परलोक दोनों को बनाता।

❀ **विनोक्ति अलंकार**—अर्थात् जहाँ अन्य बिना शोभा न हो। यह 'विनोक्ति अलंकार' का प्रथम भेद है। जैसे तड़ाग में कमल, भ्रमरों का मधु-पान, शीतल-मंद-सुगंध समीर का डोलना, कोकिल का मधुर बोलना, वृक्षों का नये पत्ते धारण करना वसतागमन के बिना न होता—अर्थात् इन सब को ऐसी शोभा बिना वसंत के न मिलती। अतः यह 'विनोक्ति' का प्रथम भेद है।

[१७]

†वायु बहारति राहन बागन, आँगन भीतर स्वच्छ सुहावै ।
फूलनि-भूषन, पात-पटाम्बर, दै तरु-पुंजन कुंजन छावै ॥
भौंरनि-भीर बदै बिरदावलि, नेकु उतावलि ना मन भावै ।
कंत-बसंत अवाइ सुने, सब साज सजे नित कोकिल गावै ॥

[१८]

* देव-बधू सुर-लोक सिहाति, कहैं सब बैठि यकांत तहाँ ।
होति सखी जु वसंत बहार, सुकंज कली खिलती न कहाँ ?

---

† **समासोक्ति अलंकार**—जहाँ प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत का ज्ञान हो, उसे "समासोक्ति" कहते हैं। जैसे—यहाँ कोयल प्रस्तुत है। वह प्रस्तुत पति-वसंतागमन के लिये सब साज सजाये है। यह सब वर्णन तो प्रस्तुत-सम्बन्धी है। किन्तु, इस वर्णन में किसी एक नायिका ने अपने नायक के आगमन में घर-द्वार की सफाई कराई है, जगह-जगह पर बंदनवार लगाये हैं, नौकर-चाकरों को पट-भूषण दिये हैं, उसकी विरदावली का वर्णन वंदीजनों द्वारा कराती है और आप स्वयं उसके लिये प्रेम के गीत गाती है। यही अप्रस्तुत-प्रशंसा प्रस्तुत-प्रशंसा में है।

* **अप्रस्तुत-प्रशंसा-अलंकार**—अर्थात् जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा प्रस्तुत के लिए की जाय। जैसे—स्वर्ग में बैठी देवताओं की स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि यदि यहाँ वसंत-ऋतु होती, तो यहाँ भी कमल खिलते, भौंरे गूँजते और कोयल बोलतीं। स्वर्ग में यहाँ

गुंजत पुंज मधूकर कुंजन, रंजन चित्त मुनीन्द्र जहाँ।
बोलत चातक कोकिल हू, रितुराज कि राजि जु होति यहाँ॥

[१६]

† सेवत मूढ़ कटेरि लटेरिन, बैरि अरूझनि जाय घरै।
कंज तड़ागन बागन बौर, सुगंध भरे न तहाँ डगरै॥
बानि कुबानि परी न छुटै, दुख दोषहु ना मन नेकु धरै।
मानु मलिंद कहा अब तो, इन नीचन संग न भूलि करै॥

[२०]

॥ आगि न लागि पलास-बनै, फिरि फूल दिखैं जनु लाल अँगारैं।
पेड़हु पानि परे ही बिना, हरियानि भले नव-पल्लव धारैं॥

के समान ऋतुराज का राज्य नहीं है। अस्तु, इसमें अप्रस्तुत वसंत की प्रशंसा हुई।

† **प्रस्तुतांकुर अलंकार**—अर्थात् प्रस्तुत में जिस कथन से उलाहना पाया जावे, उसे "प्रस्तुतांकुर अलंकार" कहते हैं। जैसे—हे मधुकर! तू कटेरी (भटकटैया) के पास क्यों जाता है? तेरे योग्य तो कमल के पुष्प और आम की बौरें हैं। धृष्ठ नायक के प्रति नायिका का कथन है।

॥ **विभावना अलंकार (१)**—कारण के अभाव में भी जो कार्य की उत्पत्ति कही जाय, उसे 'विभावना' का प्रथम भेद कहते हैं। यहाँ वन में अग्नि तो नहीं लगी, किंतु ढूल के वृक्षों में लाल अंगार-से फूल देख पड़ते हैं। सींचे जाने पर वृक्षों के पत्ते हरे होते हैं,

हौं न कबौं परिहास करौं, कस कोकिल व्यंग सुबोलनि मारै।
आलि पिया बिनु आये घरै, पपिहा 'पिउ पीय' जु काहे पुकारै ।।

[२१]

† शीतल मंद समीर बहै नहिं, जानत हौं क्यहि कारन जारै।
कोयल की करनी नहिं नीकि, अनीति करै बकि कानहु फारै ।।
कोमल पल्लव पात दिखे, उत्साह दुरै मन मारि सिधारै।
नारि लवा अबलाननि कौं, अब तौ बनि बाज वसंत सँघारै ।।

परंतु यहाँ विना सींचे ही सब हरे-भरे हैं। पतिदेव तो घर आये नहीं, फिर यह चातक क्यों पिय का नाम लेकर पुकारता है ? इन सब में कारण का अभाव है, किंतु कार्य दिखाया गया है।

† विभावना (५)—अर्थात् जहाँ 'कारण' से-'कार्य' उलटा कहा जाय, वहाँ 'विभावना' का पाँचवाँ भेद होता है। जैसे—यहाँ पवन तो शीतल चलता जरूर है; किन्तु वह नायिका को जलाता है। कोयल की बोली मधुर है; पर उसे कर्णकटु समझ पड़ती है। हरे-भरे पल्लव लतादिकों को देख मन में उत्साह होता है; पर उसका उत्साह भंग होता है। कहाँ तो वसंतागमन से आनंद मिलता है। और यहाँ वर्णन किया जाता है कि लवारूपी अबलाओं को वसंत-रूपी बाज संहार करता है। इसमें प्रत्येक कारण के विपरीत कार्य का वर्णन किया गया है।

[२२]

*तरु-डारनि मैं विहँगावलि बोलति, मोहति हैं पथिकान महाँ।
मधुपौ मधु के हित माधव मैं, धवते इतते उत कंज जहाँ॥
वन बेलि लतान वितान वनी, न गनी सुरपादप कौहुँ तहाँ।
सुख मोद प्रमोद भरै मन मैं, मुख सों कसरी निकरी नहिं "हाँ"?

[२३]

†जाँचत मेघन सों जल चातक, नीचहु पीय पुकार मचै हैं।
मौन रही नितही खल कोकिल, व्यंग बखानि वियोग तचै हैं॥

---

* विशोक्ति अलंकार—अर्थात् जहाँ पूर्ण 'कारण' रहते हुए भी 'कार्य' न हो, उसे "विशोक्ति अलंकार" कहते हैं। जैसे—यहाँ विहंग बोल रहे हैं, वैशाख का महीना है, भ्रमर गूँज रहे हैं, कमल फूले हैं, वन में बेली-लताएँ तथा तरु-गण फूले-फले हैं, मन में आनंद भरा है। किन्तु इतने सब कारणों के होते हुए भी नायिका से सखी कहती है कि क्यों री! नायक के सम्मुख तेरे मुख से 'हाँ' शब्द क्यों नहीं निकला? 'हाँ' शब्द नायक के मनोरथ पूर्ण करने का द्योतक है। अस्तु, कारण के रहते हुए कार्य नहीं हुआ।

† असंभव अलंकार—अर्थात् जहाँ संभावना विना कार्य हो जैसे—यहाँ पपीहा जो खुद मेघों से पानी के लिये याचना करे, सो 'पीउ-पीउ' कहकर हमें दुख पहुँचावे। जो कोयल वर्ष के विशेष

जानत कौन रह्यो जग मैं, लघुहू बड़ कौं भल भाँति लचैहैं।
ज्ञान-निधान सुमानुष कौं, चिरियाँ पतिँगा भल नाच नचैहैं॥

[२४]

❀ वृक्ष डिगैं न चलैं रहि ठौरहि, पात डुलैं पथिकान मनावैं।
कानन कोकिल वास करैं, घर पासहु दौरिति बोल सुनावैं॥
बोलत चातक मेघ नहीं प्रिय, कामिनि सों पिय प्रेम सुझावै।
राज मनोज करै मन मैं, सखि नामहिं कौ रितुराज कहावै॥

भाग में मौन रहती है, वह व्यंग बोली बोलकर वियोग को बढ़ावे? यह किसे मालूम था कि छोटे भी बड़ों को नीच बना स ेंगे? क्योंकि देखो, बुद्धिमान् मनुष्य-जाति को ये चिड़ियाँ-पतंगे आज मनमाना नाच नचा रहे हैं। ऐसा होने की संभावना न थी; पर कार्य हो गया। अतः "असंभव अलंकार" है।

❀ **असंगति अलंकार**—अर्थात् जहाँ 'कार्य' और 'कारण' का विरोध-सा भिन्न-भिन्न स्थान में एक साथ ही कथन हो। जैसे—वहाँ वृक्ष हिलते तो हैं; किन्तु चलते नहीं और पात डोलते हैं। कोयल वन में वास करती है; किन्तु घरों के पास बोली सुनाने आती है पपीहा मेघों से पानी की याचना करने के लिये बोलता है, परंतु मेघों के न होने पर भी स्त्रियों को प्रीतम के प्रेम का उपदेश देता है। राजा हैं ऋतुराज और राज्य करे कामदेव। हर एक में कार्य और कारण के बीच विरोध भासित होता है।

द्रुतविलंबित छंद

[२५]

सरस सारस[1] सारस[2] सोहते ।
कमलिनी अलिनी सर जोहते ॥
मधुकरी मकरंद उपासिनी ।
पहुप-पुंज विकास हुलासिनी ॥

[२६]

नव पराग[3] पराग[4] समानता ।
पवन चर्चित प्रेम प्रमानता ॥
सुघर नाल[5] मृणाल[6] घने गनो ।
सुजन भेंट भरे कर में जनो ॥

[२७]

नव लता चढ़ती विटपावली ।
तिय मिली पति सों मदनाकुली ॥

---

(१) कमल, (२) हंस, (३) पुष्परज, (४) चंदन, (५) कमल की दंडी, (६) कमल की जड़ ।

उलप[1] शाल[2] विशाल बिराजती ।
चतुर नायक नारि रिझावती ॥

[२८]

अगम[3] पल्लव पात हरे-भरे ।
कहुँ कली कहुँ फूल भरे परे ॥
दिखत लागत नीक अराम[4] में ।
शिशु किशोर युवा जन धाम में ॥

[२९]

फल रसाल बिसाल घने लगे ।
सघन गौदन डार भले टँगे ॥
पवन देत गिराय महीतले ।
करि कुसंग बन्यो कब को भले ?

[३०]

सुमन गुच्छ सुपल्लव सोहते ।
बह बयारि सुगंधि परोसते ॥
सुरभि[5] सौरभ[6] बौर सुहावनी ।
गुनवती युवती मनभावनी ॥

---

(१) बड़ी लम्बी बेल, (२) बड़ी शाखा, (३) वृक्ष, (४) बाग, (५) सुगंध, (६) केसर ।

[३१]

नव पलास सुपल्लव सोहते।
तिनहिं देखत देवहु मोहते॥
चलत पौन न मौन रहे कभी।
मिलत सज्जन सादर सों सभी॥

[३२]

सुभग मंजरि मंजु लतान में।
युवति अंजरि देत वितान में॥
नव कली बिकसीं निकसीं नहीं।
नव बधू रस-केलि जनै कहीं ?

[३३]

विटप बेलि चढीं भल भात है।
लपटि पीव तिया अठिलात हैं॥
मृदु मुखाग्र हिलै अति थोर के।
'नहिं' करै हँसती मुख मोर के॥

[३४]

खिरस फूल सुतूल समान हैं।
मृदुल मंजु पराग प्रमान हैं॥

कठिन बीज जु सूखि छिमी लगे ।
* मधुर बैन हिये हठता जगे ।।

[३५]

पनस की समता जग को करे ?
फल प्रसून द्वऊ यकही सरे ।।
सुमन आवत काम न देवता ।
कुधन सो कउ संत सुसेवता ।।

[३६]

सघन पत्र[1] सुहात सु सीसमों[2] ।
बसन धानि धरे तिय सीस[3] मों ।।
फल प्रसून न कौन्यहु काम के ।
जगत त्यागि बने जन राम के ।।

[३७]

द्रुम-मकोय करोंद भले फुले ।
सुरभि लै वन-वायु गली चले ।।
तरु बिसाल सुगंध विहीन हैं ।
लघुन के बल ही बड़ पीन हैं ।।

---

(१) पत्ते, (२) शीशम का पेड़, (३) सिर ।
* मीठे वचन तो बोलते हैं, किन्तु हृदय में हठ भरी है ।

[३८]

मृदुल कोंपल को पल देख लो।
सुघर रंग-बिरंगहु पेख लो॥
मखमलौ अमलौ नहिं ऐस है।
शिशु समान युवा कस बैस है॥

[३९]

सतत चातक ताकत आस में।
नभ नहीं घनश्यामहु पास में॥
समय जो अनकूल न काम को।
करत ना पहुँचे परिनाम को॥

[४०]

'पिउपिहा' पपिहा जु पुकारतो।
सुनत शब्द तिया तन जारतो॥
कछु कहै समुझै कछु और है।
अस दशा जिनकी जग बौर है॥

[४१]

लखत बारि मही जल ना कबौं।
सरित सिन्धु तड़ाग भरे तबौं॥

मन उदै जब 'त्याग' तमारि है ।
निशि कहाँ तम मोह सँवारिहै ॥

[४२]

द्विज तपी कि व्रती व्रत पालतो ।
जपत नाम हरी कि पुकारतो ॥
तृषित नीर न नेक निहारतो ।
तपसि चातक पातक जारतो ॥

कोयल

[४३]

कवि कहो कस कारि सुकाय की ।
चमकती फिरती जस पायेकी ॥
सुघर श्यामहु तो यह है नहीं ।
ब्वलति भोर न 'ठाकुरजी' कहीं ॥

[४४]

कस न काक कुलीन कुलौ अबौं ।
करत प्रेम मरे स्वजनौ जबौं ॥

---

(१) दूती, (२) श्यामा पक्षी ।

मख न पूर दिये बिन ग्रास के ।
सकुन आवन पीय बता सके ॥

[४५]

यह वही कुल की कुल-कामिनी ।
सम सरूप सुरंग सु भामिनी ॥
वचन तो कटु-कर्ण[1] कहे नहीं ।
अरुन नेत्र न वायस[2] के कहीं ॥

[४६]

फिर भला कस काक कहौ इसै ।
मधुर बोलब आवत है जिसै ॥
सतत पंचम राग अलापती ।
यतिन योगिन के मन फाँसती ॥

[४७]

गुन सरूप न रंग उजागरी ।
अरुन नैन लखै जनु नागरी ॥
मुख मिठास विलास बखान को ।
यक गुनौ बहुतै गुनवान को ॥

---

(१) सुनने में कठोर, (२) काग ।

[४८]

सँग वसंत बसै गुन गावती।
तरु रसाल सुसाल सुभावती॥
नित वियोगिनि हीय जरावती।
पिक अनंद अराम मनावती॥

सार छंद

[४९]

कली खिलीं अधखिली भली अति, फूल बनन हित फूलैं।
जनु अज्ञात-यौवना मुग्धा, बाल-दशा निज भूलैं॥
निरझर कुंड कमल मधुपन सँग, शोभा नीर निराली।
हरि-पद महँ जन-मन-अलि बनि जनु, भूलि गयो जग-जाली॥

[५०]

जम्बू जुही जन्तुफल[1] दधिफल[2], पीपर पाकरि साली।
[3]मधुद्रुम तूत खदिर वदरी वट, सेमल श्रीफल झाली॥
अमलतास आमला अशोकहु, अरजुन अमिली आली।
बड़हर पनस कठूमर सीसम, कंज करौंदा डाली॥

(१) गूलर, (२) कैथ, (३) महुआ।

[५१]

गृहाराम[1] आराम[2] प्रमद[3]-वन, वन-उपवन अति सोहैं।
वृक्ष वनस्पति औषधि क्षुप बहु, गुल्म-लता तरु जोहैं॥
उलपैं[4] शिफा[5] अवरोह[6] शाल अति, सार छाल दल राजैं।
सुख बहु पाय प्रजा-दल नृप सों, देन भेंट भल साजैं॥

[५२]

नदी-नीर चलि मिलत तीर तृन, रहत न रुकि छन एकौ।
भेंटत जौन जीव जीवन मैं, बिछुरत लगत न नेकौ॥
ऊर्मि[7] उलोर्ल[8] लोल उच्छ्वासहु[9] चक्रावर्त्त[10] जु नाहीं।
चंचलता चलि गई अंग जब, प्रौढ़ा तन दरसाहीं॥

[५३]

तरु तृन पूरि पुलिन[11] राजै भल, अलिहु अवलि[12] अरभानी।
दीन हीन कौ मान देत जनु, संत सरल वर बानी॥

(१) घर की फुलवारी, (२) बगीचा, (३) स्त्रियों की वाटिका, (४) बड़ी लम्बी बेल, (५) जड़, (६) बरोह, जो बरगद की शाखाओं से निकल कर नीचे की ओर लटकती है; (७) जल की तरंग, (८) बड़ी या ऊँची तरंग, (९) उफनाना, (१०) भँवर; (११) जिस स्थान को जल ने छोड़ दिया हो, (१२) झुण्ड।

तपने[1]-तेज तप तरनि[2] तीर तहँ, सिकता[3] सूखि उड़ाती।
नीर-नेह छाँड्यो रेती बनि, रीते[4] रेत लखाती॥

[५४]

तरु किसलयें[5] लय मरुत मंद कहँ, क्रीड़ति त्यहि सँग माहीं।
मनो विदूषक पाय सभाजन, करत हँसी मन चाहीं॥
पीपर पात पीत नव मृदु शुचि, हरो होत भल जानी।
बाल बालपन दूरि दुरावत, यौवन अँग सनमानी॥

[५५]

चातक पिक कलरव[6] कलरव कर, विविध बिहँग बहु भाँती।
मनसिज मिथुनँ[7] मरोरत मन कौं, हिय उमँगत दिन राती॥
कूजत करत कलोल बोल मृदु, नव-दल दल गरबीले।
रौंदति सुमन-सेज सुन्दरि सँग, कन्त बाँह-गल मीले॥

[५६]

भाँति-भाँति बोलत बोली मृदु, बिहँग बाग वन बारी।
युवति-यूथ जनु गावत प्रमुदित, पहिरि विविध रँग सारी॥
चंचल चोंच चहूँ दिसि चमकत, चकित चितव चख चारु।
जनु नववधू आव नव मंदिर, इत-उत देख बिहारु॥

---

(१) सूर्य (२) नदी, (३) बालू, (४) सूखा, (५) कोंपल, (६) कपोत, (७) स्त्री-पुरुष का जोड़ा।

[५७]

खाली खेत न खरभर उन महँ, खार खूँटि खर लागे।
दुरदिन सुदिन जात आवत हैं, कर्म चक्र चलि आगे॥
लाँक लगी चहुँ दिसि खरिहानै, बस किसान दिनराती।
धनिकन द्वार भीर जाचक जन, विरद बदत बहु भाँती॥

[५८]

*चंदन बाँस करील पुराने, पात डार सब राखे।
मलयानिल मिलि चातक कोकिल, बहुत भाँति भल भाखे॥
जस जस कह्यो धरन नव दल कौं, तस तस कह हिलि नाहीं।
भाग्य-हीन सुरतरु ढिग जातो, मिलत न कछु त्यहि पाहीं॥

[५९]

जरि कटि कुल कुस कास कलेवर, भये हरित सुखदाई।
नर वर धीर साहसी जेते, हारि लहैं जय धाई॥
लवँग लता लपकति लोनी अति, हिलत अंक लचिकाई।
तिया मनावति मानी नायक, करति विनय बहुताई॥

---

* वसंतागमन में सब वृक्ष अपने पत्तों को त्याग देते हैं; परंतु चंदन, बाँस और करील ऐसा नहीं करते। अतएव चातक, कोयल और पवन ने उनसे कहा कि तुम भी पतझाड़ कर डालो; किन्तु इन वृक्षों ने पत्तों को हिलाकर ऐसा करना अस्वीकार किया।

ग्रीषम

वंशस्थ छंद

[६०]

प्रभात-शोभा कवि ग्रीष्म की कहै।
सुगंधवाहा[1] बहि माधवी[2] गहै॥
द्विरेफ[3] गूँजैं मकरंद[4] आस में।
सुफूल फूले जल पाय पास में॥

[६१]

निवारि बेला सित पुष्प सोहते।
गुलाब उत्फुल्ल[5] मलिंद मोहते॥
सकृत्फला[6]-कुंज हरे-भरे नहीं।
विपत्ति में हर्ष हिये रहै कहीं?

[६२]

समीरहू सीतल प्रात डोलती।
पिकावली बागन मंजु बोलती॥

---

(१) वायु, (२) बेला, (३) भौंरा, (४) फूलों का रस, (५) पूर्ण रूप से फूले हुए, (६) केला।

सुतूत खिन्नी तरु आम्र डार में ।
लगे नवायो फल-पुंज भार में ।।

[६३]

सुबोल बोलैं मृदु कोकिला जहाँ ।
सुनावतो चातक वेदना तहाँ ।।
फलै फुलै अर्क[1] निदाघ ना दहै ।
मनुष्य भागी निज भाग्य को अहै ।।

[६४]

सुचंचु चारा नहिं चाष दावतो ।
निकारि जिह्वा वन बीच धावतो ।।
तबौं न पानी कहुँ दीन पावतो ।
कु-राज मैं दारिद भूरि छावतो ।।

[६५]

उशीर[2]-टाटी चहुँ ओर सों तनी ।
छनै[3]-छनै वारि छनै[4] महा घनी ।।
सुगंधि औ सीतलता जहाँ जगी ।
मिलैं जबै मित्र विपत्तिहू भगी ।।

---

(१) मदार, (२) खस, (३) क्षण-क्षण में, (४) छनना ।

[६६]

प्रचंड आँधी चलि लूक जारतो ।
विशाल वृक्षानि सुखाय डारतो ॥
कहाँ तहाँ चेतन चेतना रहै ।
नराधमौ मातु पिता सगे दहै ॥

[६७]

निदाघ-मध्यान्ह दिनेश-क्रूरता ।
कही न जावै अस शूर-शूरता ॥
घरीक द्वै मैं फिर अस्तव्यस्त[1] हैं ।
बिना बिचारे करि कर्म त्रस्त[2] है ॥

[६८]

गिरीन मैं जोर दिनेश को नहीं ।
तुषार धारे शिर सीत सेवहीं ॥
प्रताप आदित्य न नेकहू कमी ।
दबैं मनो ऊँचनि कौं पराक्रमी ॥

---

(१) विपरीत, (२) व्याकुल, भयभीत ।

[६६]

पितृप्रसू[1] प्रात क्षपा[2] दिनार्ध[3] में।
अश्रांत[4] ज्वाला बहती निदाघ में॥
सुकंज सोहैं सर-तीय-अंग में।
प्रचंडता ग्रीषम की न संग में॥

[७०]

मयूख[5]-माला अति उष्णता धरे।
तबौं हिमौ शीतल नेकु मैं करे॥
प्रचंडता जोर नहीं चलै तबै।
हिये रखै शांति सतावतो जबै॥

[७१]

सुहार केयूर[6] ललाटिका[7] भली।
सरत्न आवापर्क[8] मेखला[9] खली॥
सुकिंकिना नूपुर कंकनौ तिते।
उतारि धारे तिय अंग मैं जिते॥

---

(१) सन्ध्या, (२) रात्रि, (३) दोपहर, (४) निरंतर, लगातार; (५) सूर्य की किरणें, (६) बाजूबंद, (७) टीका, एक शिरो-भूषण; (८) पहुँची, (९) करधनी या कमर में पहनने की जंजीर।

[७२]

दुकूल[1] पत्रोर्ण[2] न चोल[3] धारती।
वराशि[4] देखे तिय स्वेद गारती॥
महा विनीता सरला पयोधरी।
सुचैल झीने पहिने कृशोदरी॥

[७३]

उतारिबो चाहति उष्णता बढ़ी।
कुलीनता लाज सुशीलता मढ़ी॥
स्मराकुला[5] स्विन्नि[6] न स्वाप[7] जोहती।
न मेखलौ[8] हीन कृपाण[9] सोहती॥

[७४]

नभस्वतो[10] धावन सों बहा करै।
निदाघ के साथ प्रचंडता धरै॥
रहे नहीं जो रस एक में कबौं।
करौ न बिस्वास जु हो सगो तबौं॥

(१) दुपट्टा, (२) धुले हुए रेशमी कपड़े, (३) चोली, (४) मोटे कपड़े, (५) कामदेव की पीड़ा से व्याकुल, कामातुर; (६) पसीने वाली, (७) नींद, (८) म्यान, (९) तलवार, (१०) पवन।

[७५]

करी कहाँ पूरि निदाघ साथ में[1]।
भयो महा शीतल सेव्य[2]-पाथ में ॥
उशीर टाटी चहुँधा तनी जहाँ।
सुषीम सों रूप दिखावतो तहाँ ॥

[७६]

निकेत-पालाश[3] सुरंग राजतो।
सुद्वार मैं वीरण[4]-मूल धारतो ॥
नितांत वर्षा-जल हो चहूँ दिशा।
दिनार्ध में ध्वांत[5] भयो मनो निशा ॥

[७७]

चहूँदिशा बाहर वह्नि[6] ज्यों तपे।
तबौं गये अंतर शीत सों कँपे ॥
प्रचंडता ग्रीषम की नस्यो चहै।
छिपी मनों पावस घात में रहै ॥

---

(१) खस की टट्टी में टपकते हुए पानी के साथ, (२) शीतल वस्तु, (३) दीवारें हरे रंग से पोती हैं, (४) गाँड़र की जड़, खस; (५) अंधकार, (६) अग्नि।

[७८]

अरिष्ट[1] उद्दाल[2] रसाल क्षीरिकौ[3] ।
शिरीष[4] जम्बूफल शिंशुपादिका ॥
जटीन[5] शांडिल्य[6] उदम्बरा[7] बटौ ।
लगे अनेकौं फल आपगा[8]-तटौ ॥

[७९]

प्रपा[9] निपानी[10] प्रहि[11] पल्वलावली[12] ।
प्रपात[13] वापी[14] सरसी[15] धुनी[16] भली ॥
अखात[17] खातानि[18] जलाधरादि[19] ते ।
बने सुदानी जल जीव जाँचते ॥

---

(१) नीम का पेड़, (२) लसोढ़ा, (३) खिन्नी, (४) सिरस, सिरसा; (५) पाकर, पकरिया; (६) बेल, (७) गूलर, (८) नदी, (९) पौसला प्याऊ, (१०) पानी की चरही, (११) कुआँ, (१२) छोटी तलैयों का समूह, (१३) झरना, (१४) बावड़ी, (१५) मामूली तालाब, (१६) नदी, (१७) बिना खोदा हुआ (प्राकृतिक) तालाब, (१८) चौकोर खोदा हुआ तालाब, (१९) जल धारण करने वाले स्थान—झील आदि ।

पावस

सवैया

[८०]

* दादुर जाचक द्वार असीसहिं, चातक हू गुन गाय सुनावैं ।
मेघ वितान अकास तने तरु, चामर लै नित पौन डुलावैं ॥
नार नदी उमड़े पुहुमी, पहिरे चुनरी हरियालि सुहावैं ।
पावस-पुण्य-प्रताप उदै, लखिकै मुख सूरज चन्द्र छिपावैं ॥

[८१]

† पौन चल्यो अब औरहि भाँति, घिरे बदरा रँग और दिखावैं ।
औरहि भाँति बहैं नदि नार, चले उमड़ाय न नाव लखावैं ॥
औरहि भाव भरे तिय भूलहिं, औरहि राग गुनी-गन गावैं ।
औरहि राह प्रवाह सुऔरहि, औनि अकासहु और दिखावैं ॥

---

* उदात्त-अलंकार—अर्थात् जिसमें वर्णित पदार्थ अथवा व्यक्ति का महत्व वर्णन किया जाय, उसे "उदात्त-अलंकार" कहते हैं । जैसे, यहाँ पावस-ऋतु का प्रताप ऐसा दिखाया गया है कि जिसके सम्मुख सूर्य और चन्द्रमा अपना मुख छिपाते हैं-अर्थात् मेघों द्वारा ढँक लिये जाते हैं ।

† भेदकातिशयोक्ति-अलंकार-देखिये 'वसंत-वर्णन' में छंद १० और ११ ।

[८२]

*धाय चले धुरवा चहुँ ओर, घटा घन घेरि अकास मढ़ावैं।
मोर न थोर करैं वन सोर, वियोगिनि कौं नित पाठ पढ़ावैं॥
चातक चूकत ना पिय शब्द सुनाय, महा मन शोक गढ़ावैं।
आइ घिरे अब हैं घन-श्याम, हिये घनश्याम वियोग बढ़ावैं॥

[८३]

†वायु डुलावत वारिद कौं नभ, जाय इतै उत सान धरे।
वारिद वारि करै बरसा भल, वारि धरा पर जाय परे॥

---

* अनुगुण-अलंकार—अर्थात् जहाँ संगति-गुण के योग से संगति करने वाले का पहला गुण और भी बढ़ जाय, उसे "अनुगुण-अलंकार" कहते हैं। यहाँ घनश्याम मेघ आकाश में घिर आये हैं, जिनको देख घनश्याम-रूप श्रीकृष्णजी की सुधि करके किसी एक गोपी के हृदय में वियोग की पीड़ा अधिक बढ़ गई है। घनश्याम श्रीकृष्ण के वियोग का दुःख जो वह गोपी झेल रही थी, उसे घन-श्याम-मेघों के कारण अधिक रूप में सहन करना पड़ा।

† कारणमाला-अलंकार—जिसमें पूर्व-कथित पदार्थ आगे वर्णित पदार्थ का उत्तरोत्तर कारण हो, उसे "कारण-माला-अलंकार" कहते हैं। जैसे, यहाँ देवताओं और मनुष्यों के आनंद का कारण पुष्प, पुष्प का कारण शाखा, शाखा का कारण वृक्ष, वृक्ष का कारण बीज, बीज का कारण पृथ्वी, पृथ्वी का कारण जल, जल का कारण मेघ और मेघ का कारण पवन है। अर्थात् क्रमशः एक दूसरे के कारण हैं।

धाय धरा जल बीज भरै, तहँ बीज उगे तरु डार खरे।
डार लगे फल फूल अनेकन, ते नर देव अनंद करे॥

[८४]

*सोभित देस सुभूमि विना नहिं, भूमिहु वृत्त विना न सुहावैं।
वृत्त न भावत फूल विना, अरु फूल न वारि बिना खिलि पावैं॥
वारि न वारिद के बरसे, बिनु पावस वारिद ना नभ धावैं।
पावस ना हरियालि बिना, हरियालि न सावन के बिनु आवैं॥

[८५]

†वृत्त परैं लखि भूमि बड़े, सगरे जन ताप समीप नसावैं।
वृत्तन सों अति मंदिर ऊँच, जहाँ नर-नारि अनंद मनावैं॥

---

* **एकावली-अलंकार**—अर्थात् पूर्व-कथित पदार्थ आगे कहे हुए पदार्थ द्वारा स्थापित हो अथवा निषेध किया जाय, उसे "एकावली-अलंकार" कहते हैं। जैसे, यहाँ देश का निषेध उर्वरा-भूमि बिना, भूमि का निषेध वृक्ष बिना, वृक्ष का निषेध फूल बिना, फूल का निषेध जल बिना, जल का निषेध मेघ बिना, मेघ का निषेध पावस बिना, पावस का निषेध हरियाली बिना और हरियाली का निषेध सावन के बिना किया गया है।

† **सार-अलंकार**—अर्थात् जहाँ वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन हो, उसे "सार-अलंकार" कहते है। जैसे, यहाँ वृक्ष से बड़ा मंदिर, मंदिर से बड़ा पर्वत और पर्वत से बड़े मेघ कहे गये हैं।

मंदिर सों गिरि ऊँच महा, जिनके शिखरौ नभ सों बतरावैं ।
सो गिरि सों बहु मेघ बड़े, जिनके बरसे सबही सुख पावैं ॥

[८६]

* वेद पढ़ैं वर विप्र सघोष, कि दादुर स्वागत पावस गावैं ।
डोलत शैल सपत्त अकास, कि कादर बादर पौन भगावैं ॥
ताप हरैं जग की जल दै, कि सभीत धराधर धावन धावैं ।
लै जल-भेंट नदी गवनीं, कि बनी अभिसारिक सिन्धु सिधावैं ॥

[८७]

† उत घूमत मेघ अकास भले, इत चंचल ह्वै मन घूमि रह्यो ।
बरसैं झरि लाय सुबूँद बड़े, हरसैं सबही लखि जौन चह्यो ॥
दमकैं नभ दामिनि यामिनि मैं, तहँ कामिनि कंत अनंद लह्यो ।
सुनि बोल मयूरनि के मँद-गामिनि, मानिनि मानि न मान गह्यो ॥

---

* **संदेहालंकार**—देखिये—'वसंत-वर्णन' में छंद २ ।

† **उल्लास-अलंकार**—अर्थात् एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त हों, उसे "उल्लास-अलंकार" कहते हैं । जैसे, इसमें गुण से गुण का वर्णन किया गया है । मेघ आकाश में घूम रहे हैं, यहाँ प्रिया की प्राप्ति के लिये मन घूम रहा है । बरसने से सबको आनन्द हो रहा है, दामिनि के चमकने से दम्पती का अधिक प्रेम बढ़ता है । मोरों के बोल सुनने से मानिनी मनाये से मानकर मान का त्याग करती है ।

[८८]

‡घनश्याम दिखे सबको सुख होत, हियो जरि जात वियोग अँगारै।
सखि सावन झूलन में झुलतीं, इत प्रान झुलैं बिन प्रान-अधारै॥
पपिहा 'पिउ-पीय' पुकार करै, पिय पास न पाय व्यथा मन जारै।
बरसा बरसे बर से न मिली, बरसैं बितती दरसौ न सहारै॥

[८९]

*जल थोर दयो पशु-पच्छिन कौं, सरिता उमड़ैं बहु नीर लहे।
चरि लीन्ह सुखानि तृनौ पशु तौ, हरि आइ छई चहुँ ओर रहे॥

‡उल्लास-अलंकार—इसमें एक गुण से दूसरे को दोष प्राप्त हुआ दिखाया गया है। जैसे, घनश्याम मेघों के देखने से विरहिणी की वियोग-व्यथा बढ़ती है। दूसरी सखियों को झूलते देख उसके प्राण पयान करने लगते हैं। पपीहा के "पिउ" शब्द से उसको व्यथा होती है। बरसात में पानी बरस रहा है; किन्तु प्रीतम के बिना उसके हृदय में घोर वेदना हो रही है।

*परिवृत्ति-अलंकार—अर्थात् जहाँ कुछ देकर बहुत लेना कथित हो। जैसे, यहाँ नदियों ने पशु-पक्षियों को पीने के लिये जल थोड़ा ही दिया और बरसात में बहुत पाया। पृथ्वी ने रूखा-सूखा तृण पशुओं के चरने के लिये दिया और पलटे में इतना पाया कि उसमें सब हरियाली-ही-हरियाली छा गई। सीपी ने स्वाती का एक बूँद पान किया; पर उसके बदले में अमूल्य मोतियों की लड़ी उत्पन्न की। पृथ्वी ने थोड़ी-बहुत धूल आकाश को उड़ाई और आकाश ने मेघों द्वारा बहुत पानी बरसाया।

यक बूँद लयो मुख सीपि सँकोचि, सुमोति अमोलनि आब गहे।
महि धूरि उड़ाय अकास दयो, बरस्यो घन ऊपर सों उमहे ॥

[९०]

†मेघ नहीं गिरि दूरि दिखैं,बरसैं जल ना, शर की झरि लाये।
भूमि भई न हरी तनिकौ, फरसौ बिछवाइ पिया हरसाये ॥
वेग प्रवाह बढ़ो न नदी, हिय आनँद मोद प्रमोद जनाये।
दामिनि ना दमकै नभ मैं, चलि भामिनि यामिनि जीय जराये ॥

[९१]

*चमकै चपला चहुँ ओर अकास, विकास भये पट पीत सुहावै।
बहु इन्द्र-बधूटि दिखात भले, पद कंजनि मंजु महा छबि छावै ॥
वन मोर करैं अति सोर जहाँ, जन जोर दयानिधि के गुन गावैं।
घनश्याम सदा रस एक रहैं,बरसे घन श्याम न श्याम लखावै ॥

---

† 'शुद्धापन्हुति-अलंकार'—देखो, 'वसंत-वर्णन' छंद २।

* उन्मीलित-अलंकार—अर्थात् सादृश्य होने पर भी कारण-विशेष द्वारा भेद प्रतीत हो। जैसे, यहाँ घनश्याम मेघ और घनश्याम श्रीकृष्णजी के बीच सादृश्य दिखाया गया हैं; किंतु एक बात से भेद दृष्टि में आता है, अर्थात् श्रीकृष्ण महाराज तो सदा एक-रस रहते हैं; किंतु मेघ तो घनश्याम-रूप में उसी समय तक रहता है, जब तक बरसता नहीं, फिर उसका वह रूप नहीं रह जाता। अस्तु इसी कारण-विशेष द्वारा भेद जताया गया।

[६२]

†खेत किसान न पावत ढूँढ़ि, हरे रँग हार बहार लखाने।
पल्लव पात पलास दिखैं, नहिं बेलि लता तिनपै लहराने॥
पात लदे बधिकौ न दिखात, सुवा न जनात कहाँ मँड़राने।
पावस की हरियालि अली, बन बाग गली घर द्वार हेराने॥

वंशस्थ छंद

[६३]

शिखीन[1] केका[2] वन मध्य गुंजते।
शिखंड[3] चूड़ा सह मोद मुंचते॥

---

(१) मोर, (२) मोरों का शब्द, (३) मोर के पर, (४) चोटी, (५) त्याग करते हैं।

† मीलित-अलंकार—अर्थात् जहाँ किसी वस्तु के सहज लक्षण द्वारा उसीके समान लक्षण वाली वस्तु का छिपाव होवे, उसे "मीलित-अलंकार" कहते हैं। जैसे, यहाँ खेतों का समूह हरित-रंग-मय हैं, अतः किसान अपने हरित रंग के खेतों को ढूँढ़े नहीं पाते। हरित लताएँ हरित वृक्षों पर चढ़ी हैं, सो वे नहीं देख पड़ते। हरित जंगम-वृक्ष के साथ बधिक को हरित भूमि में और हरित वृक्षों के बीच हरित सुवा भी नहीं देख पड़ता। बरसात की हरियाली में हरित बाग, बन, गली, सब ढूँढ़े नहीं मिलते।

भुजंग भागैं लखि दूरि प्रान लै ।
मनो प्रतापी भय देत नाम लै ॥

[९४]

अकास आसार[1] पतंति शंवरो[2] ।
कबंध[3]-पूर्णा-महि और अम्बरो[4] ॥
शृगाल शाखामृग कोक[5] काँपते ।
सुराज को दुष्ट-समूह सापते ॥

[९५]

सअंबु सर्पालय[6] भेक[7] सोहते ।
विपत्ति में नीचहु उच्च मोहते ॥
तरंगिनी[8] वेग तरंग तुंगता[9] ।
मनो कन्यो यौवन अंग मुग्धता[10] ॥

[९६]

बिलोकि धाराधर[11] मेघनंदिनी[12] ।
प्रहर्षि कूकैं कल काम-कंदिनी ॥

(१) निरंतर मेघ-धारा, (२-३) जल, (४) आकाश, (५) भेड़िया, (६) साँपों के बिल, (७) मेढ़क, (८) नदी, (९) ऊँचाई, (१०) मनोहरता, (११) मेघ, (१२) मयूरी, मोरनी ।

सकंत कान्ता जनु केलि धाम में ।
विनोद वानी बदर्तीं त्रिजाम[1] में ॥

[९७]

ऐरावती[2] अभ्र[3] सनेह एकता ।
कही न जावै रस प्रीति प्रेमता ॥
भई जहाँ किंचित दूरि दामिनी ।
विघोष कीन्हो घन घोर यामिनी ॥

[९८]

अनच्छ[4] कीलाल[5] प्रवाह वेगता ।
उतंग कल्लोल[6] सुकूल बेधिता ॥
प्रचंडता संग बढ़े उदंडता ।
न होय भूले जन-लोक-रंजता ॥

[९९]

अश्रांत[7] वारिदा[8] परिवृत्त[9] द्यो[10] यथा ।
विषै विलासी हिय ध्वान्तता[11] तथा ॥

---

(१) रात्रि (२) एरावती—बिजली, (३) बादल, (४) गँदला, (५) पानी, (६) बड़ी तरंग, (७) निरंतर, (८) जल देने वाले बादल, (९) घेरे हुए, (१०) आकाश, (११) अंधकार ।

सुइन्द्रगोपा[1]वलि घूमतीं घनी ।
सुहाग सिंदूर सुहात मेदिनी ॥

[१००]

विसार[2] कुम्भीर[3] जलौका[4] ग्राहिका[5] ।
सुकंबु[6] मुक्ता[7] कमठी[8] प्रवाहिका ॥
प्रमोद पूरो जल-जीव-योनि में ।
क्षरंति[9] क्षिप्रौ[10] क्षर[11] क्षीर[12] छोनि[13] में ॥

[१०१]

उरभ्र[14] ऊर्वीधर[15]-शृंग[16] सोहते ।
मनो पठायो नभ दूत छोहते ॥
क्षणप्रदा[17] दर्शाति बार-बार है ।
जनो स्वकीया छन धाम द्वार है ॥

---

(१) बीरबहूटी, (२) मछली, (३) नाक, मगर; (४) जोंक, (५) ग्राहिनी, (६) शंख, (७) सीपी, (८) कछुई, (९) बरसते हैं, (१०) शीघ्रता के साथ, (११) मेघ, (१२) जल, (१३) पृथ्वी, (१४) बादल, (१५) पर्वत, (१६) चोटी, (१७) बिजली ।

शरद

वंशस्थ छंद

[१०२]

विहायसो[1] निर्मल नील नीरसा[2] ।
विलीन[3] शम्पा[4] क्षणभङ्गुरी[5] दसा ॥
न मेघ-निर्घोष[6] घनी पिधानता[7] ।
विभावरी[8]-दर्श[9] न ध्वांत[10] घोरता ॥

[१०३]

कहीं न कादम्बिनि[11] घूमती नभौ ।
दिखात श्वेताम्बर[12] शारदी विभौ[13] ॥
हिमांशु[14] तारा-छबि[15] यों प्रकासती ।
कलंक को कीरति धोय नासती ॥

(१) आकाश, (२) जिससे रस निकल गया हो, (३) विरत, नष्ट हो गई; (४) बिजली, (५) क्षण भर में नष्ट होनेवाली, (६) मेघ-गर्जन, (७) झंपन, आच्छादन; (८) रात्रि, (९) अमावस्या, (१०) अंधकार, (११) मेघमाला, (१२) श्वेत आकाश, (१३) ऐश्वर्य, (१४) चन्द्रमा, (१५) दीप्ति।

[१०४]

लतावली वारण-वल्लभा[1] विभा[2]।
विभात[3] भातो अति पूषनं[4]-प्रभा ॥
विवीत[5] वन्या[6] वर बाग सोहती।
मुनी जनों के मन दिव्य मोहती ॥

[१०५]

अबाल[7] बालार्क[8] प्रताप प्रायसा[9]।
सुबाल[10] सेवी कस मोह ना फंसा ?
चली न धाराधर[11] सों प्रचंडता।
छिपे रहे क्रूर लिये उदंडता ॥

[१०६]

प्रकाश आकाश भयो चहूँ दिसा।
दिखात शुक्ला अभिसारिका निसा ॥
सुधांशु[12] तारा सँग सोहते यथा।
विवेक आये फिर वासना वृथा ॥

(१) केला, (२) शोभा, (३) प्रातःकाल, (४) सूर्य, (५) बहुत तृण-घासवाला स्थान, (६) वन-समूह, (७) नवीन नहीं, (८) कन्या के सूर्य, (९) बहुत, (१०) सुन्दरी स्त्री, (११) मेघ, (१२) चन्द्रमा।

[१०७]

सदोष[1] दोषाकर[2] को कहें सभी ।
कुसंग दोषा[3] नहिं त्यागतो कभी ॥
शशी प्रकासै गहि दोषैं[4] तासु को ।
परोपकारी यश पूर्ण जासु को ॥

[१०८]

सनील[5] आभा नभ भासती जहाँ ।
मनो मनों पाप भरे धरे तहाँ ॥
निकेत आयो नभ के कलानिधो[6] ।
कलंक जेते दिव[7] के नसे किधों ॥

[१०९]

कलंक शीतांशु लह्यो अकास से ।
तबौं कर्‍यो प्रीति प्रभा प्रकास से ॥
कुमित्र देवै दुख बार बार जो ।
सकास[9] आये करते उबार सो ॥

---

(१) दोष-युक्त, (२) चन्द्रमा, (३) रात्रि, (४) अवगुण, (५) नीले रंग से संयुक्त, (६) चन्द्रमा, (७) आकाश, (८) चन्द्रमा, (९) समीप ।

[११०]

शरद्घना-मेघ न गर्जते कहीं।
मयूर बोली बन बोलते नहीं॥
न मार्ग जम्बाल सनीर सोहतो।
बुरो समै जानि न मित्र जोहतो॥

[१११]

तड़ाग अम्भोरुह भाँति-भाँति के।
सुफूल फूले बहु जाति जाति के॥
सुश्याम-इन्दीवर शुक्ल सोहते।
सुरंग रक्तोत्पल भौंर मोहते॥

[११२]

मयूख-माला लगि कंज-अंग में।
प्रफुल्ल कीन्हों त्यहि पंक संग में॥
दिनांत देखैं शतपत्र को कहीं।
स्व-स्वार्थ सेवी जग मित्रता नहीं॥

---

(१) शरद-ऋतु के बादल, (२) कीचड़, (३) कमल, (४) श्याम रंग का कमल, (५) लाल रंग का कमल, (६) किरण-समूह, (७) कमल, (८) कीचड़, (९) कमल।

[११३]

मलिंद मौनी न, मरंद[1] आतुरो ।
सघोष गूँजैं निज कार्य चातुरो ॥
सयान सो जो निज कार्य दक्ष है ।
विना न सींचे फल देत वृक्ष है ॥

[११४]

मयूरनी नीड[2]नि पोत[3] पालती ।
सुभोग भोगे फल लेत मालती[4] ॥
लखो सदानर्त[5] न त्यागतो प्रिया ।
स्वछंद कीन्हे कब आपनी तिया ॥

[११५]

सुनेह में पावस के बँधी रहै ।
बुलाय जीमूत[6] सखी सुखी चहै ॥
रहै न कैसे सुख में घिरी सदा ।
परोपकारी दुखिया कहीं कदा ॥

---

(१) पुष्प-रस, (२) पक्षियों के घर, (३) बच्चा, (४) जवान-स्त्री, (५) खंजन-पक्षी, (६) मेघ ।

[११६]

निशा निसानी तम की कहाँ रही ।
सुधांशु सेये तन स्वच्छता लही ॥
लसै क्षपा[1] अम्बर[2] भूरि श्यामता ।
सुसंग कीन्हें रहती न वामता ॥

[११७]

सुपुष्प गेंदा गुलमेहँदी घनी ।
लतावली बेलि हरी सुहावनी ॥
सुषेण[3] धारे फल लाल सोहते ।
मनो ग्रहीता हित दानि जोहते ॥

[११८]

अशोक शेफालिक[4] मल्लिका[5] जहाँ ।
पलाश कुद्दाल[6] सुबौर ना तहाँ ॥
दिखात सूने नहिं भौंर भीर है ।
दुखी भये मित्र न जात तीर है ॥

(१) रात्रि, (२) आकाश, (३) करौंदा, (४) निवारी, (५) बेला, (६) कचनार ।

[११९]

नदी बहैं मंद सुअच्छ[1] अंबु[2] है ।
प्रतीर[3] अम्बाल[4] न पौत्र[5] लंबु[6] है ।।
विलास[7]-मुक्ता रति अंत कामिनी ।
भई विमुक्ता[8]-मद मंद[9]गामिनी ।।

[१२०]

सुधूलि-पूर्णा महि राजती भली ।
न पंक[10] पानी मग बीथिहू गली ।।
सनीर जो राह रही कहीं जहाँ ।
दिखात भूरी चलते सबै तहाँ ।।

[१२१]

सुकास फूले फहरैं ध्वजा सितो ।
मनोज जीत्यो मुनि तापसी जितो ।।
बिजै कर्‍यो चेतन चेतना[11] नहीं ।
बिलोकि कांता मन मानतो कहीं ?

(१) निर्मल, (२) जल, (३) तट, (४) कीचड़, (५) नदी का पहट, (६) लम्बा, (७) भोग-विलास की हुई, (८) मद-रहित, (९) धीरे-धीरे चलने वाली, (१०) कीचड़, (११) होश ।

[१२२]

निकेत आवैं इषु[1]-मास पितृ हैं।
सुदेवि पूजैं अरि होत मित्र हैं॥
सुदीपमाला तिय धाम बारतीं।
उतारतीं हीय मनोज आरती॥

[१२३]

नहात जो कातिक प्रात गंग है।
विशुद्ध होतो करि साधु संग है॥
हिये भरी है बहु वासना जहाँ।
विराग शांती शुचि धर्म है कहाँ?

[१२४]

सरोज फूले सर भौंर गूँजते।
विहंग बोली वर बोलि कूजते॥
सुचंचु[2]-रक्ता-द्विज[3] लंब सारसौं[4]।
चलै मनो गुर्विणि[5] मंद भारसौं॥

---

(१) क्वार मास, (२) लाल चोंच, (३) पक्षी, (४) सारस, (५) गर्भिणी।

[१२५]

हरी-भरी बेलि लता विराजतीं ।
सुने हिमंतो मुरझाति भाजतीं ॥
न मान होतो गुनवान को तबै ।
नरेश की बुद्धि बिषै फँसी जबै ॥

[१२६]

कली सुपीता लतिकाग्र मोहती ।
वसंति सारी शरदांग सोहती ॥
मनो पग्यो काम-सखा सनेह में ।
करैं सबै रास-विलास गेह में ॥

सवैया

[१२७]

*मग मूंदि दयो जल यावँस सों,दिन पूँनि अमावस सों दरसै ।
चलते सब राह विराह तहाँ, निकसै न तमारि सदा तरसै ॥

(१) घास, (२) पूर्णमासी, (३) कुराह, (४) सूर्य ।

* भाविक-अलंकार—जहाँ भूत और भावी भाव प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किये जायँ, उसे "भाविक-अलंकार" कहते हैं । इसमें भूत-पावस ऋतु की निंदा की गई है कि उसने सब मार्गों को जल और तृण से ढँक लिया था, और अब भी कभी बरसा बरस देती है । अस्तु, भूतकालिक वर्णन के साथ 'अब भी' भूत ही का द्योतक है ।

पिक को नहिं बोलन देत कबौं, नित अर्क जवासन को झरसै ।
ऋतु शारद पारद[2] के समयो, अबहूँ बरसा कबहूँ बरसै ॥

[१२८]

† नभ नीर नहाय पवित्र भयो, घन को करि दीन्ह नदारद है ।
छिटकी छिति पै शुचि चन्द्र-छटा, मनु शंभु-जटा गँग नारद[3] है ॥
रवि बाल रमें दिसि दच्छिन जाय, भई गरमी सब गारद है ।
इत पावस है उत हेमँत राजति, शारद बीच विशारद[4] है ॥

(१) मदार, (२) पार देने वाला, (३) पानी देती है, (४) बहुत अच्छी ।

† **अनुगुण-अलंकार**—दूसरे के निकट होने से अपने स्वाभाविक गुण का प्रादुर्भाव हो उसे "अनुगुण-अलंकार" कहते हैं । मेघ जल-हीन होने से आकाश स्वच्छ हो गया और ऐसा होने से चन्द्रमा की चाँदनी आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यंत फैली है, मानो शिव की जटा से गंगा बह रही है । दूसरी ओर सूर्य कन्या-राशि में होने से दक्षिणायन हो गये, उससे गरमी भी कम हो गई । एक ओर पावस और दूसरी ओर हेमंत-ऋतु होने से शरद अच्छी लगती है—अर्थात् यहाँ आकाश स्वच्छ होने, चन्द्रमा की चन्द्रिका के फैलने और सूर्य के दक्षिणायन होने से, जो शरद के समीप थे, उनकी शोभा बढ़ गई ।

[१२९]

* शरदातप सों मग सूखि गयो, पग धूरि लगे गरमी न बस्यो।
कुस कास सुफूलि रहे बन मैं, तृन घास सुखानि भली दरस्यो॥
निशि मैं अब शीत जनाति कछू, शशि की किरनैं सबकौं परस्यो।
त्यहि बीच घटा घन घेरि छनै, चपला चमकी हथियां बरस्यो॥

[१३०]

† बरसात रह्यो तम तोम तहाँ, यहि देखन हेत शशी तरसै।
शरदागम जानि छपाकरहू, नभ कीन्ह प्रकास हियो हरसै॥

---

(१) हस्त नक्षत्र, (२) चन्द्रमा।

*विपादन-अलंकार—जहाँ इच्छा के विपरीत फल प्राप्त हो, उसे "विपादन-अलंकार" कहते हैं। यहाँ शरदागमन से सुख प्रगट किया गया है कि मार्ग का पानी सूख गया, धूलि-स्पर्श से उष्णता नहीं प्रतीत होती; बन में कास फूले हैं और घास पीली होकर पक गई है। रात्रि में कुछ-कुछ शीत भी होने लगी और चन्द्रमा की शीतल किरणें सबको स्पर्श करती हैं। ऐसी आनन्ददायिनी ऋतु के सुख का अनुभव मनुष्य करते थे कि इतने ही में एकाएक आकाश में घन-घटाएँ घिर आईं और पानी बरसने लगा। यह सब हस्त-नक्षत्र ने किया जो इच्छा के विपरीत कार्य हुआ।

† प्रहर्षण-अलंकार—जहाँ हर्षोत्पत्ति के अर्थ की सिद्धि का वर्णन हो वहाँ "प्रहर्षण अलंकार" होता है—अर्थात् जिस कार्य की सिद्धि के लिये यत्न किया जाय, उसमें अनुकूल सहायता मिलने से

तबहूँ अँधकार दुर्‍यो निशि धाम, दिपावलि दीप बरे झरसै ।
घर भीतर कोठरि कोन सबै, जहँ देखु तहाँ उजरो दरसै ॥

[१३१]

*चंद विना रजनी नहिं सोहत, राति बिना नहिं चंदहु भावै ।
वारि विना कहँ वारिधि है, अरु वारिधि के विनु वारि सुखावै ॥
कंज विना सर सून लगै पुनि, कंज सुखै जब ना सर पावै ।
भौंर भ्रमै मकरंद बिना, झुरसै मकरंद न भौंर लुभावै ॥

सिद्धि सहज में हो जाय । यह चन्द्रमा अंधकार का नामोनिशान नहीं रखना चाहता है, और इसी कारण से वह आकाश में प्रकाशित हुआ; और अपनी चाँदनी को पृथ्वी भर में फैलाया, किन्तु घर के भीतर कोठरियों में तब भी अंधेरा ही रहा । परन्तु दीपावली में दीप-समूह के प्रकाश ने वहाँ का भी अंधकार नष्ट कर दिया; और सब कहीं उजेला ही उजेला हो गया, जिससे चन्द्रमा के उत्कंठितार्थ की सिद्धि हुई ।

* अन्योन्य-अलंकार—जहाँ दो पदार्थों का परस्पर समान संबन्ध कथन किया जाय, उसे "अन्योन्य-अलंकार" कहते हैं । यहाँ पर चन्द्रमा और रात्रि, वारि और वारिधि, कमल और तड़ाग, भौंरे और मकरंद का परस्पर-संबध-वर्णन किया गया है । एक दूसरे के विना शोभा-हीन हैं और संयुक्त होने से शोभायुक्त । उनका एक दूसरे के साथ सहज संबन्ध है ।

[१३२]

† कर्ण सों दानि दियै जल पितृन, शीतल चंद्र समान सुहावै।
जगदंब प्रसन्न करै सुरथौ जस, तापस सों तन नित्त सुखावै॥
संत हियो सम निर्मल सोहत, भूपति सों घन दुष्ट भगावै।
शारदि शारद सौं बरनौं, कविता वनिता कवि के ढिग आवै॥

[१३३]

⊛ दूध समान कपूर प्रमान, सुअभ्रक सों दुति दामिनि मोहै।
राजति हंसिनि सी सर मैं, सलिलौ सम श्वेत तमारि सुजोहै॥

---

† मालोपमा (भिन्नधर्मा) अलंकार—इसमें जितने उपमान हों उनके भिन्न-भिन्न धर्म वर्णन किये जाते हैं। जैसे यहाँ उपमान कर्ण, चन्द्र, सुरथ, तपस्वी, संत, भूपति, शारदा हैं और उनके धर्म क्रमशः भिन्न-भिन्न दान देना, शीतल होना, देवी को प्रसन्न करना, शरीर को सुखाना—अर्थात् शरद में मार्गों का पानी सूख जाता है—दुष्टों को भगाना और कविता का विकास मन में होना आदि का वर्णन किया गया है। अतः यह "मालोपमा-अलंकार" है।

⊛ मालोपमा (अभिन्नधर्मा) अलंकार—इसमें अनेक उपमानों का एक ही धर्म कथन किया जाता है। जैसे यहाँ पर शरद की चाँदनी की उज्ज्वलता के वर्णन में जितनी उपमाएँ दी गई हैं, उनमें हर-एक उपमान में श्वेत-गुण दिखाया गया है। अर्थात् दूध, कपूर, अभ्रक, हंस, जल, दंत, एरावत, यश, सुख, कुंद, चंदन, चाँदी और चन्द्रमुखी के समान शरद की चाँदनी श्वेत है।

दंत यरावति सी लसती, यश सी सुख सी सुम-कुंद सुजोहै।
चन्दन चाँदि सुचन्द्रमुखी सम, सारद-चंद कि चाँदनि सोहै॥

[१३४]

*शशि सी सुधा सी घनसार सौध[1] सीपी सम,
हरिहय[2] हर सी तुषार सी बिछाई है।
बल[3] सी बलाक हीरा केंवरो सी कुंद की सी,
सिकता[4] करका[5] सी कपास सी सुहाई है॥
चँवर सी चंदन सी चून संख फेन की सी,
सत्व[6] दधि दुग्ध शेष सरिस दिखाई है।
कातिक कुआर मास अवनि अकास बीच,
शरद की शोभा श्वेत स्वच्छ छिति छाई है॥

हेमंत

वंशस्थ छंद

[१३५]

भई अवाची-दिसि[7] सूर्य संश्रया[8]।
नहीं रही दीधिति[9] उष्ण-आश्रया[10]॥

---

(१) चूने से पुता हुआ मकान, (२) इन्द्र, (३) बलराम, (४) बालू, (५) ओला, (६) सतोगुण, (७) दक्षिण दिशा, (८) निवास-स्थान, (९) सूर्य-किरण, (१०) आश्रित।

* सवैया नं० १३५ का नोट देखिये।

विहार बाला करि कौन मुक्त भो।
स्वधाम-त्यागी न प्रताप-मुक्त भो॥

[१३६]

तुषार[3] सों तूल[4] तुषार[5] सी लगे।
तुषार[6] भू में तुहिनांशु[7] सों जगे॥
सुतैल ताम्बूल सुतालिका[8] पिया।
सुभोग भोगै इन संग मैं प्रिया॥

[१३७]

हिमंत मैं सूर्य प्रताप-हीन है।
पराक्रमी हू पर-धाम दीन है॥
दिनेश[9] को ताकत कौन ग्रीष्म मैं।
प्रशांत[10] देखे जन लेइँ शीश मैं॥

[१३८]

उदीचि-भोगी[11] बनि भूमि जारतो।
न तेज वैसो रवि आजु धारतो॥

---

(१) कन्याराशि, (२) प्रतापी, (३) कपूर, (४) रूई, (५) हिम, (६) शीत, (७) चन्द्रमा, (८) सेज, (९) सूर्य, (१०) अधिक शांत, (११) उत्तर दिशा में विहार करनेवाला, उत्तरायण सूर्य।

कठोरता को लखि लोग भागते ।
सुचित्त-सेवी सन चित्त पागते ॥

[१३९]

सबाल[1] बाला[2] जन लेत घाम हैं ।
मनो चिढ़ावैं रवि भो निकाम है ॥
प्रचंडता शासन की नहीं भली ।
विपत्ति में व्यंग सुनै गली गली ॥

वसंततिलका छंद

[१४०]

शीतार्त[3] जीव उठि प्रात सकंप ठाढ़े ।
सेवैं दिनेश सब पाप सहाय गाढ़े ॥
जो हो सहायक विपत्ति समै सयानो ।
सो पूज्यवान बनतो करि प्रीति मानो ॥

[१४१]

नीशार[4] रांकव[5] महाधन[6] अंग सोहैं ।
धारे वँराशि[7] तिय शीत सभीत मोहैं ॥

---

(१) बच्चों के सहित, (२) स्त्री, (३) शीत से पीड़ित, (४) रजाई, (५) ऊनी वस्त्र, (६) बड़े मोल के वस्त्र, (७) मोटे वस्त्र।

शीतांशु[1] प्रीति करि चन्द्रमुखी निहारै।
मानो नवागत[2]-वधू प्रिय-प्रेम धारै॥

[१४२]

पत्रांगुली[3] विशद केशर सों रची है।
कस्तूरि भूरि परि पाणि[4] पिया खिंची है॥
माला ललामक[5] सुशोभित शीश सोहै।
मानो धन्यो कुसुम श्री कुसुमेषु[6] मोहै॥

[१४३]

निर्वात[7]-धाम वसि वह्नि[8] सकंत[9] सेवैं।
कांता[10] प्रवीण रस केलि प्रमोद देवैं॥
ताम्बूल सान्द्र[11] दधि दुग्ध सुपाक मेवा।
खावें प्रसन्न रहते नर नारि देवा॥

---

(१) चन्द्रमा, (२) नई आई हुई, (३) स्त्रियों के स्तनों पर केशर-कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थों से रची चित्रकारी, (४) हाथ, (५) शिखा से माथे तक लपेटी हुई माला, (६) कामदेव, (७) वायुरहित, (८) अग्नि, (९) पति के सहित, (१०) पत्नी, (११) चिकना, स्निग्ध।

[१४४]

कामाधिनी[1] स्तनभरा[2] मुख-चन्द्र सोहै।
मांजिष्ठ[3] वस्त्र धरि अंग मुनीन मोहै॥
हेमांगिनी[4] मधुर-वाक्य-प्रवीण बाला।
सेवै वहाँ जिन परी बहु पुण्य-माला।

शिशिर

द्रुतविलंबित छंद

[१४५]

शिशिर-शीत सभीत सरोजनी।
अलि बिदा करि दीन्ह प्रयोगिनी[5]॥
तुहिन अंग छुयो जब पद्मिनी।
जरि मरी जस पी बिन पद्मिनी॥

[१४६]

सरस सून प्रसून न पावहीं।
मधुप-पुंज न गुंजति गावहीं॥

---

(१) काम के अधीन, (२) मोटे स्तनों के भार वाली, (३) मजीठ के रंग का, (४) स्वर्ण-वर्ण अंग वाली स्त्री, (५) वश करने वाली।

रहति दूरि दिखे जल जीव हैं।
लगि कलंक कहौं शुचि-सींव हैं ?

[१४७]

शिशिर-शासन-शासित भानु है।
सपदि जात चलो नहिं मानु है ॥
तपत जो त्यहि को हियहू तपे।
कसक आजु विभावसु[1] ना झँपे ?

[१४८]

सदन-सुंदर सुंदरि सोहती।
सहज रूप सँवारि विमोहती ॥
तनिक वायु न आगम द्वार है।
मदन पौन कर्‍यो प्रतिहार है ॥

[१४९]

दरिद दीनन के नहिं वस्त्र हैं।
सतत काँपत शीत सत्रस्त हैं ॥
नृपति सोवत जागत ये दुखी।
कसक भूपति होंय कबौं सुखी ?

(१) सूर्य।

[१५०]

डफ मृदंग सुढोल बजावते।
मुदित बैठि युवा-गन गावते॥
लगि गयो जब फागुन मास है।
तिय करैं पति सों परिहास हैं॥

[१५१]

नवल नारि पगी परिहास मैं।
मन उमंग अनंग विलास मैं॥
रँग भरी पिचकारिन मारतीं।
मुख अबीर लगाय न हारतीं॥

[१५२]

बसन झीन नवीन सुअंगना।
चिपकि चोलि दिखै अँग संक ना॥
हँसि हँसावति बाल विलासिनी।
मदन-मोद-प्रमोद उपासिनी॥

[१५३]

मुरंज बीन प्रबीन पयोधरी।
कमल कोमल सों कर मैं धरी॥

(१) मृदंग।

पुरुष घेरि अकुंश[1] बनावतीं।
जस चहैं तस नारि नचावतीं॥

[१५४]

हँसति गावति वाद्य बजावतीं।
करि अनेक उपाय रिझावतीं॥
द्रव[2] करै द्रव[3], रोप नहीं हिये।
तपन[4]-ताप कहाँ हिम-आलये?

[१५५]

दोहा

कवि गन बरनै पट ऋतुन, सुनैं राम सुख पाय।
जितो देइँ सो लै न सक, महादानि रघुराय॥
"सिरस" कविहिं दीन्हो सबै, जग की जौनी चाह।
तबहुँ न लखि संतुष्ट त्यहि, दयो भक्ति अवगाह॥



(१) स्त्री-वेषधारी नाचने वाला पुरुष, (२) हँसी (३) ढीला, (४) सूर्य।

एकविंश सर्ग

लक्ष्मण-व्रतोत्साह

रोला छंद

[१]

लखन कर्‌यो प्रण कठिन, जबै वन गयो राम सँग ।
ब्रह्मचर्य-व्रत लीन, पीन-मति रखि शम-दम-रँग ॥
निशि न नींद दश-चारि वर्ष, रहि नैन न यक पल ।
भेद नारि नर नहीं, कर्‌यो हिय कबहूँ करि छल ॥

[२]

पूरो व्रत अब भयो, सबै विधि विधि पूरी करि ।
आजु करत उतसाह, राम-सीता हिय सुख भरि ॥
चहल-पहल चहुँ ओर, भोर जन कहत लखन गुन ।
इत आवत उत जात, लखत मग मन सुख सौगुन ॥

[३]

गावैं मंगल गीत, नारि सजि निकरत राहन।
मांगलीक लै वस्तु, करत मंगल आवाहन॥
लाजत अति रति देखि, सुंदरी सब सुंदर मुख।
पति-व्रत मति मन लीन, लीन्ह जिति सुर-लोकन-सुख॥

[४]

गावति गावनिहारि, चली गाँवन सो आवैं।
पुण्यवान के पास, मनो सब रिधि-सिधि धावैं॥
वालक-गन लै अंक, लंक-तिय-तिरछि सुशोभित।
देखि अवधपुर-अवनि, देव आवन लगि लोभित॥

[५]

बाजा बजत अनेक, नेक सुनि परत न कछु तहँ।
वाद्य बजावत गुनी, ध्वनी लय तारतम्य तहँ॥
नरतकि नाचत चकित, करत करि कला अनेकन।
गुन-गौरव गुनि जात, नहीं सुर-पुर-तिय नेक न॥

[६]

रंग-बिरंगे विविध, वितानन तनि तिन तानैं।
धर्म मनो शुचि सत्य, शील तप हिय महँ आनैं॥

बँधे बाजि-गन चपल, वायु लगि बिजुकत छन छन।
हींसत कान उटेरि, समर साहसी बिचच्छन॥

[७]

नहिं लगाम मुख लेत, फेरि बहु बार निवारैं।
मान न मानिनि मान, मनो मन महँ बहु धारैं॥
सजि सवार असवार, चलत धरि टाप टाप पर।
जो स्वतन्त्र जन भूलि, नहीं मन पर-शासन धर॥

[८]

पग अलान बँधि खड़े, बड़े ऐरावत सम गज।
मद गल बहत विशेष, कान डोलत अलि-गन भज॥
श्वेत दंत अति लंब, सुचिक्कन सुंदर सोहत।
दाबि सिंह तिन बीच, विपिन मृग-वृंदन मोहत॥

[९]

सरयू-सलिल न दिखत, भीर नावनि की भइ जहँ।
चढ़ि अनेक मुनि संत, अवध आवत तिन पर तहँ॥
सेवा सरिता करति, मनो तिनकौं पहुँचावैं।
राम-भक्ति हिय बसै, सबै जन जग शिर नावैं॥

(१) बेड़ी।

[१०]

नगर बरनि को सकै, जहाँ शोभा शोभा लहै।
रचित रजत गृह हेम, हर्म्य ऊँचे जनु नभ गहै॥
मनि हीरा कों बनो, राजं[1]-मंदिर मंदिर[2] दिप।
मन्दर[3] मन्दर[4] त्यागि, चले सुर तापस ना छिप॥

[११]

गायक गावत कहूँ, कहूँ नाचत नरतक-दल।
नटी-नटन-परबीन, संग नट नटत कहूँ भल॥
कहूँ विदूषक व्यंग, बोलि सब सभा हँसावत।
कहूँ गुनी गुन प्रगट करत, निज कला दिखावत॥

[१२]

कवि-कोविद कहूँ करत, काव्य कल कीरति गावत।
कहुँ पंडित-गन बैठि, शब्द-साधत सुख पावत॥
कहुँ पुराण बुध कहत, पाठ वेदन कहुँ होवै।
ऋषि उपदेसहिं कहूँ, जहाँ संशय सब खोवैं॥

(१) राजमहल, (२) नगर, (३) स्वर्ग, (४) एक पहाड़।

[१३]

रचि मंडप अति रुचिर, यज्ञ कहुँ करत विप्र वर।
भेंट-भार शिर धरे, निकर[1]-अनुचर निकरत घर॥
कहुँ अधिकारी सजे, खड़े निज प्रभु आज्ञा हित।
साजि सवारी चलत, भूप-गन कहुँ प्रमुदित चित॥

[१४]

खेलत खेल अनेक, कहूँ सुंदर बालक-गन।
कहूँ तयारी करत, सजत जन साज रुचिर तन॥
कहुँ विहँग-वर-बोल, मोहि पथ पथिकन रोकत।
कहुँ रथ कहुँ गज तुरँग, चढ़े जन इत-उत डोलत॥

[१५]

लाजा अच्छत सुमन, फेंकि कहुँ तिय करु स्वागत।
सादर आगे मिलत, जबै अवलोकत आगत[2]॥
कवि बरनै क्यहि भाँति, अवधपुर शोभा आगर।
प्रगट जहाँ प्रभु आपु, राम-राजा नव-नागर॥

[१६]

अन्तःपुर आनन्द, संग-सीता सब सखि-गन।
हर्ष थोर नहिं आजु, करत नव साज छनै छन॥

(१) झुण्ड, (२) आया हुआ व्यक्ति।

मुदित लखन उरमिला, मिलन की करत तयारी।
नहिं समात सुख-सुरभि, हिये मिलि बही बयारी॥

[१७]

चहुँदिसि फैलि सुगंध, मही पाताल स्वर्ग महँ।
भौंर-भक्त उड़ि चले, बसे प्रभु-पद-पंकज जहँ॥
सून भये सब लोक, लोकपति श्रीपति हर विधि।
आये न्यवर्त अवध, अवधपति जहँ करुनानिधि॥

[१८]

जनक जानकी राम, अन्य भाइन देखन हित।
आये सब लै साथ, टिके वाहर इन्द्रीजित॥
जल माटीहू संग, जनकपुर सों धरि लाये।
नेम प्रेम की सीख, देत जनु सबहिं लुभाये॥

[१९]

सेवक परम विनीत कुशल, निज कला करन महँ।
सविधि काज सब होत, परख पर परख होत जहँ॥
अतिथिन कौं सतकार, करत सब विधि प्रभु आपै।
सकुचत शारद शेष, जाइ शोभा कहि कापै॥

---

(१) सुगंध।

सिद्धि का परिहास

[२०]

हँसमुखि सरहज हँसति, मधुर ध्वनि व्यंग सुनावै ।
यती विरागी जौन, तौन का घरहु बसावै ?
इन्द्रिन लीन्हो जीति, तिन्हैं मनसिज कस जीतै ?
रूख[1]-निरस कस सरस, सिंचत बरसन चह बीतै ?

[२१]

जात नयन नय[2], नारि दिखत, मन सकुचि सिहानो ।
नारिन भरि जनु गयो, नारिपन महा लजानो ।।
अबलन लखि बनु अबल, सबल सबला कहँ पावैं ।
प्रबल पुरुष की जाति, बरनि कवि भूल दिखावैं ।।

[२२]

भूनि गयो जो बीज, उपज अंकुर त्यहि सों कब ?
तपन[3]-ताप सों सुख्यो, सरस-सर रहै कसक तब ?
नयन-बाण नहिं बिंध्यो, हृदै लखि पविहुँ[4] लजानो ।
सिरस-सुमन सो पाय, बनै कस मृदुल सयानो ?

(१) वृक्ष, (२) लक्ष्मण स्त्री को देखकर दृष्टि नीचे कर लेते हैं, (३) सूर्य, (४) पत्थर ।

[२३]

पुरुष संग करि नारि, प्रकृति जग सृष्टि चलावति।
अबल-लता अवलम्ब, भेंटि तरु नेह जगावति॥
मृदु कठोर को साथ, विधाता सुख-हित दीन्हो।
फिर काहे इन लखन, न सूपनखा भल चीन्हो?

[२४]

मेघनाद-वर-वीर, पराजय रन मैं दीन्हों।
प्रवल पराक्रमि बली, कहावत जग यश लीन्हों॥
देत चुनौती आजु, दिखावहु निज बल आई।
हारावली[1] बिलोकि, हारि गिरि परहु भ्रमाई॥

[२५]

बिहँसि खींचि सर कुसुम, तिरछि तकि मारैं जाहीं।
भला बचै किन बिधे, कहै को अस जग माँहीं?
अति उतंग-गिरि उभय, राह सँकरी तिन बीचै।
चतुरहु भटकत भूलि, होत चल-अचल नगीचै॥

[२६]

दिखत रूप कौं भूप, रंक होतो नहिं सकुचत।
गृही फिरैं लगि साथ, तपसि तिन देखत ललचत॥

(१) हार की लड़ियाँ।

चेतन चेत न चित्त, बनत जड़ चेतन छवि छकि ।
बढ़त वृक्ष दिसि डार, बहत सरिता सागर तकि ॥

[२७]

शस्त्र अस्त्र बिन जीति, जगत तिय ध्वज फहरावैं ।
अजित कहावहु राम, अछत युवतिन नहिं भावैं ॥
हारि विजय का न्याव, करौ रघुनंदन आपै ।
उत्सव क्यहि हित होत, मदन-दुंदुभि बज का पै ?

[२८]

जीति लयो जो सबन, ताहि जो छन मैं जीतै ।
सो अजेय बलवान, गाव कवि ताके गीतै ॥
तुम्हरे मुख हम न्याव, करावति हैं रघुनंदन ।
हम विजयी की आपु, करत को मनसिज-वंदन ?

[२९]

छाँड़ि देइँ ज्यहि तिया, बनत योगी सन्यासी ।
है बपुरा जग कौन, होत ना पग-तल बासी ?
नवल-नागरी-निकर, निकट नव-नागर घेरे ।
बिहँसैं हँसैं सखीन, सँकेत बुलावैं नेरे ॥

[३०]

राम हँसत तब कह्यो, भ्रात सब बाहर जाओ।
इन नारिन नदि-तीर, तरन तरनी नहिं पाओ॥
सजि सुंदर शृंगार अंग, आईं जनु गँवने[1]॥
सुनत नाय शिर बिहँसि, भरत लै भ्रातन गँवने[2]॥

[३१]

करत राम परिहास, संग सरहज सुचि सोहैं।
अभिमत आनँद लहत, देखि सुर मुनि-मन मोहैं॥
सरस-सार-संसार, सगुन[3]-सर सॅरस[4] सोहैं।
भक्त-भौंर भइ भीर, मधुर मधु हित नित जोहैं॥

[३२]

लपकि लता लपटात, विटप कहुँ ताहि निवारै ?
अपनो सुख त्यहि समुझि, सदा ताको सिर धारै॥
पल्लव दल फल दलत, तबहुँ अँग माहिं लगाये।
रहत सदा तरु खड़ो, ताहि नित सुख सरसाये॥

---

(१) द्विरागमन, (२) पयान किया, (३) सगुणोपासना, (४) कमल।

[३३]

विष्णु क्षीर-निधि बसे, शंभु कैलास निवासी।
विधिहू विधिपुर बचे नहीं, बनि शक्ति विलासी ॥
अपर जीव को गनै, अहैं किंकर कामिन के।
फिरि हम हैं कस नहीं, सतत सेवक भामिनि के ॥

[३४]

जीति हमारी कार्य, प्रेम-कारन निज जानो।
सर तड़ाग तब भरत, बरसि बरसा भल मानो ॥
हम हारे सब भाँति, कौन रन सन्मुख आयो ?
बिना हृदय चह बचे, न हिय बिनु विधि उपजायो ॥

[३५]

तबहुँ कहत सकुचाउँ, सुनहु सुंदरि भल बातैं।
धनुष बान गिरि-शिखर, कंज केला-दल गातैं ॥
मारि गिरावहु जौन, मरहु त्यहिके हित तुम कस ?
हारि जीति मैं होइ, न कब प्रिय सौंपौ सरवस ?

[३६]

पावस गरजत मेघ, देखि मोरहु तब बोलैं।
जल परसत महि मृतक, भेकि-कण जीवहु डोलैं ॥

ऋतुपति आगम जानि, मौन व्रत पिकहू त्यागत।
इन्द्रीजित तव कस न, तिया-तनु लखि अनुरागत ?

[३७]

मुद प्रमोद बहु मिलत, पुरुप कौं नित कामिनि सों।
तिन हित होत उछाह, मुदित ज्यों शशि यामिनि सों॥
जो ज्यहि को सुख देत, वृद्धि त्यहि की सो चाहै।
जल सींचत तरु तौन, भरै रस फलनि उमाहै॥

सिद्धि

[३८]

काहे नहिं तव करत, राम उरमिला प्रशंसा ?
निश्चय करि बुधि काम, देत मन कौ नहिं संसा॥
इन्द्रिन सौंपत तौन, कार्य करु निज अनुसारी।
मुख्य नारि जग विदित, पुरुप को रखि सहकारी॥

[३९]

जो हार्‍यो सो जीत, जीति हार्‍यो मन सुख करि।
प्रेम-समर मैं युद्ध, सूर बलि करत अपनि भरि॥
सरहज के सुनि बैन, राम हँसि बचन सुनावैं।
जीति हारि को गुनै, एक दूसर अपनावैं॥

[४०]

मॉँगि बिदा तब राम, गये बाहर सुख-दाता।
इत तिय पूजैं देवि, हर्ष मन नाहिं समाता॥
हास्य बसत सुख-शिखर, पवन-आनँद हिय डोलै।
बनत व्यंग कटु सरस, परसि प्रीतिहु जो बोलै॥

श्रुतिकीर्ति के साथ सखियों की हँसी

[४१]

बिहँसि सखी यक कहत, सुनहु मम अली सयानी।
पिक वसंत रहि साथ, न बोलत कब मृदुबानी?
राका-निशि शशि उदय, तकत का नाहिं चकोरी?
कस नहिं चातकि पियै, स्वाति बरसत बरजोरी?

[४२]

भरो मधुर मकरंद, अनूठो पंकज माहीं।
तबौं मधुकरी लखत्त नहीं, कब त्यहि दिसि काहीं॥
श्रुतिकीरति पति साथ रही, मन ना अनुराग्यो।
बानप्रस्थ विचारि, मुदित दम्पति सुख त्याग्यो॥

[४३]

इनहूँ को व्रत पूर, भयो फल येहू पावैं।
बरसा आवत जबै, मेघ बरसन झरि लावैं॥

सुनत हँसी सब नारि, घेरि श्रुतिकीरति को तब।
होत गृही सन्यासि, नहीं गृहि सन्यासी जब॥

[४४]

कसक बनो अब घरनि, गंग उलटी कस बहिहैं?
सौरभ गंध समीर, न कस मधुकर ढिग जइहैं?
अति सँकोच-हिय-सुलभ, मंद मुसकात तकत महि।
शत्रु-दमन-तिय मुदित, व्यंग-बरसा सखि-घन सहि॥

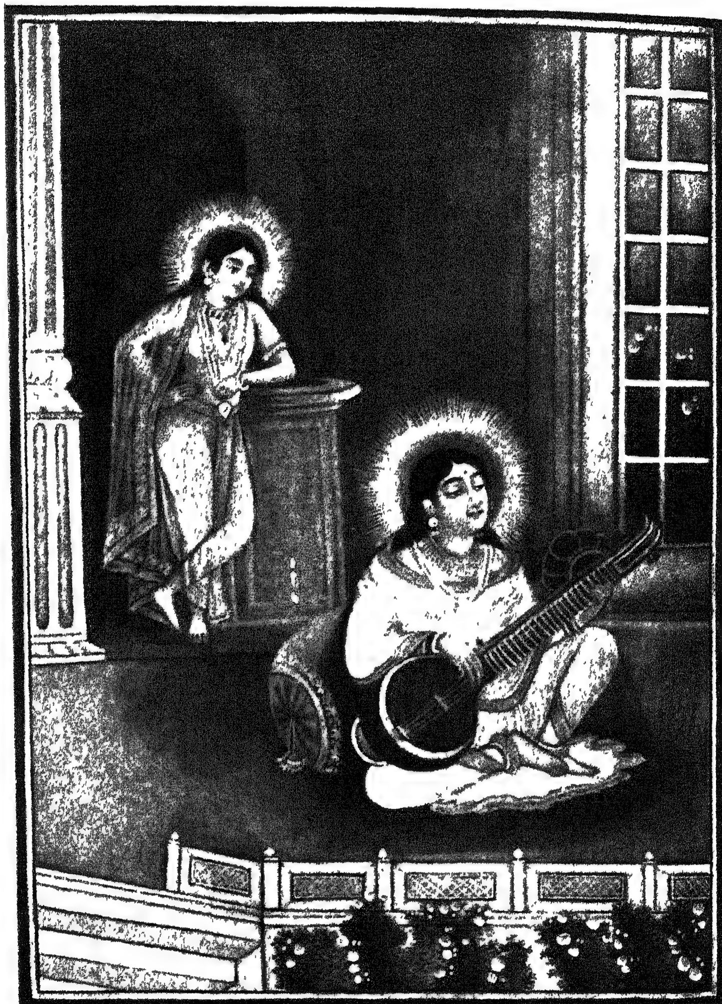
[४५]

हँसत सिया तब कह्यो, न कउ भगिनी लजवावै।
थार सुव्यंजन भरो, कौन नहिं ताको खावै?
श्रुतिकीरति जो कीन्ह, कठिन मुनि सुर सो भाख्यो।
अग्नि साथ नित रहै, तबौं हिय शीतल राख्यो॥

[४६]

श्रुतिकीरति कर जोरि, मधुर मृदु बानी बोली।
चुअत चन्द्र जनु अमी[1], महा सुंदर अति भोली॥
जो मारग मम बड़े, चले त्यहि मैं अपनायों।
बैठि नाव अँग भिजत न जल, गुह पार लगायो॥

(१) अमृत।



लक्ष्मण उर्मिला-मिलन

(पृष्ठ ४७७ छन्द ४९)

[४७]

यहि विधि करत अनंद, रानि सुनि सब सुख पावैं।
उमा शारदा रमा, गीत-मंगल नित गावैं॥
वरनि सकै कवि कौन, अवधपुर आनँद-पावन।
पुण्य-वारि विधि-मेघ, बरसि कीन्हो जनु सावन॥

लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन

रूपमाला छंद

[४८]

साँझ होत चकोरि ताकत, नभ निशाकर हेत।
किरन दिनकर लखत कमलिनि, परसि त्यहि करु चेत॥
चकी चक की बाट जोहत, बार-बार बुलाइ।
उरमिला पति-मिलन-प्रमुदित, लखै लखन-अवाइ॥

[४९]

साजि सब शृंगार भूषन, सुखद सुंदर अंग।
विशद-वीणा हाथ सोहत, रँगी पति-पद-रंग॥
कंत कीरति कलित गावति, ललित सुंदर गीत।
सुर असुर घननाद जीत्यो, ताहि प्रभु लिय जीत॥

[५०]

चरन पंकज कहत उपमा, तदपि सोहत नाहिं।
सकुचि निशि महँ बंद होतो, हीन-द्युति दरसाहिं॥
मधुप मम मन लहत मधु जहँ, राति दिन नहिं भेद।
शबर-गीत पुनीत कस कहुँ, करत समता वेद?

[५१]

भुज विशाल सुकंध ऊँचे, मनो गोपति सोह।
कमल-लोचन हँसनि मधुरी, को न तिय जग मोह?
नाक-नारी नाक रगरैं, रतिहु मोहति रूप।
डिगत नेकहुँ नहीं पति-मन, काँच लखि ज्यों भूप॥

[५२]

निरत नित कर्तव्य-पालन, वीर धीर प्रमान।
इन्द्रिजित ह्वै जीत लीन्हो, इन्द्रजीत महान॥
बने तपसी पूज्य भ्राता, पिता आयसु पाय।
कीन्ह सेवा सदा सब विधि, क्षात्र-धर्म जगाय॥

[५३]

अमर भागत अमरपुर सुनि, समर आयो नाथ।
असुर-दल दुख दबे दलदल, देखि प्रभु धनु हाथ॥

उपसर्ग जोर्‌यो 'न' 'रन' सँग, नरन राख्यो नाम ।
जनु कहैं हम रन विमुख हैं, इत न तुम्हरो काम ॥

[५४]

विनय शील सयान सब विधि, बुद्धि विद्या ज्ञान ।
अतुल बल सँग क्षमा सोहै, धर्म न्याय निधान ॥
मैं धन्य प्रभु कों भइउँ भामिनि, भाग्य भो अनकूल ।
विष्णु-पद-गौरव मिल्यो यक, गंग को सुख मूल ॥

[५५]

कंत-कीरति बैठि गावति, जोहती मग ताहि ।
सखि समाजहु हैं न मंदिर, मिलन समय जनाहि ॥
सुनत ठाढ़े लखन प्रमुदित, उरमिला के गीत ।
हृदय-सागर लहर-सुख उठ, शब्द-रव संगीत ॥

[५६]

धरि पाँव धीरे आइ पाछे, आँखि मूँद्यो कंत ।
सहमि कामिनि गई हिय मैं, परसि कर-मतिवंत ॥
सखिन अँगुरी अहैं कोमल, कठिन लागत मोहिं ।
चुरिया न भूषन पानि सोहत, नाथ निश्चय होहिं ॥

[५७]

नयन की बड़ भागि है, जिन प्रथम परस्यो गात।
दिशा प्राची श्रेष्ठ मान्यो, प्रात-सूर्य दिखात ॥
हाथ कीन्हो भूल छुइ कर, चरन सेवन चाहि।
निकर घन सों शशि, चकोरी दिखन दीजै ताहि ॥

[५८]

खोलि दीन्हो आँखि भामिनि, परी चरनन माहिं।
पिय उठाय लगाय हिय में, चूम मुख प्रिय काहिं ॥
बिरह-दुख गलि बह्यो हिय सों, अश्रु बाहर कीन्ह।
बरसि जल महि होइ सीतल, ताप उड़ि भइ छीन ॥

[५९]

लखन बोले धीर धरि तब, अब प्रिया कस रोव ?
दुःख जेते नाश भे सब, चित्त चिंता खोव ॥
सुघरि तैंहीं अहै कारन, पूर्ण व्रत भो आज।
लहत चातक नीर निर्मल, काह महि-जल काज ?

[६०]

प्रेम-तव मम हृदय माहीं, भरो पूर्ण अथाह।
अनुराग लहरी उठति छन छन, सुरति पौन प्रबाह ॥

अन्य वस्तु न सिन्धु-हिय महँ, फेकि देवै तीर।
सदा निर्मल नीर रहतो, जन्तु-जल सुख भीर॥

[६१]

बँधो जो जन रज्जु पोढ़े, कसक अनते धाय ?
अछत कमलिनि कहाँ भरमत, भौंर इत उत धाय ?
बिको जो जग हाथ जाके, सदा सेवत ताहि।
फँसो मन तव-संग मैं तब, कसक बाहर जाहि ?

उर्मिला

[६२]

सब भाँति सों हौं हीन गुन मैं, नीच दीन नदान।
चूक नित उठि होत म्वहिं सों, कन्यो भूलि न ध्यान॥
स्वामि प्रभुता कसक बरनौं, बुद्धि विद्या नाहिं ?
गज चढ़ावत धूरि निज शिर, कौन गुन त्यहि माहिं ?

लक्ष्मण

[६३]

बैन सुनि अस प्रिया के तब, हँसि लगायो हीय।
वचन-चतुर सयानि सब विधि, अहो उत्तम तीय॥

भाग्य-भूरि हमारि सुख मय, भइउ भामिनि आय।
मिलत पारस जगत ज्यहि को, दीन नाहिं दिखाय॥

[६४]

नित्त आनँद करत दम्पति, भोगि दुरलभ भोग।
सुर सिहात सुभागि तिनकी, देखि अनुपम योग॥
राम राजा प्रजा सात्वकि, भाइ प्रीति न थोरि।
सून लागत स्वर्ग सुरपति, अवध आवत दौरि॥

[६५]

सदन सुंदर उच्च सोहैं, छुअत जनु आकास।
शिखर मनिमय बने चमकत, होत दिव्य प्रकास॥
बसत तिनमैं राम-भ्राता, भोग भामिनि साथ।
कल्पवृक्षहु तरे बसिकै, का न लागत हाथ?

[६६]

अवधवासिन भाग्य बरनत, होत भाग्य सुभाग।
राम राजा जहाँ सोहैं, सबै सुख तहँ जाग॥
बसत हिय रज तम नहीं जहँ, शुद्ध मति आचार।
मगन रहतो मीन-मन जल, सत्य शील विचार॥

अन्तःपुर में आनंद

रोला छंद

[६७]

अन्तःपुर आनंद होत, तिय-गन तहँ जावैं ।
नगर ग्राम सुरलोक, त्यागि सखि गन लै धावैं ।।
एक एक सों सुघर, सील सोभा गुन आगरि ।
बसन बिभूषन साजि, चलीं न्यवते नव-नागरि ।।

[६८]

गावैं सब सखि साथ, सुनत आनँद मन छावै ।
मधुर बचन अनमोल, सुनत कोकिल लजि जावै ।।
प्रबिसत भीतर धाम, रानि सीता करु स्वागत ।
हाथ जोरि सिर नाइ, विनय करतीं बहु आगत ।।

[६९]

चतुर मांडवी जाय, साथ जलपान करावत ।
विविध प्रकार अपार, सुमुखि व्यंजन बहु लावत ।।
परिचारिका अनेक, नेक तिय छुवन न देवैं ।
निज कर सेवा आपु, करत मन बस करि लेवैं ।।

[७०]

श्रुतिकीरति उरमिला, सबन की सेवा करतीं।
बरजति तिय बहु बार, तबौं हँसि कर पग धरतीं॥
बड़ो भाग है आजु, कृपा करि इतै पधारीं।
करत सुगंधित सदन, सुरभि लै बहत बयारी॥

[७१]

कुशल-कला-संगीत, गीत गावति पिक-बैनी।
रखहिं ध्यान स्वर ताल, बाल श्रोतन सुख दैनी॥
वीन मृदंग सितार, आदि बाजा बहु बाजैं।
ज्यों तनु छाया संग, ताल तस गीत बिराजैं॥

[७२]

नृत्य करहिं वर नारि, देखि नरतकि लजि जावैं।
नाचत गति गच गात, घात करि श्रम गुन भावैं॥
कटि ग्रीवा दृग हाथ, साथ निज भाव बतावैं।
गाइ गायिका बदति, मौन ह्वै तौन जतावैं॥

[७३]

खेलहिं नाटक नीक, रूप नट नटनी भल धरि।
बस्त्र पात्र अनुहार, गात्र धारे तस मन करि॥

रंग-मंच पर व्यंग, बिदूषक बनि बहु बोलैं।
पाखंडिन की नीच, कपट कलई जनु खोलैं॥

[७४]

हँसति हँसावति सबै, मोद आनंद बढ़ावै।
मेनकादि उरबसी, देखि मन मैं लजि जावै॥
मातन कौं सुख बरनि, सकै कवि को कहु अस जग ?
धर्म निरत नर मनो, लहत सब सुख नित पग पग॥

लक्ष्मण-व्रतोत्सव-सभा

[७५]

भ्रात मंत्रि-गन साथ, राम सिंहासन सोहैं।
जन-समूह उमड़ात, ताहि सागर लखि मोहैं॥
दान भेंट सनमान, देत सबहिंन कौं रघुबर।
अधिकारी कह लेहु, "नहीं" नर करत "भर्‍यो घर"॥

भरत

[७६]

पाइ राम-रुख भरत, कहत गंभीर वचन-वर।
सुनत सभा सब शांत, शांत-सागर थिरता धर॥
योग समाधि लगाय, योगि निशि दिन तप साधैं।
काह लोक बिच होत, न जानत जन मन बाधैं॥

[७७]

नेकु विघ्न लखि देत, शाप जन मन कुंठित करि।
नट-योगी चढु बाँस-योग, भूलत उतरत फिरि॥
भूख प्यास अरु नींद, जौन व्योहार सकल तन।
लखन जीति सब काहि, कीन्ह नहिं छोभ तनिक मन॥

[७८]

पंच-तत्व के परे, लखन जनु थिरता पायो।
त्यहिते इनको कछू, न जग बिच व्याधि सतायो॥
गरजत घन बहु जोर, घोर बरसत जल पूरो।
बूँद एक नहिं दिखत, रहत पुहुमी अँग भूरो॥

[७९]

मरु-सिकता बड़ि दूरि, सोखि लेवै जल-धारा।
मन वासना न नेकु, विषय पावै कस पारा?
लोभ विना नहिं मोह, मोह विनु कहाँ काम जग?
काम विना कस गर्व, गर्व बिनु कसक क्रोध लग?

[८०]

क्रोध हिये ज्यहि होय, काम कैसे नहिं जागै?
काम रहत नहिं जहाँ, क्रोध की उठत न आगै॥

होत एक तहँ रचत, सबै षटहू मिलि जालै।
करिया सँग गुह पाल, डोरि तरनी धरि चालै॥

[८१]

मनसा वाचा कर्म, निरत श्रीप्रभु-पद-जल नित।
मीन समान सनेह, रखत नहिं बिलग कबौं चित॥
दुखी न तिन लखि सकत, प्रान निवछावर हू करि।
मनो प्रलय-आदित्य, रोष सों जारत जग-अरि॥

[८२]

कबहुँ न कोप्यो लखन, चखन नहिं लाली लायो।
निज स्वारथ-हित भूलि, न सपन्यहु मन खुनसायो॥
बीर-भाव दरसात, लखत भय-तनिक राम कहँ।
लहरि न उठ जल बीच, होय नहिं वेग वायु तहँ॥

[८३]

राम-प्रेम-शशि उदय, लखन-हिय-नभ सुखकारी।
घिरत बिपति-घन-घटा, दुःख-तम धावत भारी॥
क्रोध-पवन-परभाव, मेघ इत-उत दुरि भागै।
चन्द्र-चाँदनी-भक्ति, राम की तब मन जागै॥

[८४]

मीन न जल बिनु जियत, पंख बिनु बिहँग न उड़ि सक।
तरु न हरित बिनु बारि, पथिक पथ बाहन बिनु थक ॥
सुखी न सुत बिनु जननि, नित्य व्याकुल रहतो तहँ।
छन न चैन कहुँ लखन, लहत बिनु लखे राम कहँ ॥

[८५]

करौं प्रशंसा कसक, लखन गुन लखत लाख लह।
करि अनन्य प्रभु-भक्ति, भक्त बनयो बहु जग महँ ॥
'साधु साधु' सब कहत, हर्षि आनंद मनावैं।
होत प्रीति अनुराग, लखन-गुन गाय सुनावैं ॥

लक्ष्मण

[८६]

लखन नाय शिर कहत, जोरि कर मधुर वचन वर।
निज बल तृन नहिं बहत, प्रबल-सरिता-धारा धर ॥
धूरि गगन कस चढ़त, पवन जो नाहिं चढ़ावत।
प्रभु उदार, वर भ्रात भरत, अस अधम बढ़ावत ॥

सभा-समाप्ति

[८७]

आइ निशा¹मुख तबै, निशा आगमन बतायो।
उठी सभा सुख पाइ, सबै आनंद मनायो॥
लक्ष्मण में करि भक्ति, अवसि जन भक्ति जगावैं।
ज्यहि के वश हैं भरत, राम त्यहि कंठ लगावैं॥



(१) संध्या।

द्वाविंश सर्ग

ऋषि-मुनियों का आगमन

सार छंद

[१]

एक समय ऋषि ज्ञानी मुनि जन, कौशलपुर बहु आये।
चरन पखारि राम तिनके तहँ, करि बिनती गृह लाये॥
सुंदर सदन सजे सब बिधि सों, तिनमैं आसन दीन्हो।
उत्तम कुल बपु योनि पाय जनु, जीव जन्म सुख लीन्हो॥

[२]

मातु बधू भ्राता तिन पहँ लै, मुदित जाय सिर नायो।
जीव मनो सत-वृत्ति धर्म सँग, हरि-पद-पद जनु पायो॥
बड़ी कृपा करि इतै पधारे, दर्शन सों सुख पायो।
बरसत मेघ जाय सब ठौरन, प्रमुदित को न लखायो?

[३]

करिय निवास करौं सेवा भल, चतुर्मास यहि ठामा ।
सुनत कह्यो प्रमुदित मुनि-गन सब, रहब अवध तव धामा ॥
करत राम सेवा निज कर सों, अतिथि तिन्हैं बहु बरजैं ।
"विप्र-वृन्द-पद-पंकज मन-अलि, बसै सदा यह अरजैं" ॥

[४]

विश्वामित्र वशिष्ठ राम सँग, करि विचार यह ठान्यो ।
होय अवध अब धर्म-सभा जहँ, निज मत प्रगट बखान्यो ॥
नारद गौतम कपिल कणादहु, औरहु बहु मुनि आये ।
फिरिहु अन्य संतन तपसिन कौं, सादर न्यवति बुलाये ॥

[५]

अल्प समय महँ मुनि-गन सहसन, वाहन उतरि बिलोकैं ।
बन्यो अवध सुरपुर तपसी जनु, निज तप-फल अवलोकैं ॥
पर्णशाल-वन-गुफा-कंदरा, सून भये इत आये ।
पंचभूत तनु छोड़ि जीव जनु, सुरपुर मुदित सिधाये ॥

धर्म-सभा

[६]

धर्म-सभा मंडप बहु भारी, मध्य सुमंच बिराजै ।
नारि-समाज एक दिसि सोहत, शेष भाग नर राजै ॥

शांत भाव सों सुनत सबै जन, वक्ता वदत विचारी ।
मनो बृहस्पति सीख देत सब, सुनत अमर सुखकारी ॥

[७]

मुनिगन विनय कीन्ह गौतम सों, वक्ता-मंच विराजिय ।
उठे नाय शिर सबही के तब, हर्ष घोष ध्वनि गाजिय ॥
सज्जन साधु भूप सब बैठे, अनुपम सभा सुहायो ।
मनो गृहस्थ विरक्त एक ह्वै, साधन-पथ मन लायो ।

न्यायवाद

रोला छंद

[८]

'वाद' 'जल्प' 'छल' 'जाति', 'वितंडा' 'अवयव' 'संशाहि' ।
'हेत्वाभास' कहाय, 'तर्क' 'दृष्टांत' प्रशंसहि ॥
जहँ 'प्रमाण' 'सिद्धान्त', 'प्रमेय' 'प्रयोजन' मानत ।
'निर्णय' 'निग्रह-ठाम', न्याय के सूत्र बखानत ॥

[९]

जहँ विवाद कहुँ होत, बीच वादी प्रतिवादी ।
तहँ 'प्रमाण' सों काम, लेत सबही फिरियादी ॥
निश्चय करि त्यहि प्रथम, भेद मतभेदहु धरते ।
कहत 'प्रमेय' बखानि, वाद जाही पर करते ॥

[१०]

होत बीच मध्यस्थ, सुनत दोनौं की बातैं ।
करत सोइ 'संदेह', काह विषयनि सँग नातै ॥
चित विचारि पुनि करत, 'प्रयोजन' का है यासों ।
देत नीक 'दृष्टांत', प्रश्न समुझत भल तासों ॥

[११]

बात प्रमाणिक जौन, तौन 'सिद्धान्त' कहावत ।
वादी कीन्हो सिद्ध, सोइ प्रतिवाद दुरावत ॥
'अवयव' नाम धराय, तिन्हैं खंडन करि काटत ।
देखि युक्ति कौ दोष, अन्य 'तर्कन' लै पाटत ॥

[१२]

तर्क साथ निज पक्ष, होत थिर सो 'निर्णय' कह ।
प्रतिवादी करु विनय, सुनिय मध्यस्थ बात यह ॥
विना 'वाद' के कबौं, तत्व निर्णय नहिं होवै ।
बुधजन करैं विचार, जनित 'संशय' को खोवै ॥

[१३]

प्रतिवादी जब चहत हारि, वादी कस जावै ।
करत जल्प शास्त्रार्थ, अपनि चतुराइ दिखावै ॥

जहाँ मिलै नहिं युक्ति, 'वितंडा' सोइ कहावै।
बरनत 'हेत्वाभास', झूँठ सब युक्ति बतावै॥

[१४]

अंडबंड जब बकत वदत, 'छल' ताको बुध सब।
कह अशुद्ध सो 'जाति', पराजय देइ सभा तब॥
रोंकत जब मध्यस्थ, न बोलन आगे देवै।
सो 'निग्रह' है नाम, न्याय सूत्रन कौं सेवै॥

[१५]

आत्मा भोगत आपु, विविध दुख सुख जग नाना।
भोक्ता द्रष्टा अहै, कहत बुध करि अनुमाना॥
नीक मीठ लखि खात, कसक मुँह पानी भरतो।
रसना सकत न देखि, नयन रस गुन नहिं धरतो॥

[१६]

ज्ञाता दूसर एक, कहो आत्मा या औरै।
दुःख ज्ञान सुख चिन्ह, अहैं गुण ताके ठौरै॥
हैं अनेक नहिं एक, न्याय-सिद्धांत बतावत।
रुचत एक को मीठ, खटो दूसर मन भावत॥

वैशेषिकवाद

[१७]

कह कणाद सामान्य, द्रव्य गुण कर्म विशेषा।
जहँ पदार्थ समवाय, स्वधर्म विधर्म निवेसा॥
तत्व ज्ञान ये देत, हेतु जो मोक्ष कहावैं।
वेद बखान्यो जाहि, धर्म को रूप सुहावैं॥

[१८]

पृथ्वी जल आकाश, वायु आत्मा मन सोहैं।
तेज काल अरु दिशा, द्रव्य नव पंडित जोहैं॥
उत्क्षेपण अवक्षेपण, आकुंचनौ प्रसारन।
गमन पंच ये कर्म करत, सब काम सँवारन॥

[१९]

गंध रूप रस स्पर्श, दुःख संयोग विभागा।
सुख परत्व अपरत्व, बुद्धि संख्या सन पागा॥
इच्छा द्वेष प्रयत्न, पृथक परिमाणहु भावै।
गुरु द्रव धर्म अधर्म, स्नेह संस्कार कहावै॥

[२०]

जोरि शब्द को साथ, कहत चौबिस गुण बुध जन।
कारण कारज करत, नाश नहिं द्रव्य एक छन॥

कर्म नाश ह्वै जात, सदा निज कारण ही सों।
गुणहु होत हैं नष्ट, कार्य अरु कारण ही सों॥

[२१]

होत न कारण जासु, नित्य सत तौन सुहावै।
करि विभक्त नहिं सकै, ईश परमाणु कहावै॥
तत्व-ज्ञान सों मुक्ति, होत अस मुनि जन भाखत।
जीव मोक्ष में ईश, अपन सम्बन्ध न राखत॥

योगवाद

[२२]

जग को सुख ? दुख सहित, जीव नहिं आनँद पावै।
तम प्रमाद उपजाव, क्षिप्त चंचल रज छावै॥
सत निश्चल विक्षिप्त गहत, पर क्षनिक ताहि भख।
होइ वृत्ति एकाग्र, विरति जन मन महँ मुनि लख॥

[२३]

निरुध वृत्ति के उदय, योग की प्राप्तिहु होवै।
ध्याता ध्यान सुधेय, त्रिपुटि मैं इष्टहि जोवै॥
होइ त्रिपुटि परिपाक, समाधी लागत है जब।
रहै वासना नाहिं, मोक्ष पावत जीवहु तब॥

सांख्यवाद

[२४]

सुख न नेकु संसार, त्रिविधि-दुख पावत जग जन।
प्रकृति पुरुष को ज्ञान, कष्ट नासत मन ततछन॥
कर्ता भोक्ता नाहिं, ज्ञानमय साक्षी जानो।
जीव प्रकृति अरु पुरुष, नित्य तीनों तुम मानो॥

पूर्व-कर्म मीमांसावाद

[२५]

कर्म-कांड मुनि कुशल, कहत सुनु मुनि मम विनती।
अग्निहोत्र शुचि यज्ञ, स्वर्ग सुख दिय अनगिनती॥
श्राद्ध दान जो करत, हरत सब दुख जग अपनो।
कर्म विचार अचार, कष्ट राखत नहिं सपनो॥

वेदांतवाद

[२६]

ज्ञानी ब्रह्म वशिष्ट, विदित वेदांतहि बरनत।
जीव ब्रह्म नहिं भेद, एक आत्मा जग दरसत॥

भ्रम विभेद की मूल, अविद्या-रज्जु सर्प लख।
नहिं मरीचिका वारि, तवौं मृग जल इच्छा रख॥

भक्तिवाद

[२७]

जलनिधि-जल सब चहत, जौन जन निज कर छानन।
उड़ि अकास को अंत, मसक इच्छा करु जानन॥
धनद राशि-धन हेतु, दरिद्र मन मैं नित कूढ़ैं।
मति-बल करि तस तर्क, जगतपति कौं बहु ढूँढ़ैं॥

[२८]

वचन नीति परवीन, न्याय के जानन हारे।
उलटि पलटि तिन धरत, बुद्धि-बल-बाँस सहारे॥
बुद्धि वचन के परे, ईश को कैसे जानैं?
सूक्ष्म तरनि-मैं बैठि, पार जलनिधि मन ठानैं॥

[२९]

मति न सकत रहि सजग, जबै तनु को ज्वर जारै।
त्रिविधि-ताप सों तपित, तौन हरि हिय कस धारै?
ढूँढ़े कदली-सार, कबौं कोऊ कहुँ पायो?
तबौं ताहि में कसक, उपजि फल फूल सुहायो?

[३०]

गुप्त अधिक, कम प्रगट, जगत रचना रचि राख्यो।
त्यहि स्रष्टा को तर्क, करत देखन अभिलाख्यो॥
सकल वस्तु जग माहिं, तौन नहिं जानि सकत जब।
अति अचिन्त्य भगवान, दिखै कहु कस तिनकौं तब?

[३१]

भवन-कला-निर्माण, निपुण पंडित जो कोई।
जानत अवयव वस्तु, जौन सो धाम बनोई॥
तबौं न पावत जान, पौरि पर तहँ बिन पूँछे।
रजु घट नहिं जब साथ, हाथ रह कूपहु छूँछे॥

[३२]

मूल-तत्व जो जानि सकै, रचना तनु की करु।
यहौ सकै करि नीक, अमर होवन मन मैं धरु॥
अमरहु जो जन होय, वासना भूरि बढ़ावै।
जगत साथ नहिं नसत, सतत सो चित्त दृढ़ावै॥

[३३]

ज्ञान मुक्ति का हेतु, कहत कोऊ जो मुनि जग।
सत्य बात यह जँचत, किन्तु है कठिन प्रकृति सँग॥

पुरुष प्रकृति औ जीव, भाव तीनौं कौ रखि मन।
शुद्ध ज्ञान यक पुरुष, रखै कैसे एकहु छन?

[३४]

रखै बाँधि वन-जीव, छूटि भागन चाहत नित।
अमित काल सों भ्रमत, सुचित होवै कस अब चित?
शिखर-मेरु-गिरि चढ़न, बिना सीढ़ी जो चाहै।
बीचहि सों गिरि जाइ, चोट तन जाइ बिसाहै॥

[३५]

भोग वासना साथ, जीव कैसे सुख पावै?
स्वर्ग लहै पुनि जन्म, धारि चौरासी धावै॥
जाय न ऐसी राह, घूमि आवै वहि ठाँवैं।
मुक्त होय कस, तहाँ भोग सब मिलि नित धावैं॥

[३६]

एक ब्रह्ममय जगत, वदत वेदांती पंडित।
द्वैत अविद्या हेतु, मानि सिद्धान्त अखंडित॥
ब्रह्म विलग त्यहि कहत, द्वैत का रूप दिखावै।
मानि लेइँ जो ब्रह्म, कसक फिरि भ्रम उपजावै?

[३७]

सुपथ भक्ति-पथ छाँड़ि, विपथ-मग सब दुखदायी।
भूसी-तत्त्वन थुरे, अन्न-हरि कहँ मिलि जाई॥
जग-सरिता बिच, मीन-बुद्धि-विद्या इतरावै।
ब्रह्म-अंतरिछ बीच उछरि, जल विषय समावै॥

[३८]

विद्या बुधि बल चह्यो, जबै जगपति को जानन।
तबै न परत लखाय, भूलि जड़ चेतन कारन॥
दीन-बानि सुनि तुरत, निबल की रच्छा हरि कर।
कैसे नहिं हम कहैं, नाथ दुखियन कौं दुख हर॥

[३९]

चढ़त एक गिरि आपु, दिखत नहिं कछुक सहारा।
गिरत गर्त भहराय, हिलत पग नहीं अधारा॥
दूसर पकर्‍यो रज्जु, खिंचत ऊपर सों आपै।
पहुँचत बिनु श्रम शिखर, बरनि सुख को सक कापै ?

[४०]

कठपूतरि नट नटत, न धरि चित सुख दुख भावा।
दरसक मोहत देखि, कष्ट आनंद प्रभावा॥

पाप पुन्य संकल्प, जीव आपुइ रचि लीन्हो।
तिन बिच मन निज फाँसि, शुद्ध प्रभु को नहिं चीन्हो ॥

[४१]

नीक बुरो मन मानि, वस्तु जो कछु जग चाह्यो।
मोह क्रोध अरु लोभ, काम मद लै हिय दाह्यो ॥
विषय-वासना-पास, पास रखि आपु फँसायो।
कीन्हो जैसो कर्म, भोग तैसो सो पायो ॥

[४२]

पंक धँसत सो फँसत, फँसै कस जो बाहर रह ?
फेंकि रज्जु त्यहि पास, खींचि भूरे करि सक वह ॥
तैसे प्रभु नहिं बँधे, बँधो माया सँग जीवा।
सुनत करैं निस्तार, दीन-बानी सुख सींवाँ ॥

[४३]

मकरी रचि निज जाल, फाँसि आपुइ को लेवै।
दूसर का करि सकै, दोष ताको कस देवै ?
जबहिं अधिक फँसि जात, आपु चाहत ना निकरन।
काह करें भगवान, चह्यो नहिं जीवहि जकरन ॥

[४४]

धर्म-शास्त्र इतिहास, आदि रचि करि मत नाना ।
चलत न फिरि त्यहि मार्ग, दुःख पावत जस माना ॥
आज्ञा प्रभु ना दीन्ह, चलौ मारग वहि जाई ।
न्याय-दंड का प्रश्न, कसक उपजै मुनिराई ?

[४५]

जो विधान प्रभु रचत, होत सर्वत्र एक सम ।
भिन्न धर्म रचि जीव, देश देशन कीन्हो भ्रम ॥
द्वार छोट जो रखै, चलै शिर नीचे करि तहँ ।
नहिं तो फूटत माथ, कष्ट पावत आपुइ जहँ ॥

[४६]

खेलत लागत चोट, बाल रोवत घर जावै ।
सुनत मातु अकुलाय, दौरि उपचार करावै ॥
धावत धेनु हुँकारि, वत्स बोली सुनि पावै ।
भव-दुख प्रभु तस हरत, भक्त जब कष्ट सुनावै ॥

[४७]

बालक खेलत खेल, हर्ष दुख मन उपजावै ।
प्रौढ़ न उनके साथ, भाव हिय तस नहिं लावै ॥

दुखी बाल चुचकारि, अंक लै त्यहि दुलरावत।
फिरि न कहौ कस नाथ, न दासन दुरित दुरावत॥

[४८]

विषय-बाढ़ बढ़ि जात, बढ़ै अज्ञानहु तस तब।
तिरजक पशु द्विज योनि, जाय उपजै जीवहु जब॥
मानुष-तनु चलि सुपथ, करै निर्मल मन हरि भजि।
सुमन-पाँखुरी उड़त, गगन दल गन केसर तजि॥

[४९]

कंटक-बेली-लता विषय, जन फँसत जबै जग।
निकरन करु जस जोर, पीर तस बढ़त बढ़ै पग॥
व्याकुल विकल बिहाल, पुकारत जन हरि को तब।
गज उबारि प्रभु लीन्ह, करैं रक्षा कस ना अब?

[५०]

खोय सबै अभिमान, ध्यान-हरि करत दीन बनि।
हरत दुरित दुख दरिद,अभय करु अघ ओघनि हनि॥
तबहुँ जाय नहिं पास, दयानिधि के करि प्रीती।
होय कौन उपचार, करत रोगी रुज-रीती॥

[५१]

करत कृपा यक बार, नाथ जाके ऊपर जब।
घटत न करुना कबौं, बढ़त यश बहु भूपर तब ॥
पवन-प्रवाह वसंत, सदा बढ़तै नित जावै।
मिलत नदी-जल उदधि, लौटि नहिं बहत दिखावै ॥

[५२]

स्वारथ-साधन चाह, राखि प्रभु दिसि जन देखै।
करुना कारन बिना, करत करुनालय लेखै ॥
जात आपु त्यहि पास, नाम प्रभु दीनदयाला।
चुम्बक चिपटत लपकि लोह, लखु जड़न हवाला ॥

[५३]

सघन घटा निशि कुहू, परत लखि निकट कछू नहिं।
प्रज्वलित दीप प्रकाश, तहां सुइहू दीखत महि ॥
करत ध्यान भगवान, मुदित मन प्रभु-पद परसी।
भक्त देइँ सामर्थ्य, होत त्रयकालहु-दरसी ॥

[५४]

यन्त्र विशेष बनाय, करैं बातैं जनु सन्मुख।
सहसन कोसन बसत, एक दूसर हित उन्मुंख ॥

(१) उद्यत होना, किसी काम में लगा हुआ।

जड़-तत्त्वन की शक्ति, अछत देखन मैं आवै।
फिरि कस प्रभु के साथ, भक्त बोलन सकुचावै॥

[५५]

रहत निरंतर साथ भक्त के, अनत न भावै।
अन्य देन उपदेश, तिन्हैं नित पास पठावै॥
भाव ज्ञान विज्ञान, सदा संतन हिय रेलत।
घन नभ में रहि जात, वारि को पुहुमी ठेलत॥

[५६]

पाय संत उपदेस, भज्यो जो नर प्रभु काहीं।
बनै संत सो आपु, देत शिक्षा जग माहीं॥
पालित-गज बन जाय, मतंगन जिन लै आवै।
अन्य करिन कौं लेन, तौन कानन फिरि जावै॥

[५७]

जगपति-चरनन-निरत, जौन जन निसि दिन रहतो।
जग-रहस्य सब लखत तहाँ, दुख दुरित न दहतो॥
नदी उदधि बन ग्राम, सबै चित्रन में सोहैं।
चित्रकार के धाम, तिन्हैं छन भर में जोहैं॥

[५८]

पहुँचत जितनी दूर, तहाँ के दृश्यहु देखत ।
वस्तु छिपी नहिं कछू, नाथ पद जब मन निरखत ।।
शैल शिखर जस चढ़त, लखत तहँ की तस शोभा ।
संत प्रेम प्रभु पूर, अनत नहिं मन कहुँ लोभा ।।

[५९]

भूपति हैं भगवान, राज त्रयलोकहु सोहैं ।
अधिकारी रखि भक्त, कार्य तहँ के सब जोहैं ।।
तीरथ तिनके ठाम, भजन-प्रभु को कर देवैं ।
देत न जो जन ताहि, कसक सुख शांतिहु सेवैं ?

[६०]

विषय भोग नहिं आस, राखि जग कारज करते ।
पालत प्रभु के नियम, चित्त पद-पंकज धरते ।।
जगत काम सब करत, लिप्त कहुँ नहिं वे होवैं ।
*अग्नि-रज्जु नहिं जरत, अनल सँग छनक न खोवैं ।।

---

* इंजिन के उस स्थान में, जहाँ अग्नि रहती है, वैज्ञानिक रूप से बनाई गई रस्सी का प्रयोग किया जाता है; किन्तु वह वहाँ ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, जलती नहीं ।

[६१]

करत पूर सब आस, भक्त जो कछु जग चाहै।
निरत नित्य उपकार, जीव-दुख-दुरितन दाहै॥
सुखी जगत को करत, कस न जगपति सुख मानै।
करत जौन घर काम, होत ताको बहु मानै॥

[६२]

भक्त करत सो करत, नाथ तिन पाछे लागे।
बदत संग विद्वान, अमित विद्या धरु आगे॥
लड़त समर मैं जाय, विजय जन देत हुलासै।
पालत सुत पितु-वचन, जनक कस नहिं सुख वासै॥

[६३]

पंच-तत्व तनु धारि, भक्त तत्त्वन के पारे।
चहत जबै तहँ जान, देत प्रभु आपु सहारे॥
बड़ी न है यह बात, स्वामि सेवक सँग सोहै।
पच्छी अंडन सेव, तिन्हैं उड़नो नित जोहै॥

[६४]

अनपढ़ वक्ता वेद वदत, प्रभु पाय सहारा।
पूरो भक्त गँवार, बाद विद्वान पछारा॥

तीनहु लोक दिखात, यद्पि बैठो यक ठाहीं।
शिखर शैल चढ़ि गयो, लखै चहुँदिसि कस नाहीं ?

[६५]

बसीकरन है मंत्र-भक्ति, भगवान मिलावैं।
जो चाहैं सो करैं, जगत को नाच नचावैं॥
छोट करैं अति बड़ो, बड़ो को छोट गनावैं।
करैं आगि को वारि, मसा को ब्रह्म बनावैं॥

[६६]

जगत जीव की कहा, जगतपति पाछे लागे।
जहाँ भक्ति भगवान रहैं, भक्तन अनुरागे॥
जो चाहे भव-सिन्धु, पार करनो छन माहीं।
करै भक्ति प्रभु केरि, अन्य मारग जग नाहीं॥

[६७]

कह्यों अपन सिद्धान्त, शान्ति सुख यहि मग पायों।
जानत नहिं कछु और, घोर जग कछु नहिं भायो॥
जन्म मरन सों मुक्त, होन चाहत है जो नर।
करै भक्ति भगवान, दिखै नहिं भूलिहु यम-घर॥

[६८]

करि समाप्त तब सभा, संत सरयू तट सोहैं।
नित नव उत्सव होत, अमरपुर तजि सुर जोहैं॥
शची शारदा उमा, सखी बनि सीता सेवैं।
परमानंद अपार पाय, मन अनत न देवैं॥

[६९]

यह रघुबर को सुयश, विजय जन देवन हारो।
बनै लोक परलोक, यही है एक सहारो॥
पढ़ै सुनै मन गुनै, ध्यान मैं प्रभु को राखैं।
सहज राम को पाय, नसत तब सब अभिलाखैं॥



स्तुति

शिखरिणी छंद

[७०]

विनै बानी नाहीं, न प्रभु पद माहीं, रति अहै।
महा कामी नामी, पर-तियन-गामी, मन दहै॥
छली लोभी क्रोधी, सत-मग विरोधी, नित रहै।
सदा वित्तै नित्तै, रहति चित चिंतै, हिय दहै॥

[७१]

अहंकारी भारी, यदपि अधिकारी, नहिं अहौं।
तबौं झूँठै-मूँठै, बनि बड़ अनूठै, मद लहौं॥
सदा ईर्षा द्वेषै, मन रखि विशेषै, अरि बनौं।
कहौं झूँठी बातैं, रखत हिय घातैं, छल घनौं॥

[७२]

सदा स्वार्थी अर्थी, बनत परमार्थी, नहिं कबौं।
तबौं साधू संतै, कहत मन अंतै, कस अबौं ?
करौं जेते कामैं, चहत निज नामैं, यश बड़ो।
जहाँ जाओं गावों, अपन गुन भावों, अड़ि खड़ो ॥

[७३]

महा नीचौ कीचौ, सघन अघ बीचौ, मति रहै।
तबौं ज्ञानी ध्यानी, बहु बनि अमानी, यश लहै ॥
सदा आसा पासा, विषय मन फाँसा, दुख घनो।
छनैं छानो छोनी, छन छुइ छपाकर, छल छनो ॥

[७४]

त्रयी-तापैं तापैं, तन मन विथा, पै सुख चहौं।
करौं पापै आपैं, तदपि विधि थापैं, अस कहौं ॥
जँचौं का पै कांपै, हृदय-प्रभु आपै, दुख हरो।
कृपाधारा धारा, मम मन-अगारा, बहि भरो ॥

[७५]

उठैं बीची ऊँची, सब मिलि समूँची, सँग बहैं।
महा बीरौ धीरौ, सहि न सक पीरौ, दुख दहैं ॥

बड़ो मानौ ज्ञानौ, नसत छन जानौं, मन भ्रमा।
तबै दीनानाथा, पग धरत माथा, जँचि छमा ॥

[७६]

ऋषी ज्ञानी ध्यानी, सब विधि अमानी, नित रहैं।
छनै माहीं जाहीं, विषय-तरु छाहीं, सुख चहैं ॥
करैं फेरे नेरे, सघन घन घेरे, अघ भरे।
सुरौ सूरौं सोऊ, वचत नहिं कोऊ, छलि छरे ॥

[७७]

कथा बाँचैं साँचै, विषय हिय आँचै, बहु लगी।
सुखै काया माया, विविध विधि जाया, मन जगी ॥
न योगी वैरागी, तपत तन आगी, क्वउ बचे।
हिमौ सीझैं छीझैं, तहुँ न हरि रीझैं, चित कचे ॥

[७८]

कहौं कैसे ऐसे, अघन-वन जैसे, फँसि पऱ्यों।
सदा रोगी भोगी, बनि जन वियोगी, नित जऱ्यों ॥
कबौं सीतानाथा, चरन नमि माथा, नहिं धऱ्यों।
बचाओ आवो, हे प्रभु दुख दुराओ, पग पऱ्यों ॥

[७६]

करौं कैसे आसा, विषय मन वासा, रह नितै।
सदा लोभै छोभै, मन मति प्रलोभै, लखु जितै॥
जबै चाहों गावों, प्रभु यश सुनाओं, जन-हितै।
तबै घेरैं छेरैं, अघ-दल सबेरैं, हिय तितै॥

[८०]

व्यथा रारी भारी, कहि सकत सारी, नहिं बनै।
तबौं रामैं नामैं, नहिं जपत धामैं, अघ हनै॥
सदा दामैं बामै, भ्रमत मन तामैं, हिय जरै।
महा वारैपारै, भव-जलधि पारै, कस करै?

[८१]

महामाया भारी, भवनिधि पसारी, जग अहै।
तुम्ही दीनानाथा, करु जन सनाथा, दुख दहै॥
दुखी दीना छीना, मम मति मलीना, तम यथा।
लगाओ ना देरी, हरहु प्रभु मेरी, सब व्यथा॥

रोला छंद

[८२]

क्रूर कुटिल नित कलह, करत सब आयु गवायों ।
हिये क्रोध बहु रहत, बोध नहिं तनिक जनायों ॥
कामी लोलुप अधम, तकत पर-तियन भुलानो ।
भोग रोग तन दीन्ह, तबौं नहिं कबौं लजानो ॥

[८३]

मोह मढ्यो मन मूढ़, गूढ़ बासना बढ़ावै ।
चंचल चित रहि बिकल, सकल सुख धाम न ध्यावै ॥
लोभ निरत दिनराति, बात दूसरि नहिं करतो ।
चलित-चंचला अचल करन हित, नित हिय जरतो ॥

[८४]

अभिमानी गुन हीन, मीन मन मद जल वासी ।
विद्या बुधि बुध निपुन, विनय वर वानि बिलासी ॥
तिनसों ईर्षा करत, कहत कटु बचन कुसीला ।
बड़ो बनन की चाह, अधम मूरख मति कीला ॥

[८५]

प्रबल दंभ पाखंड, हरित तृन ऊपर राजत।
भीतर अहि पति द्वेप, गहिर हिय कूप विराजत ॥
सरल अबुध जो जीव, गिरत करि समतल भ्रम तहँ।
द्रवत न दुख तिन देखि, नीच अति दया न मन महँ ॥

[८६]

विपति विदारनि बानि, जयति जय दीन दयाला।
देत लोक परलोक, विजय जन प्रभु ततकाला ॥
जय जय जन जित तकत, छकत तित सब सुख देवो।
जय जय करुना-धाम, वाम-मम-मन गहि लेवो ॥

[८७]

जज जय अशरन शरन, दुखिन दुख दुरित बिदारौ।
जय कृपालु अघ जाल, परो जन ताहि निवारो ॥
जय जय जानकि-नाथ, माथ मुनि सुर नर नावैं।
जय स्वतंत्र भगवान, अजित सर्वज्ञ कहावैं ॥

[८८]

जय रघुवर वर विमल, जनकपुर जन सुखकारी।
सगुन सरूप अनूप राम, जय जय बलिहारी ॥

चरन-कंज-मधु-भक्ति, भक्त-अलि गुंजत धावैं।
नसत ताप-त्रय-क्षुधा, लहत रस-शांति अघावैं॥

[८९]

जय जगपति पति रखत, जगत-जन जय सुखकारी।
जय जय जय पद-कमल, अमल मधु अलि-मन धारी॥
जय सियपति दुख बिपति हरति, जय भव-भय हारी।
भक्ति मधुर मकरंद देत, जय भक्त बिहारी॥

[९०]

काम कोटि छबि वदन, मनोहर जय मन हारी।
लखत नसत अघ-रासि, जयति जय आनँद कारी॥
जय जय धनु कर सोह, मोह-दल भव-भय नासौ।
जय जय जय रघुनाथ, भक्त-हिय निरमल भासौ॥

[९१]

धन्य नाथ धनि नाम, रूप धनि चरित अगम तव।
धन्य भक्त कवि-वृंद, धन्य कविता हरु दुख-भव॥
श्रोता वक्ता धन्य, देस धनि धरनी-तल धनि।
धन्य धाम शुचि जहां, कथा गिरि निकर भक्ति-मनि॥

[९२]

धन्य कृपा धनि प्रीति, धन्य प्रभु दुरित विदारन।
धनि उदारता धन्य, करत करुना बिन कारन॥
धन्य घरी धनि दिवस, मास संवत दुख टारन।
दीन्ह मोहि अपनाय, धन्य प्रभु अधम-उधारन॥

दोहा

[९३]

संवत बनइस सौ असी, नव दीन्हों पुनि जोर।
"भरत-भक्ति" पूरन भई, राधे-अमावस-भोर॥



(१) बैसाख।

श्री रामायण भाष्य

किष्किंधा काण्ड

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

आज तक जितनी तुलसीकृत रामायण की टीकाएँ निकली हैं, उनको पढ़कर शंकाओं का समाधान पूर्णतया नहीं होता। अस्तु यही कमी इसमें पूरी कीगई है। हर एक चौपाई तथा दोहा का अर्थ ऐसे विस्तार के साथ किया गया है कि फिर मन में शंका उठ ही नहीं सकती। क्योंकि जितनी शंका उठ सकती हैं; उन सब का समाधान इसमें कर दिया गया है। फिर यही नहीं कि चौपाई और दोहों के शब्दों का सरल अर्थ किया गया हो, वरन् प्रसंग-वश राज-नीति, समाज-नीति, तथा धर्म-नीति का भी वर्णन किया गया है। इसीसे अनुमान कर लीजिये कि मूल किष्किंधा काण्ड में १५ या २० पृष्ठ से अधिक नहीं है; परंतु उसका भाष्य ४४२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। पुस्तक-वसन्त, ग्रीष्म पावस तथा शरदादि नाम से चार खण्डों में प्रकाशित हुई है। चारो खण्डों को एक साथ खरीदने में मूल्य १)। अलग अलग का १।।=) और सजिल्द का मूल्य १।।)

श्रीरामायण-भाष्य पर सम्मतियां

श्रीरामायण के अनन्यप्रेमी तथा श्री रामजी के दुलारे भक्त श्री अवधवासी लाला सीतारामजी (भूप कवि) बी० ए०, रिटायर्ड डिपुटी कलक्टर लिखते हैं:—

भगवद्भक्त शिरोमणि श्री शुक्ल जी को प्रणाम ,
"वसन्त खण्ड के लिये अनेक धन्यवाद ।"

भक्ति सुरस चन्दन खचित, टीका तिलक अनूप ।
निरखि कहत आनँद मगन, अवध निवासी "भूप" ॥
भक्ति-देवि मुख-कमल को, यहै तिलक शृङ्गार ।
लखि उपजै प्रभु-चरन रति, मोहि लेइ संसार ॥

———

सनातनधर्मधुरीण पूज्यपाद श्रीमान् डाक्टर गङ्गानाथ झा, वाइस चैंसलर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, लिखते हैं:—

My dear Shukul ji,

Many thanks for your Commentary on the Ramayana, which has been very carefully done. I hope that you will be enabled to complete the work that you have begun in such right earnest.

मेरे प्यारे शुक्ल जी,

श्रीरामायण-भाष्य के लिये अनेक धन्यवाद, जिसको आपने बड़ी ही सावधानता पूर्वक लिखा है। मुझे आशा है कि आप इस ग्रन्थ के पूर्ण करने में समर्थ होंगे, जिसको आपने ऐसे उत्साह के साथ आरम्भ किया है।

प्रसिद्ध समालोचक श्रीमान पं० कृष्णविहारी जी मिश्र, बी. ए., एल. एल. बी. लिखते हैं:—

प्रिय शुक्ल जी,

आपकी किष्किन्धाकाण्ड (रामायण) की टीका मिली। अनेक धन्यवाद। अभी सब नहीं पढ़ पाया हूँ। यत्र तत्र पढ़ा है। टीका सुन्दर है। आपने अच्छा परिश्रम किया है।

श्री रामायण-मंडल, अजमेर से।

पं० वैजनाथ मिश्र "द्विजनाथ" लिखते हैं:—

आपकी भेजी हुई स्वतन्त्र रचनायें तथा चार पुस्तकें भाष्य-किष्किंधाकाण्ड की करतल गत हुईं। उनके पढ़ने से हृदय को बहुत बड़ी शान्ति प्राप्त हुई। अब तक बड़े २ विद्वानों के भाष्य, तुलसी-कृत रामायण के देखे गये; परन्तु आपकी ऐसी अनूठी रचनामृत का बखान करना मेरी

लेखनी के बाहर है। आप का परिश्रम सफलता को प्राप्त हुआ और आशा है कि इसी प्रकार आप आगे भी सफलता प्राप्त करेंगे। प्रार्थना है कि दो सेट यानी आठ पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेजने की कृपा कीजियेगा; क्योंकि मंडल ने विद्यार्थियों को पुरस्कार रूप में भेंट देने का निश्चय किया है।

श्रीयुत रुक्मिणी नन्दनजी त्रिवेदी एकाउन्टेन्ट लिखते हैं:-

मायनीय शुक्लजी,

आप की कृति श्री रामायण-भाष्य किष्किन्धा काण्ड को ट्रेन ही पर पढ़ना आरम्भ किया। जितना पढ़ा बड़ा आनन्द मिला। आपने तो गोसाईंजी के गुप्त भावों की मंजूषा ही खोल दी है। परमात्मा से प्रार्थना है कि ऐसे ही ग्रन्थ आप द्वारा और भी निकलें।

—:o:—

श्री रामावतार

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

इस पुस्तक में सृष्टि-कारण, ईश्वर साकार है अथवा निराकार, क्या ईश्वर अवतार धारण करता है, रामायण के पात्रों का वर्णन, नये नास्तिक, विद्वानों का अन्वेषण, मतों के निर्माता और ब्रह्म-वाद आदि विषय हैं। डा०

गङ्गानाथ झा आदि बड़े २ विद्वानों ने प्रशंसा की है। समाचार पत्रों ने तो इसकी प्रशंसा में अपने कालम के कालम भर दिये हैं। उनमें से विशेष कर के अंग्रेज़ी का 'माडर्न-रिव्यू' तथा हिन्दी के 'नारद' 'मिथिलामिहिर' और 'वेङ्कटेश्वर' उल्लेखनीय हैं। इसको यू० पी० की गवर्नमेन्ट ने पुरस्कार तथा लायब्रेरी के लिये मंजूर किया है। मूल्य ।)

—:o:—

प्रभु-चरित्र

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

इस पुस्तक में श्री रामचन्द्रजी का चरित्र वर्णित है। बस, इतने कहने से आप अनुमान न कर लें कि रामायण की पूँजी की चोरी होगी ! वरन्, भाषा, भाव, नीति, शिक्षा, धर्म-विवेचना का वर्णन स्वतन्त्रता के साथ किया गया है। दशरथ, मन्दोदरी तथा विभीषण के विलाप के पढ़ने में 'करुणा' सन्मुख खड़ी देख पड़ती है। 'राम-कलेवा' तथा 'प्रभु का परिहास' पढ़ने से मन 'हास्य-रस' में डूब जाता है। 'मन्द-मन्थरा' में कपट का पूर्ण दृश्य देख पड़ता है। इसकी प्रशंसा करनेवालों में स्वर्गीय राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कवि कानपुर, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा सन्त-प्रवर श्री सीतारामदास, भगवानप्रसाद 'रूपकला' आदि हैं। यू० पी० गवर्नमेन्ट ने इसे पुरस्कार तथा लायब्रेरी के लिये मंजूर किया है। मूल्य ॥।)

परिहास-प्रमोद

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

हँसी का फौव्वारा

दिल्लगी का पिटारा

शिक्षा और सुधार का भाण्डार

जब आप "परिहास प्रमोद" को हाथ में लेंगे तब आप उसे छुड़ाने पर भी न छोड़ेंगे। इसे आप भानमती का पिटारा ही समझिये। कहीं इसमें सुधारकों का सुधार किया गया है, कहीं विलासिता-प्रेमी-रईस सईसों के झोपड़ों की ओर बढ़ रहे हैं। कहीं पर नवकली-नायिकाओं के नव-रस-मकरंद के लालायित मधुकर-पुरुषों का जिक्र किया गया है। कहीं पर नये फैशन की जंजीरों में बँधे अक्लमन्दों की अक्ल का परदा उठाया गया है। कहीं पर हिन्दी-साहित्य की छीछालेदर होते देख उसका पेट भर रोना रोया गया है। कहीं पर विधवाओं के बंधन की आजमाइश की गई है। कहीं पर परदा का परदा खोला गया है। और कहीं पर "गाली" भी सुनाई गई हैं। आप इसे खरीद कर अफसोस तो कर ही नहीं सकते। सबूत के लिये नीचे लिखे महानुभावों के पत्र पढ़कर शीघ्र आर्डर भेजिये। मूल्य ।=)

—:०:—

श्रीमान आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी लिखते हैं—

आपकी भेजी हुई "परिहास प्रमोद" नामक पुस्तक की कापी मिली। कृतज्ञ हुआ। धन्यवाद। आपने बड़ी कृपा की। पुस्तक की भाषा और विषय दोनों मुझे मनोरंजक मालूम हुए।"

—:o:—

श्रीमान् डाक्टर गङ्गानाथ झा वाइस चैन्सलर, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, लिखते हैं—

आपका "परिहास प्रमोद" मिला। पढ़कर चित्त प्रसन्न हुआ। आप अब काशी में हैं, तब तो कभी न कभी दर्शन भी होहींगे।

—:o:—

श्रीमान् अवधवासी लाला सीतारामजी बी० ए०, रिटायर्ड डिपुटी कलेक्टर लिखते हैं—

"परिहास प्रमोद" के लिये अनेक धन्यवाद। इसके अनेक कावय चुभते हुए हैं। बड़े हर्ष की बात है कि आपकी साहित्य-सेवा जारी है। खड़ी बोली की बेतुकी कविता के मुकाबिले में वैसवाड़ी की कविता मुझे तो अधिक रुचती है।"

—:o:—

हिन्दी के धुरन्धर लेखक तथा भूतपूर्व "वेङ्कटेश्वर" संपादक—श्रीमान् पं० लज्जाराम मेहता, बूँदी से लिखते हैं—

आपकी पुस्तक अच्छी हुई है, व्यङ्ग के रूप में सनातन धर्म की सेवा करने और देश के भारतीयत्व बचाने के लिये आपका उद्योग प्रशंसनीय है। वास्तव में इस प्रकार की चीजों का लोगों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। शब्दों के उच्चारण में आपने "अत्र भवान्" का अनुकरण किया है। आपकी सफलता पर मेरी ओर से बधाई स्वीकार कीजिये।

—:o:—

आनरेबुल राजा सर रामपाल सिंहजी के. सी. आई. ई. कुर्री सुदौली से लिखते हैं—

आप ने "परिहास प्रमोद" नाम की जो पुस्तक भेजी उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। मैंने कुछ थोड़ा सा उसे पढ़ा। आशा की जाती है कि लोग उसे पसंद करेंगे।

—:o:—

श्रीमान् राजा जगन्नाथ बक्श सिंहजी लिखते हैं—

"परिहास प्रमोद" पुस्तक मिली। अनेक धन्यवाद। आप का मातृभाषा का प्रेम सराहनीय है. मैं पुस्तक को सप्रेम पढूँगा। आशा है आप सानन्द प्रसन्न होंगे।

—:o:—

श्रीयुत पं० मथुराप्रसाद दुबे, मोहनलालगञ्ज से लिखते हैं—

माननीय पण्डितजी को भलीभाँति प्रणाम। "परिहास-प्रमोद" पुस्तक मिली। बहुत खुशी हुई। खूब पढ़ा। "स्वागत" तो ऐसा अच्छा लिखा गया है कि कई दफे पढ़ा जिससे वह कंठ हो गया। इसमें तो एक से एक उत्तम चीजें हैं।

—:o:—

आर्य सनातनी-संवाद

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

यह पुस्तक विवादग्रस्त विषयों पर लिखी गई है, जैसे मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, ईश्वरावतार, ईश्वर निराकार है अथवा साकार, नाम-जप, श्राद्ध, विधवा-विवाह। एक ओर आर्य शंका करता है और दूसरी ओर सनातनी समाधान करता है। यद्यपि इसमें सनातन-धर्म की पुष्टि की गई है, परन्तु आर्यजन भी इसमें उतना ही आनन्द पा सकते हैं, जितना सनातनी। इससे बुद्धि तर्क-कुशल तथा तीव्र होती है। साधु भाषा में वादानुवाद किया गया है। पृष्ठ ११२, मूल्य केवल ।-)

—:o:—

भिक्षां देहि

(लेखक—पं० शिवरत्न शुक्ल)

हिंदू जाति की दशा का वर्णन ५२ छन्दों में किया गया है। हिंदू-विश्व-विद्यालय के सम्बन्ध में पुस्तक लिखी गई है। मूल्य -)॥

सब पुस्तकों के मिलने का पता:—

राघवेन्द्रदत्त शुक्ल,

राजघाट, काशी

ई० आई० आर०।